TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186049
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H80.9 M67 H Accession No. G.H.182

Author मिश्र, भगवत स्वरूप

Title हिन्दी साहित्य-परिचय

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दी साहित्य-परिचय

लेखक

डा० भगवत्स्वरूप मिश्र,

एम. ए., पी. एच., डी.,

हिन्दी-संस्कृत विभाग

आगरा कॉलिज, आगरा।

प्रकाशक

हरप्रसाद भार्गव,

एज्यूकेशनल पब्लिशर

कचहरीघाट, आगरा।

मूल्य ३)

विषय-सूची

विषय-प्रवेश—

भाषा की विकासशीलता; हिन्दी की व्यापकता; महत्व काल-विभाजन।

पृष्ठ १–५

अपभ्रंश-साहित्य—

जैन-साहित्य; सिद्ध-साहित्य; नाथ पंथ; इनका हिन्दी पर प्रभाव।

पृष्ठ ६–१२

आदिकाल—

तत्कालीन स्थिति; प्रमुख प्रवृत्तियाँ; उपदेशात्मक काव्य; चरित-काव्य; वीर-काव्य; प्रबन्ध और गीत; शृंगार; भक्ति और मनोरंजन का साहित्य; खुमानरासो; बीसलदेव-रासो; आल्हा खंड; पृथ्वीराज रासो; विद्यापति; अमीर खुसरो।

पृष्ठ १३–२५

भक्तिकाल—

पूर्व-पीठिका; तत्कालीन अवस्था—धार्मिक; सामाजिक और राजनैतिक; विद्वत् और लोक साहित्य का समन्वय; लौकिक और आध्यात्मिक का समन्वय; नैराश्य में भक्ति का अवलंबन; प्रपत्ति और अनुग्रह; अन्तःसाधना के पाखंड का खण्डन; व्यापक आन्दोलन; भक्ति की अनेक शाखायें; विभाजन का आधार; रामानन्द का कार्य।

पृष्ठ २६–३४

ज्ञानाश्रयी भक्तिमार्ग—

अद्वैतवाद; नाथपंथ; वैष्णव और सूफियों का प्रभाव ; भक्ति और धर्म का सामान्य स्वरूप ; साहित्य का स्वरूप ; कबीर ; दादूदयाल ; गुरु नानक ।

पृष्ठ ३५–४६

प्रेममार्गी शाखा—

सिद्धान्त ; प्रेमतत्व; रहस्यवाद ; साहित्य; शैली और भाषा ; प्रेम कथाओं की परम्परा ; जायसी; कुतुबन; मझन ।

पृष्ठ ४७–५८

रामभक्ति शाखा—

परम्परा ; व्यापक आन्दोलन ; वैदिक संस्कृति का पुनरुत्थान मर्यादावाद ; समन्वय-बुद्धि ; वैधी-भक्ति ; साम्प्रदायिक स्वरूप ; गोस्वामी तुलसीदास ।

पृष्ठ ५९–७२

कृष्णभक्ति—

परम्परा; सामयिक परिस्थितियाँ; प्रेमलक्षणा भक्ति; पुष्टिमार्ग ; शृंगार; वात्सल्य और भक्तिरस ; माधुर्यभाव की भक्ति ; अष्टछाप ; 'शाखा के स्वरूप का विकास ; रीतिकाल पर प्रभाव ; भक्ति-सम्प्रदायों का विकास क्रम ; सूरदास, नन्दास, हितहरिवंश ; मीरा ; रसखान ; रहीम ; नरोत्तमदास ; गंग ; सेनापति ।

पृष्ठ ७३–९३

रीतिकाल—

भक्तिकाल से सम्बन्ध ; काव्य-क्षेत्र ; साहित्य की प्रेरणायें; शृंगार-भावना ; ऐहिकता ; अलंकार-शास्त्र, तथा संस्कृत के रीति साहित्य का प्रभाव ; रीति-निरूपण ; सम्प्रदाय ; रीतिमुक्त-काव्य-

धारा ; अन्य प्रवृत्तियाँ ; केशवदास ; चिंतामणि; जसवन्तसिंह ; बिहारी ; मतिराम ; भूषण, देव ; भिखारीदास ; पद्माकर, गिरधर ; लाल कवि ; धनानन्द ।

पृष्ठ ६४–१२२

आधुनिक काल—

पूर्व पीठिका ; प्रारम्भ ; नई चेतना ; पाश्चात्य प्रभाव ; संस्कृति की दो चेतनायें ; पाश्चात्य और भारतीय ; बौद्धिकता, व्यक्तिवाद काव्य के नये रूप ; ब्रज का गद्य ; राजस्थानी का गद्य ; खड़ीबोली का प्रारंभ ; खड़ीबोली का गद्य ; मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ लल्लूलाल ; सदल मिश्र ; हिन्दी का प्रचार ।

पृष्ट १२३–१४२

आधुनिक गद्य-साहित्य का विकास

प्रथम उत्थान—

भारतेन्दुजी का साहित्य क्षेत्र में प्रवेश; नई चेतना; राष्ट्रीय भावना; जनजीवन के साथ सम्पर्क; गद्य की नवीन विधायें, नाटक; उपन्यास; निबन्ध; पत्र-पत्रिका; भाषा का साहित्यिक रूप; भारतेन्दुजी; प्रतापनारायण मिश्र; बालकृष्ण भट्ट; बद्रीनारायण चौधरी; श्रीनिवासदास; राधाचरण गोस्वामी; जगमोहनसिंह ।

पृष्ठ १४३–१६३

द्वितीय उत्थान—

सामान्य परिचय; भाषा का निर्माण; जनजीवन और यथार्थता की ओर उन्मुख; मानवतावादी और प्रकृतवादी दृष्टकोण; ऐहिक जीवन का उल्लास; नाटक; कहानी; उपन्यास; निबन्ध; आलोचना; महाबीरप्रसाद द्विवेदी; माधवप्रसाद; बालमुकुन्द गुप्त; चन्द्रधरशर्मा गुलेरी; अध्यापक पूर्णसिंह ।

पृष्ठ १६४–१९१

तृतीय उत्थान—

भौतिकवादी दृष्टिकोण; व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा; पश्चिम के वादों का अनुकरण; व्यक्तिवाद; मार्क्सवाद; आध्यात्मिक लोकचेतनावाद; युग के तीन दशक; भाषा का निर्माण; उपन्यास; कहानी; नाटक, निबन्ध, समालोचना; आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, प्रेमचन्द, जैनेन्द्रकुमार।

पृष्ठ १६२–२३५

आधुनिक हिन्दी-कविता का विकास

ब्रजभाषा-काव्य, पुरानी धारा—

गद्य और पद्य की परम्पराओं में भिन्नता; पद्य-साहित्य की परम्परा; रीतिकालीन साहित्य का पिष्टपेषण मात्र; शृङ्गार; नायिका-भेद; भक्ति; वर्णन की प्रधानता; नीति।

पृष्ठ २३६–२४२

नई धारा—

परिस्थितियों का प्रभाव; नवीन मार्मिकता; काव्य-शैली और भाषा में नवीनता; रत्नाकर; रायदेवीप्रसाद पूर्ण; वियोगी हरि।

पृष्ठ २४२–२५३

खड़ी बोली का काव्य

प्रथम उत्थान—

नवीन विषयों की ओर उन्मुख; भाषा का आन्दोलन; खड़ी बोली के पद्य-साहित्य की परम्परा; तुर्रा कलगी का साहित्य; छन्द निर्वाचन।

पृष्ठ २५४–२५८

द्वितीय उत्थान—

नवीन चेतना; अतीत का पुनरुत्थान; स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्ति; रीतिकालीन मनोवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया; लोक-साहित्य का स्वागत; बौद्धिक स्वरूप संगठन; द्विवेदीजी की विचार-धारा

नैतिकता और सुरुचि ; अर्थ-सौरस्य ; वर्ण्य विषय; मानव, प्रकृति, राष्ट्र-प्रेम, अनेक काव्य-रूप; इतिवृत्तात्मकता; भाव-सौष्ठव और कलात्मकता; नवीन छन्द, भाषा, हरिऔधजी, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी ।

पृष्ठ २५८–२८४

तृतीय उत्थान—

प्रथम विश्वयुद्ध और असहयोग आन्दोलन का प्रभाव; नैराश्य पलायन, नियतिवाद; प्रतिक्रिया का स्वरूप नूतन सांस्कृतिक चेतना; दो विरोधी विचार-धारायें; आध्यात्मिकता और भौतिकता, फ्रायड और मार्क्स का प्रभाव, काव्य-धाराओं का वर्गीकरण ।

पृष्ठ २८५–२९१

छायावाद—

इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया; अनेक व्याख्यायें; आध्यात्मिकता; कुंठा का परिणाम ; अन्तर्मुखी भावजगत; नवीन काव्य-दर्शन; व्यक्तिवाद; प्रकृति; भाषा और शैली ।

पृष्ठ २९१–३०२

व्यक्तिवादी कविता—

व्यक्तिवाद की उद्घोषणा; अर्थ और काम की समस्या; विद्रोह की भावना; उपभोगवाद ।

पृष्ठ ३०२–३०७

प्रगतिवाद—

छायावाद की प्रतिक्रिया; मार्क्स-दर्शन; ऐतिहासिक भौतिकवाद; समाजवादी यथार्थ; हिन्दी का प्रगतिशील साहित्य ।

पृष्ठ ३०७–३१६

प्रयोगवाद—

व्यापक वस्तून्मुखी प्रतिक्रिया; सब क्षेत्रों में नये प्रयोग; राष्ट्रीय और सांस्कृतिक कविता ।

पृष्ठ ३१६–३२२

प्रमुख कवि—

प्रसाद ; पन्त ; निराला ; महादेवी ; सियारामशरन गुप्त ; गुरूभक्तसिंह ; श्यामनारायण ; पाण्डेय ; बच्चन ; रामधारीसिंह 'दिनकर' ।

पृष्ठ ३२३–३३८

विषय-प्रवेश

भाषा की विकास शीलता—

भाषा स्वभावतः विकास शील है; उसका स्रोत नदी की तरह अजस्र और अविरल बहता है। नदी के प्रवाह का प्रत्येक स्थल अपने पिछले प्रवाह को लेकर आगे बढ़ता है, उसी प्रकार भाषा के विकास की प्रत्येक अवस्था अपने पिछले स्वरूपों के संस्कारों के साथ आगे बढ़ती है। उसके पिछले संस्कारों में ही भावी विकास के बीज अन्तर्हित रहते हैं। यही भाषा की अविच्छिनता और विकासशीलता है। भाषा के विकास में उसके अपने विकासशील स्वभाव के अतिरिक्त अनेक बाह्य एवं आभ्यन्तर और भी बहुत से कारण होते हैं जो उसके विकास को गति और दिशा प्रदान करते हैं। उनमें से प्रमुख हैं साहित्य; संस्कृति और समाज। इनकी परिवर्तनशील चेतना भाषा को विकासशील बनाये रखती है। भाषा का जब एक स्वरूप विकास करते करते व्याकरण और साहित्य की रूढ़ियों में बंधकर स्थिर हो जाता है, जडवत् हो जाता है तथा केवल विद्वत् वर्ग की वस्तु बन जाता है उस समय उसी भाषा का लोक-प्रचलित स्वरूप अपनी स्वतंत्र दिशाओं में विकसित होने लगता है और एक दिन नवीन स्वरूप धारण करके नूतन साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही भाषा के विकास का रहस्य है।

पाली अथवा पहली प्राकृत के रूढ़िवद्ध होने के बाद प्रगतिशील लोक-भाषा ने अपना जो स्वरूप स्थिर कर लिया था तथा जो आगे जाकर साहित्य की भाषा बन गई थी, उसीको दूसरी प्राकृत अथवा साहित्यिक प्राकृत के नाम से पुकारा जाता है। इसी साहित्यिक प्राकृत के देश भेद से चार स्वरूप हैं, महाराष्ट्री शौरसेनी

अर्द्धमागधी और मागधी। इन प्राकृतों के बाद के विकास की अवस्था का नाम अपभ्रंश है। प्रत्येक प्राकृत से एक एक अपभ्रंश का विकास होना चाहिए था। अपभ्रंश भाषा के तीन प्रमुख रूप माने गये हैं, नागर, ब्राचड़ और उपनागर। इनमें से नागर अपभ्रंश से ही राजस्थानी और गुजराती का विकास हुआ है। उसी समय डिंगल और पिंगल नाम से दो साहित्यिक भाषायें मान्य हो गई। डिंगल राजस्थानी की साहित्यिक भाषा का नाम है तथा पिंगल व्रज देश की। राजस्थानी के प्राचीन रूप को ही कभी कभी गुजरात के विद्वान् जूनी 'गुजराती' कहते हैं। विद्यापति की भाषा बंगला के प्राचीन रुप के अधिक संन्निकट है अथवा हिन्दी के प्राचीन रुप के यह प्रश्न बहुत दिनों तक विवादास्पद रहा है। आज भी इस सम्बन्ध में विद्वानों का एक मत नहीं है। विद्यापति ने स्वयं अपनी भाषा को अपभ्रंश कहा है। इस सबका तात्पर्य केवल यही है कि आधुनिक भाषायें अपभ्रंश के विभिन्न स्वरूपों से विकसित हुई हैं।

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि अपभ्रंश से हिन्दी का विकास कब हुआ। शुक्लजी अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था से ही हिन्दी का आविर्भाव मानते हैं। प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों के प्राचीनतम उदाहरण योगमार्गी बौद्धों की रचना में उपलब्ध हैं। शुक्लजी के मतानुसार सं० १०५० के लगभग पुरानी हिन्दी का साहित्यक रूप प्रतिष्ठित हो चुका था। 'शिवसिंह' सरोज में आठवीं शताब्दी के पुष्य नामक किसी कवि के द्वारा अलंकारग्रन्थ के प्रणयन का उल्लेख है। अब तक इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं उपलब्ध हुए हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसी पुष्य में पुष्पदंत का अनुमान करते हैं जिसका समय दशवीं शताब्दी हो माना गया है। इस प्रकार हिन्दी का प्रारम्भ ईसा की दशवीं शताब्दी मानना ही समीचीन प्रतीत होता है।

हिन्दी की व्यापकता—

हिन्दी शब्द का प्रयोग बहुत ही व्यापक अर्थ में होता है। सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश, दिल्ली तथा राजस्थान एवं बिहार, पंजाब और मध्यप्रदेश के बहुत बड़े भागों की यह साहित्यिक भाषा है। इतने बड़े प्रदेश में अनेक बोलियाँ और विभाषायें प्रचलित हैं और इन सब में भाषाशास्त्रीय पारस्परिक अन्तर भी पर्याप्त है। आज खड़ी बोली का ही परिमार्जित स्वरूप इस विशाल प्रदेश की साहित्यिक भाषा है। इस सारे प्रदेश में समाचारपत्रों, व्याख्यानों, अन्य कार्यवाहियों एवं पारस्परिक विचार-विमर्श में इसी भाषा का प्रयोग किया जाता है। पर इस प्रदेश में जितनी बोलियाँ हैं, उन सबका विकास उसी प्राकृत अथवा अपभ्रंश से नहीं हुआ है, जिससे खड़ीबोली का हुआ है। इतना भेद होते हुए भी इस सारे प्रदेश की भाषा हिन्दी है। अत्यन्त प्राचीन काल से—प्राकृत एवं अपभ्रंश काल से ही—इस विशाल प्रदेश के जनसमुदाय की प्रवृत्ति एक केन्द्रीय भाषा को अपनाने की रही है। भाषा के बोलचाल में अनेक विभाषाओं का प्रयोग होता था पर साहित्य के लिए एक ही केन्द्रीय रूप को अपनाने की प्रवृत्ति भी थी। इसके फलस्वरूप इस केन्द्रीय भाषा के साहित्य में इस विशाल देश के जनसमुदाय की चेतना का चित्रण होता रहा है। हिन्दी में पिछले एक हजार वर्ष के जीवन का उत्थान पतन एवं तद्जनित मनोभावों का साहित्य तथा इस विशाल देश का जातीय इतिहास सुरक्षित हैं। भाषा की केन्द्रीय प्रवृत्ति के साथ ही हिन्दीसाहित्य हमेशा ही अपने युग के जातीय जीवन एवं संस्कृति का प्रतिनिधि चित्र उपस्थित करता रहा है। इस प्रकार हिन्दी का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है तथा इसके साहित्य का बड़ा भारी महत्व है। यह किसी क्षेत्रविशेष की भाषा मात्र नहीं है और इसका साहित्य केवल उसी क्षेत्र के निवासियों का साहित्य नहीं है। इसमें सम्पूर्ण उत्तरी भारत के जीवन के

विकासशील स्वरूप एवं भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली चेतना का सजीव चित्र है। स्वतंत्र भारत के राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक जीवन में तो इसका महत्व बढ़ता ही जारहा है और इसी में भारत का वास्तविक कल्याण है।

काल विभाजन—

साहित्य एक तरफ जन-समुदाय के चित्तबृत्ति का प्रतिबिंब होता है तथा दूसरी तरफ वह चित्तबृत्ति का निर्माण भी करता है। ज्यों ज्यों जनता की विचार धारा में परिवर्तन होता जाता है त्यों-त्यों साहित्य की प्रबृत्तियाँ भी विकसित एवं परिवर्तित होती रहती है। देश की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ जनता की चित्तबृत्ति का नियमन करती है। चित्तबृत्तियों की गतिशीलता की ये प्रमुख प्रेरक शक्तियाँ हैं। इन परिस्थितियों के कारण जो नूतन साहित्यिक धारणायें बन जाती है, वे भी साहित्य को गति और दिशा प्रदान करती है। साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए इस बदलती हुई चित्तिबृत्तियाँ एवं परिस्थितियों का अध्ययन एवं साहित्य के साथ इसका सामञ्जस्य करना अत्यन्त आवश्यक है। जब जीवन की परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन हो जाता है, चित्तबृतियाँ नवीन दिशा ग्रहण कर लेती है तथा उन्हीं के साथ साहित्य भी नवीन मार्गों को अपनाकर अग्रसर होने लगता है, उसी समय से साहित्य में नवीन युग का प्रारम्भ माना जाता है। किसी भी भाषा के साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन इसी आधार पर हो सकता है। यही काल-विभाजन का वैज्ञानिक आधार है। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य का इतिहास निम्नलिखित कालों में बाँटा जासकता है।

आदि काल अथवा वीरगाथा काल सं० १३५०—१३८५ तक
पूर्व मध्य काल अथवा भक्तिकाल सं० १३८५ १७०० तक
उत्तर मध्य काल अथवा रीतकाल सं० १७०० १९०० तक

आधुनिक काल सं० १९०० से अब तक ।

प्रत्येक काल का नामकरण उस काल की प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर ही होता है, पर इसका तात्पर्य यह कभी नहीं है कि उस काल में अन्य कोई प्रवत्ति ही नहीं रही-होगी। एक काल के प्रारम्भ होने के बाद भी बहुत दिनों तक पूर्ववर्ती काल की प्रवृत्तियाँ चलती रहती हैं क्योंकि साहित्य में कोई प्रवृत्ति न अकस्मात् जन्म लेती है और न अचानक समाप्त हो जाती है। इसलिए यह काल-विभाजन अध्ययन की सुविधा के हेतु ही है। काल-विभाजन करने के बाद भी साहित्य के इतिहासकार को साहित्य के विकास की अविच्छिन्न धारा को अपने ध्यान में रखना पड़ता है। उसे साहित्य के विकास की अविरल धारा का विवेचन करना है। इसके लिए उसे सामाजिक सांस्कृतिक एवं साहित्यिक चेतना-ओं का आकलन करना पड़ता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास का अध्ययन अभी तक काल-विभाजन के कठघरो में बाँधकर ही अधिक हुआ है। उसे सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम मात्र ही माना गया है। साहित्य को एक अविरल एवं अविच्छिन्न धारा के रुप में, संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के अजस्र स्रोत से सम्बन्ध करके देखने की प्रवृति कम रही है।

अपभ्रंश-साहित्य

विक्रम की सातवीं शताब्दी में भामह आदि के समय में अपभ्रंश के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। इसलिए इस समय से प्राकृताभास या अपभ्रंश के साहित्य के सृजन का प्रारम्भ मानना चाहिए उस समय की भाषा के उदाहरण स्वरूप कुछ सिद्धों की रचनायें उपलब्ध हैं। उसी समय से उत्तरी भारत में अपभ्रंश ही जन साधारण के लिए साहित्य और विचार-विनिमय की भाषा हो गई होगी। बौद्ध सिद्धों एवं जैन साधुओं ने अपने धार्मिक विश्वासों का प्रचार इसी भाषा के माध्यम से किया था। इस समय से विक्रम की नवीं शताब्दी तक अर्थात् हिन्दी के प्रारम्भ के पूर्व तक इस प्रदेश की भाषा अपभ्रंश ही रही है। हिन्दी-साहित्य को समझने के लिए पूर्व पीठिका के रूप में अपभ्रंश साहित्य का सामान्य परिचय आवश्यक है। इस अध्याय का तात्पर्य अपभ्रंश साहित्य का परिचय देने की अपेक्षा साहित्य की उन प्रवृतियों और शैलियों से अवगत कराना अधिक है, जो आगे जाकर हिन्दी-साहित्य की प्रमुख धाराओं और शैलियों में विकसित हो गई थी। आज तक हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ वस्तुतः एक आकस्मिक घटना सी मानी जाती रही है। वस्तुतः यह साहित्य की प्रकृति की उपेक्षा है। साहित्य की एक अविच्छिन्न धारा होती है। अपभ्रंश साहित्य पर विचार करने से हिन्दी-साहित्य की अविच्छिन्नता का प्रतिपादन हो जाता है।

इस काल में एक तरफ जैन आचार्य अपने धार्मिक विश्वासों और नीति का उपदेश दिया करते थे। दूसरी ओर जैन कवि चरित-काव्यों का अध्ययन कर रहे थे। 'जसहर चरिउ' नएयकुमार

चरिउ आदि रचनायें इसी काल की हैं। ये चरित-काव्य चौपाइयों में लिखे जाते थे। इसी शैली का विकास परवर्ती काल में 'पदमावत' और 'रामचरित मानस' जैसे महाकाव्यों में हुआ है। इसके अतिरिक्त बौद्ध सिद्ध लोग भी अपने सिद्धांतों का प्रचार किया करते थे। तत्कालीन जनता पर इन बौद्ध सिद्धों का अधिक प्रभाव था। जनता उनकी सिद्धि और शक्तियों से आश्चर्य-चकित और अभिभूत थी। इन लोगों का तत्कालीन जीवन की गति-विधि पर बहुत गहरा प्रभाव था। इनके प्रभाव-स्वरूप साहित्य की जो परम्परा बन गई थी, उसने परवर्ती काल के हिन्दी-साहित्य के वर्ण्य-विषय, विचार-धारा, शैली आदि सभी को बहुत अधिक प्रभावित किया है। इसलिए इनकी विचार-धारा और काव्य पर थोड़ा सा विशद विवेचन आवश्यक है।

बौद्ध धर्म का विकृत रूप ही वज्रयानी शाखा में विकसित हुआ था। किसी समय ये सारे उत्तरी भारत में फैले हुए थे। इन्होंने देश में तांत्रिक साधना का बहुत अधिक प्रचार किया। इनकी साधनाओं में मद्य और स्त्री सेवन का महत्व पूर्ण स्थान था। डोमिनी रजकी आदि निम्न जाति की स्त्रियों का सेवन बहुत बढ़ गया था। सिद्ध लोग इसके आह्वान गीत लिखा करते थे। इनके 'महासुखवाद' का यह प्रभाव पड़ा कि अनेक अश्लील मुद्राओं में सहवास की नग्न मूर्तियाँ बनने लगी। सिद्धि प्राप्त करने के लिए स्त्री का सेवन आवश्यक माना जाने लगा। इन सिद्धों ने शास्त्रज्ञ के विद्वानों की तरफ से श्रद्धा हटा कर अन्तर्मुखी साधना का प्रचार किया। अपने भावों को प्रकट करने में रहस्यवादी प्रवृत्ति का जोर हुआ। अपनी बातें संध्याभाषा के नाम से अभिहित उल्टी-सीधी भाषा में कहा करते थे। इसी 'संध्या भाषा' का विकास बाद में उल्ट वासियों के रूप में हुआ। इड़ा पिंगला और सुषुम्ना के बातें अधिक करते थे। सुषुम्ना मार्ग से शून्य देश की मात्रा नाद

सुषुम्ना सुरति निरति आदि ही इनकी साधना की प्रमुख वस्तुएँ थीं। रहस्य, गुह्य, मद्य एवं स्त्री-सेवन की प्रधानता के कारण यह मार्ग अत्यन्त विकृत हो गया था।

नाथ पंथ इन्हीं सिद्धों के मार्ग का परिष्कृत रूप है। नाथपंथियों ने भी इसी परम्परा की साधना को अपनाया था। उसमें भी नाद विंदु सुरति निरति आदि को महत्व दिया गया है। गोरखनाथ ने हठयोग में पतंजलि के सिद्धान्तों को अपना लिया था। इन हठयोगियों की साधना ईश्वरप्राप्ति को लेकर ही आगे बढ़ी। सिद्धों में ईश्वरत्व की भावना नहीं थी, इसलिए वह गुह्य होकर अनाचार और मिथ्या अहंकार को ही अधिक प्रोत्साहन दे सकी। उसमें भक्त हृदय की विनम्रता सरलता और पवित्रता के लिए स्थान नहीं था। गोरखनाथ सिद्धों की परम्परा में ही थे पर उन्होंने ईश्वर को मानकर मिथ्या अहंकार को समाप्त करने का प्रयत्न किया। जीवन में नैतिकता की और आत्मसंयम की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। पतंजलि योग की क्रियाओं को अपनाने के कारण गोपनीयता की भावना कम होती गई। साधना में व्यक्ति प्रमाण नहीं रहा। उसको एक शास्त्रीय आधार प्राप्त होगया। ईश्वरवाद की इस प्रतिष्ठा के कारण यह मार्ग हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए अधिक ग्राह्य था। पर इसमें देवोपासना के वाह्याचारों का खण्डन था। सिद्ध एव नाथपन्थी साधुओं में निम्न जाति के लोगों का ही आधिक्य था। इन में से अधिकाँश व्यक्ति संस्कृत के विद्वान नहीं थे इसी लिए इनमें वर्ण–व्यवस्था का तीव्र शब्दों में खण्डन एवं विद्वत्ता को पाखण्ड कह कर निन्दा करने की सामान्य प्रवृत्ति मिलती है। इनकी रचनाओं में केवल हठयोग की साधना की प्रेरणा मात्र मिलती है। इस पन्थ में जीवन की एकांगिता है। इनके उपदेशों में जीवन की सम्पूर्णता के आभास एवं अनुभूति की मार्मिकता का अभाव है। इसीलिए कतिपय विद्वान इसको कविता

के प्रकृत क्षेत्र के बाहर की वस्तु मानते हैं। पर हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इन रचनाओं का कम महत्व नहीं हैं। इनकी विचार–धारा, वर्ण्य-विषय एवं शैली से हिन्दी के निर्गुण मार्गी साहित्य का निर्माण हुआ है। इस साहित्य में वैदिक संस्कृति के विरोध के जो तत्त्व थे उनके विरुद्ध निरन्तर प्रतिक्रिया हुई है और इस प्रकार यह हिंदी साहित्य की गति विधि के विकास की प्रेरक शक्ति रही है। साहित्य के इतिहास की दृष्टि से यह दृष्टि–कोण भी कम महत्व पूर्ण नहीं है। इस प्रतिक्रिया से सगुणमार्गी भक्तों में तो अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर नवीन प्रकार के साहित्य को ही जन्म दे दिया था, पर इसके पहले भी यह प्रतिक्रिया बराबर रही और विकास करती रही। सिद्धों की विचार धारा के प्रतिक्रिया स्वरूप नाथपन्थी मार्ग ने जोर पकड़ा। उसमें ईश्वरत्व श्लीलता, शिव और पार्वती के युगल रूप की आराधना आदि तत्वों का प्राधान्य उसे वैदिक मार्ग के समीप ले आता है। निर्गुण मार्गी भक्तों में वैदिक धर्ममर्यादा का समर्थन नहीं है। पाखण्ड का खण्डन है। उनमें सिद्ध साधुओ को अहमन्यता के भी दर्शन होते हैं, पर सिद्धों की अपेक्षा वह कम वेद विरुद्ध हैं।इस प्रकार यह प्रतिक्रिया विकास-शील और गतिमान रही है। इस विचार धारा ने हिन्दी के भक्तिकाल एवं उसके साहित्य की वास्तविक आत्मा का निर्माण किया है। अतः अपभ्रंश के इस साहित्य का महत्व हिन्दी के इतिहास के लिए किसी भी प्रकार कम नहीं है।

इतना ही नहीं हिन्दी के भक्तिकाल और रीतिकाल साहित्य जिन प्रमुख शैलियों को अपनाकर चला है, उनमें से अधिकांश के प्रमाण अपभ्रंश साहित्य में प्राप्त हो चुके हैं। यह कहना असमी-चीन नही है कि हिन्दी ने अपने से पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य की काव्य पद्धतियों का पर्याप्त विकास किया है। इसी से साहित्य के विकास की अविच्छिन्नता के सिद्धान्तो की रक्षा हो पाती है। हां

इतना अवश्य सत्य है कि सगुण भक्तिमार्ग ने हिन्दी भाषा भाषी जनता के जीवन-दर्शन को एक दम बदल दिया था और इस प्रकार साहित्यिक दृष्टिकोण भी अवश्य बदल गया। पर शैलियों का यथावत् विकास होता रहा। सिद्ध लोग उपदेशों के लिए पुरानी काव्य-भाषा (टकसाली हिन्दी) को ही अपनाते थे पर अपने गीतों में पूर्वी हिन्दी का मिश्रण कर देते थे जो शायद भावात्मकता की दृष्टि से उन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ। भाषा की यही परम्परा निर्गुण सन्तों ने अपनाई। वे अपनी साखियों में सधुक्कड़ी राजस्थानी मिश्रित भाषा का प्रयोग करते थे पर उन्होंने अपनी रमैनी के लिए ब्रज और पूर्वी बोली से मिश्रित भाषा को ही उपयुक्त समझा है।

[illegible]

उन काव्य पद्धतियों का उल्लेख किया है जो परवर्ती काल के हिन्दी साहित्य में विकसित हुई है। अपभ्रंश में दोहा पद्धरी और गेयपद इन तीन प्रकार के बंधों का सब से अधिक प्रयोग होता था। इसके अतिरिक्त कुण्डलियाँ आदि भी लिखी जाती थी। छप्पय रोला उल्लीला आदि भी लोकप्रिय छन्दों में से थे।

१. दोहा बंध—

दोहा या दूहा अपभ्रंश के पूर्व अपरिचित था, ऐसा ही आज तक के शोध कार्य से उपलब्ध साहित्य से अनुमान होता है। राजस्थानी में तो दूहा अत्यन्त प्रिय और प्रचलित छन्द है। अपभ्रंश में 'दूहा' शैली में प्रधानतया चार प्रकार के काव्य उपलब्ध हैं:- १—धार्मिक उपदेश और निर्गुण मत का प्रतिपादन करने वाले २—शृङ्गारी दोहे ३—नीति के दोहे ४—वीररस के दोहे। हिन्दी साहित्यमें इन चारों काव्य-पद्धतियों का विकास हुआ है। निर्गुण सम्प्रदाय की साखियाँ धार्मिक उपदेश दोहों का ही रूपान्तर है। बिहारी मतिराम आदि के दोहे अपभ्रंश की शृंगारी दोहों की परम्परा

में आते हैं। रहीम, तुलसी आदि ने नीति के दोहे लिखे हैं। वीर रस के दोहे अपभ्रंश साहित्य की अपनी विशेष वस्तु है। स्त्रियों के द्वारा अपने पतियों की वीरता की प्रशंसा के लिए इस शैली का बहुत प्रयोग हुआ है। राजस्थानी भाषा में इस शैली का अच्छा विकास हुआ है।

अपभ्रंश साहित्य में चरित काव्य भी मिलते हैं। इनमें प्रायः दो प्रकार की शैलियों का प्रयोग हुआ है। पश्चिमी भारत के चरित-काव्यों में १६ मात्राओं के एक पद्धरी नामक छन्द का प्रयोग किया गया है। इसमें कभी कभी अन्य छन्दों का प्रयोग भी हुआ है, पर दोनों को ही पद्धड़िया बन्ध कहा गया है। पूर्वी भारत में दोहे चौपाई वाली शैली ही अधिक अपनाई गई। इस शैली में आगे हिन्दी साहित्य के चरित-काव्य लिखे गये हैं। प्रेम-मार्गी शाखा के अनेक ग्रन्थ तथा रामचरित-मानस आदि इसी शैली की रचना हैं। संत कवियों ने भी इस शैली का उपयोग किया है।

गेय पदों की रचना भी अपभ्रंश साहित्य की एक विशेष महत्त्व पूर्ण प्रवृत्ति रही है। साहित्यिक अपभ्रंश की अपेक्षा जनभाषा में गेय पदों की रचना अधिक होती रही है। यही जनभाषा बाद में हिन्दी का रूप धारण कर गई थी। इसमें बौद्धों सिद्धों के जो गीत उपलब्ध होते हैं, उससे कबीर आदि सन्त कवियों के पदों की परम्परा की एकता अत्यन्त स्पष्ट है। सगुण परम्परा के गेय पद भी जनभाषा में रहे होंगे, ऐसा अनुमान भी होता है। इस के अतिरिक्त 'रासक' छन्द में गेय रचना भी अपभ्रंश साहित्य में होती थी। हिन्दी में इस शैली का विशेष विकास नहीं हुआ। वीर काव्यों में रासक की परम्परा थोड़ी बच रही है अन्यथा तो सारी लुप्त हो गई है।

अपभ्रंश से विकसित भाषाओं में हिन्दी ही एक मात्र ऐसी भाषा है जिसने अपनी पूर्ववर्त्ती काव्य-पद्धतियों और परम्पराओं

को इतना अधिक संरक्षित रखा और विकसित किया है। उपर्युक्त

१२] हिन्दी-साहित्य परिचय

को इतना अधिक संरक्षित रखा और विकसित किया है। उपर्युक्त

आदिकाल

संवत् १०५०-१३७५ -

(1050-1375)

हिन्दी के आदि काल के साहित्य की प्रवृतियों के सम्बन्ध में अभी तक कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। पिछले कई वर्षों से इस काल के स्वरूव को स्पष्ट करने का प्रयत्न अनवरत चल रहा है, पर अब तक इसकी रूप रेखाओं में अपेक्षित स्पष्टता नहीं आ पाई है। शुक्लजी ने जैन ग्रन्थों तथा अन्य कुछ इसी प्रकार की सामग्री पर इसलिए विचार नही करना चाहा कि उनमें से बहुत से तो धार्मिक उपदेश मात्र हैं, कुछ नोटिस मात्र हैं तथा बहुतो को प्रामाणिकता संदिग्ध है। इधर जो खोज हुई है, उसके परिणामस्वरूप ठीक उल्टी बातें सिद्ध हो रही हैं। जिन रासो ग्रन्थों को शुक्लजी प्रामाणिक मान रहे हैं और जिनके आधार पर इस काल का उन्होने विवेचन किया है, उनकी प्रामाणिकता में द्विवेदीजी जैसे विद्वान् संदेह करते हैं तथा शुक्लजी द्वारा जिन ग्रन्थों के साहित्यिक महत्व को अस्वीकृत किया गया था, उन्ही को इस काल की महत्वपूर्ण रचना मानने का आग्रह द्विवेदीजी को है। इस प्रकार इस काल की रूप रेखा के संबन्ध में हिन्दी के विद्वानों का एक मत नहीं है। यही कारण है कि कुछ लोगों को इसे वीरगाथा काल कहने में भी हिचक है। इस पर आगे विचार किया जायगा।

हिन्दी साहित्य का प्रारंभिक काल एक प्रकार से अशान्ति का काल कहा जा सकता है हिन्दू राजाओं की शक्ति प्रायः समाप्त होती जारही थी। हिन्दुओं के बड़े साम्राज्य छिन्न भिन्न होकर छोटे छोटे राज्यों में परिणत हो गये थे। वे लोग परस्पर में लड़ा करते थे। उनके पारस्परिक युद्ध और कलह के कोई महत्वपूर्ण कारण नहीं होते थे। योंहीं अपनी झूठी शान और ऐंठ के लिए

अथवा वैवाहिक प्रश्नों को लेकर युद्ध छिड़ जाया करते थे। उत्तरी पश्चिमी सीमाओं से मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण होते रहते थे। ऐसे समय में जनता क्षुब्ध थी। दूसरी तरफ जनता में जैन और बौद्ध धर्म का प्रचारकार्य चल रहा था। वर्णव्यवस्था और वैदिक मर्यादा के लिए बची खुची आस्था को भी शिथिल करने के प्रयत्न निरन्तर जारी थे। पश्चिमी भारत जहाँ मुसलमानों के आक्रमणों का सामना कर रहा था वहाँ सुदूर पूर्व में इसका कोई विशेष असर न था। दूसरे ये युद्ध राजाओं और समाज के ऊँचे स्तर को ही अधिक प्रभावित करते थे। साधारण जनता धार्मिक उपदेशों और साधनाओं की ओर अधिक उन्मुख थी। इस काल की यह अवस्था इतना अनुमान करने के लिए अवश्य बाध्य करती है कि यह काल साहित्यिक शैथिल्य का ही काल था।

इस काल की प्रमुख साहित्यिक चेतना जैनों बौद्धों एवं नाथपन्थियों के धार्मिक उपदेशों में मिलती है। योग एवं रहस्य मूलक साधना का साहित्य रस-सृष्टि नहीं करता था। पर इसने परवर्त्ती साहित्य को अत्याधिक प्रभावित किया। इसी के प्रचार के फलस्वरूप जनता में रूढ़िग्रस्त धर्मिक भावना से ऊपर उठकर सहज सत्य के दर्शन करने की तीव्रतर आकांक्षा जाग्रत हुई। भक्तिकाल का साहित्य इसी आकांक्षा का परिणाम था। दूसरे इस साहित्य में तत्कालीन भाषा, शैली आदि के स्वरूप सुरक्षित हैं जो इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त इस काल की दूसरी प्रधान प्रवृत्ति चरित-काव्य है। इन चरित काव्यों के दो ही प्रधान विषय रहे हैं, युद्ध और शृङ्गार। इन काव्यों में अपने आश्रय दाताओं की स्तुति उनके युद्ध विवाह आदि के विस्तृत वर्णन रहते हैं। इन काव्यों के चरित्र ऐतिहासिक पुरुष ही होते थे; पर इनमें ऐतिहासिक तथ्यों के निरूपण की अपेक्षा काव्य का रसास्वाद कराने की आकांक्षा अधिक परिलक्षित होती है। भारतीय

साहित्यिक दृष्टिकोण में ऐतिहासिक यथार्थवादिता के लिए इतना स्थान नहीं था। तब भी तत्कालीन इतिहास के अध्ययन के लिए ये चरितकाव्य महत्वपूर्ण आधार अवश्य हैं। साधारणतया युद्ध और प्रेम ही इस काव्य की रचनाओं के दो प्रधान विषय थे। एक ही ग्रन्थ में दोनों का समावेश होता था। विद्यापति के 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' नामक दो ग्रन्थ क्रमशः युद्ध और प्रेम को अलग अलग वर्ण्य-विषय बनाकर लिखे गये हैं। विद्यापति की 'कीर्तिलता' इस काल की काव्य प्रवृत्तियों का ठीक प्रतिनिधित्व करती है। इस में प्रक्षेप नहीं हो सके हैं। इसमें अपभ्रंश के कथाकाव्य की परम्परा के कुछ बीज स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। कहीं कहीं थोड़ा गद्य का भी प्रयोग हुआ है। इस काल के अन्य चरितकाव्यों में गद्य का लोप होगया है। कीर्तिलता पर अपभ्रंश के कथा काव्य के संस्कार अवश्य हैं। पर यह उनसे भिन्न कोटि का काव्य है। संभवतः इसी लिये विद्यापति ने इसको 'कहानी' कहना अधिक समीचीन समझा है। उस काल में 'कहानी' काव्य और भी रहे होंगे ऐसा अनुमान होता है।

इस काल में वीर काव्य के दो स्वरूप उपलब्ध होते हैं, एक प्रबन्ध और दूसरा वीर गीत। प्रबन्ध काव्यों की दृष्टि से सब से महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'पृथ्वीराज रासो' तथा वीर गीतों में 'बीसलदेवरासो' हैं। वीर गीतों की मौखिक परम्परा रही है, इसलिए इनकी भाषा निरन्तर विकसित होती रही है। 'आल्हा' प्रायः सारे उत्तरी भारत में गाया जाता है। इसलिए उसकी भाषा का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। इस काल के काव्यों के नाम 'रासो' पर हैं। इस रासो शब्द का निश्चित अर्थ ज्ञात नहीं है। कोई इसका सम्बन्ध 'रहस्य' से जोड़ते हैं, कोई 'रसायन' से। इस काल के प्रबन्ध काव्य भी निरन्तर विकसित होते रहे हैं। यह चारणों की सम्पत्ति थी और इनका सृजन निरन्तर चलता रहता था। पिता के बाद पुत्र अपने आश्रयदाता

का गुणगान करता था। इस प्रकार प्रत्येक ही काव्य एक वंशपरम्परा का वर्णन करने वाला तथा अनेक कवियों द्वारा रचित है। ये काव्य किसी काल विशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति के परिचायक नहीं है। राजस्थानी साहित्य के इतिहास के लेखक श्रीयुत मोतीलाल मेनारिया इन ग्रन्थों को राजस्थानी भाषा के साहित्य के किसी युग की विशेषता नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि से यह केवल चारण जाति की रचना है।

वीर काव्यों की यह परम्परा इस काल तक ही सीमित नहीं है। परवर्ती काल में भी वीर काव्य लिखे गये हैं। रीति काल के भूषण और सूदन ने भी अपने आश्रयदाताओं की वीरता का वर्णन किया है। इनमें मुसलमान राजाओं के अत्याचार से पीडित जनता का क्षोभ तथा उसके विरोध में अनुभूत वीरता का चित्रण हुआ है। आधुनिक काल में भी राष्ट्रीय भावना से प्रेरित वीर रस के काव्य लिखे गये हैं। वियोगी हरि की 'वीर 'सतसई' इसी प्रकार का काव्य है। दिनकर आदि की राष्ट्रीय भावनाओं के कविताओं की इसी धारा का विकास मानना चाहिए। इन काव्यों में केवल वीररस का ही साम्य है, साहित्यिक प्रवृतियाँ बदलती रही हैं। इन रचनाओं पर अपने काल की प्रवृतियों की स्पष्ट छाप है अतः ये साहित्य की किसी अनुगण धारा के परिचायक नहीं।

इसी काल में विद्यापति की श्रृङ्गार और भक्ति की रचनायें भी आती हैं। अमीर खुसरो का मनोरंजक साहित्य भी इसी काल का है। इस काल में भी लौकिक रसं की परम्परा थी, जो परिनिष्ठित अपभ्रंश के विद्वत्-साहित्य का विकास था, उसका प्रतिनिधित्व विद्यापति की पदावली करती है। आज तक इस काल की जितनी खोज होचुकीहै, उस दृष्टि से विद्यापति इस काल के प्रमुख कवि ठहरते हैं, क्योंकि इस काल के दोनों प्रकार के साहित्यों का प्रतिनिधित्व विद्यापति ही करते हैं।

काल का नामकरण—

इस काल के नामकरण के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य के विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। शुक्लजी ने इस काल को 'वीरगाथा काल' कहा है। इस काल की रचनाओं में वीररस का प्राधान्य रहा है। पर वीरत्व की यह भावना इस काल की अपनी नवीन प्रवृत्ति है। संभवतः यह तत्कालीन परिस्थिति का परिणाम मात्र प्रतीत होता है। इसी तत्व की प्रधानता के कारण शुक्लजी ने इस युग का यह नामकरण किया है। पर आज 'रासो' परम्परा के अधिकांश ग्रन्थ अप्रामाणिक सिद्ध होते जारहे हैं। इस काल में प्रधान रूप से दो प्रकार के साहित्य रहे हैं, सिद्ध–साहित्य और सामंत-साहित्य। इसी आधार पर राहुल सांकृत्यायन इस काल को 'सिद्ध सामंत युग' कहना चाहते हैं। पर इस काल में 'लौकिक रस' के साहित्य का भी कम महत्व नहीं है। साहित्य की यह परम्परा हिन्दी के परवर्ती कालों में विकसित हुई है और उस समय हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति का यह प्रमुख स्वर रहा है। हिन्दी की दृष्टि से इसका अधिक महत्व है। आज कल इसको आदिकाल कहने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। द्विवेदीजी भी इसे 'आदिकाल' ही कहना चाहते हैं।

प्रमुख कवि और रचनायें

'खुमान रासो'—

चित्तौड़ में खुमान नाम के तीन राजा हुए हैं। आज 'खुमान रासो' की जो प्रति उपलब्ध है, उसमें वर्णित घटनाओं के आधार पर इतिहासकार यही अनुमान लगाते हैं कि यह रचना दूसरे खुमान के काल की है। इस प्रकार यह ईसा की नवीं शताब्दी के प्रारंभ की रचना मानी जानी चाहिए। इस ग्रन्थ का रचयिता दलपत-विजय माना जाता है। शिवसिंह सरोज में किसी एक ऐसे काव्य-ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है जिसमें श्री रामचन्द्र

से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था। इस ग्रन्थ के लेखक कोई अज्ञात नामा भाट थे। पर आज जो ग्रन्थ उपलब्ध होता है, उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक के राजाओं का वर्णन है। इससे सिद्ध है कि यह ग्रन्थ उतना प्राचीन नहीं है, जितना कि माना जाता है। यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि दलपतविजय इस ग्रन्थ के कौन से भाग के रचयिता हैं श्री रामचन्द्र से खुमान तक के अथवा आगे के परिशिष्ट भाग के। इन सभी कारणों से यह ग्रन्थ भी आदिकाल का प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं माना जा सकता है। 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' के लेखक ने दलपत का रचनाकाल विक्रम की अट्ठाहरवीं शताब्दी का मध्यकाल माना है। इसलिये दलपतविजय किसी प्राचीन ग्रन्थ के लेखक भी नहीं माने जा सकते हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता में संदेह के अनेक कारण हैं।

बीसलदेव रासो—

इस ग्रन्थ की रचना सं० १२१२ में हुई थी, ऐसा अनुमान लगाया जाता है। सर्वत्र वर्त्तमान काल की क्रिया के प्रयोग के कारण इस ग्रन्थ के लेखक नरपति नाल्ह को वीसलदेव का समसामयिक माना जाता है। वीसलदेव बड़ा वीर और प्रतापी राजा था। इसने मुसलमानों को कई युद्धों में पराजित किया था। इसके राजकवि का लिखा हुआ 'ललित विग्रह' नामक नाटक उपलब्ध है। इसने अपना हरकेलि-विजय नाटक शिलाओं पर खुदवाया था। पर वीसलदेव रासो में इस राजा की शूर-वीरता का वर्णन नहीं है। इसके चार खण्ड हैं और उनमें भोजतनया राजमंती के साथ वीसलदेव का विवाह, राजा का उड़ीसा चला जाना राजमंती का विवाह एवं राजा भोज द्वारा वीसलदेव को वापिस लिवा लाने का वर्णन है। इस ग्रन्थ की वर्णित घटनायें इतिहास विरुद्ध एवं काल विरुद्ध हैं। राजा भोज और वीसलदेव के समय में १ सौ वर्ष से भी अधिक का

अन्तर है। उड़ीसा पर आक्रमण करने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अन्य युद्धों का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। इस प्रकार इस काव्य का आधार पूर्णतः कल्पित ही प्रतीत होता है। इस वर्णन प्रधान काव्य में 'रासो' नाम से अभिहित किये जाने के गौरव का अभाव है।

इसकी भाषा राजस्थानी है। अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग भी बहुत हुआ है। इसकी भाषा में बीच बीच में साहित्यिक भाषा पिंगल का भी प्रयोग है। इससे शुक्लजी यह अनुमान लगाते हैं कि राजस्थान की शिष्ट काव्य-भाषा में खड़ी बोली और ब्रज के प्राचीन रूप का ही प्रयोग होता था। आज वीसलदेव रासो का जो रूप उपलब्ध है, उसको शुक्लजी वस्तु और भाषा दोनों के ही विचार से मूल और असली रूप नहीं मानते हैं। इसमें वीर और शृङ्गार का मेल तो है, पर शृङ्गार रस का ही प्राधान्य है। यह गीत काव्य है। इसकी रचना गाये जाने के लिये हुई थी, ऐसा अनुमान लगाया जाता है। पर राजस्थान के विद्वानों के विचार से यह सत्य नहीं है। उनका अनुमान है कि यह राजस्थान में कभी नहीं गाया गया।

आल्हाखण्ड—

यह सब से अधिक लोकप्रिय वीर-गीत काव्य है। इस ग्रन्थ का मूल लेखक महोबे के चन्देल राजा परमाल का राज कवि जगनिक माना जाता है। पर इस ग्रन्थ का मूल रूप आज उपलब्ध नहीं है। आज का प्रचलित रूप प्र[illegible]तियों के आधार पर ही विकसित हुआ है। समय की इस लम्बी अवधि में भाषा और वस्तु दोनों की दृष्टि से इसके रूप का बहुत परिवर्तन होगया है। आल्हा और ऊदल के वीर कृत्य एवं उनका चरित्र ही इस काव्य का विषय है। इतना अधिक रूप परिवर्तन होने पर भी इस ग्रन्थ का वीरत्वपूर्ण मूल स्वर अब भी सुरक्षित है। इसी आधार पर यह भी अर्द्ध प्रामाणिक रचना ही मानी जाती है।

पृथ्वीराज रासो—

यह महाकाव्य दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज के राज कवि चन्दबरदाई द्वारा रचित है। चन्दबरदाई पृथ्वीराज के अन्तरंग मित्र थे। इन दोनों के जन्म और मृत्यु के दिवस एक ही हैं। पृथ्वीराज के अन्तरंग सखा द्वारा रचित इस ग्रन्थ को पृथ्वीराज का अत्यन्त प्रामाणिक जीवन चरित्र प्रस्तुत करना चाहिए। इसी धारणा से इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्रारंभ हुआ था। पर बाद में इसकी प्रामाणिकता में संदेह किया जानेलगा। इस ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह माना जाता है कि इस ग्रन्थ का उत्तरार्द्ध चन्दवरदाई के पुत्र जल्हण द्वारा लिखा गया है। जब पृथ्वीराज गौरी द्वारा कैद कर लिया गया और चन्दवरबाई उसके छुड़ाने के लिए जाने लगा तो अपने पुत्र को इस ग्रन्थ को पूरा कर देने का आदेश देगया था। प्राचीन काल में प्रचलित प्रायः सभी छन्दों का इसमें प्रयोग हुआ है। इसके प्रधान छन्द कवित्त, दूहा, तोमर आदि हैं। यह हिन्दी का प्रथम महा काव्य माना जाता रहा है।

रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य के विद्वानों में पर्याप्त मत भेद है। पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक मानते हैं। उनका कहना है कि इस ग्रन्थ में वर्णित घटनायें और संवत् कल्पित हैं। 'पृथ्वीराज विजय' नामक संस्कृत काव्य पृथ्वीराज के दरबारी कवि जयानक का लिखा हुआ है। उसके संवत् और घटनायें इतिहास सम्मत हैं। उनसे पृथ्वीराज रासो के संवत् और घटनायें मेल नहीं खाती हैं। पृथ्वीराज रासो में चरित नायक की मा का नाम ही गलत दिया है। इन्हीं कारणों से ओझाजी इस ग्रन्थ को जाली कहते हैं। इस सम्बन्ध में दूसरा पक्ष पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया का है। वे इस रचना को अप्रामाणिक नहीं मानते। उनका कहना है कि 'प्रथ्वीराज विजय'

और 'पृथ्वीराज रासो' के संवतों में ९०-९१ वर्षों का अन्तर है जो किसी कारण से जानबूझ कर रखा गया है। इसे काव्यग्रन्थ कहकर इसकी इतिहासविरुद्ध घटनाओं का भी समर्थन किया गया है। पर इस से पूरा समाधान नहीं हो पाता है। ऐतिहासिक काव्यों में इतिहास-विरुद्ध कल्पना की एक सीमा और उद्देश्य होता है, पृथ्वीराज रासों में इसका अभाव है। इन्हीं कारणों से शुक्ल जी इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक मानते हैं। वस्तुतः इनदोनों के बीच का मार्ग ही ठीक प्रतीत होता है। यह विशालकाय ग्रन्थ पूरा का पूरा प्रामाणिक नहीं कहा जासकता है। इसकी भाषा में अत्यन्त प्राचीन एवं अत्यधिक अर्वाचीन दोनों प्रकार के साहित्यक प्रयोगों और रूपों के दर्शन होते हैं, इससे यह सिद्ध है कि इस ग्रन्थ का कलेवर बहुत समय तक बढता रहा है। दूसरी तरफ पूरा अप्रामाणिक भी नहीं कहा जासकता है। गवेषणात्मक अध्ययन से इसका वह स्वरूप भी स्पष्ट होजाता है जिसे मूल और असली कह सकते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तत्कालीन साहित्य की मूलभूत प्रेवृत्तियों के अनुरूप इसके स्वरूप संगठन के लिए एक आधारभित्ति दी है और इस के मूल स्वरूप की ओर संकेत किया है।

द्विवेदी जी का मत है कि रासो अपभ्रंश के रासकों की शैली पर लिखा गया है। उस काल में दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में काव्य-सृजन की पद्धति थी। 'कीर्त्तिलता' में भी इस शैली का अनुसरण किया गया है। चन्द ने रासो को शुक-शुकी के संवाद के रूप में सृजन किया है। इस काव्य में गेय तत्व भी विद्यमान है। यह वीररस प्रधान काव्य है। इस लिए इसमें छप्पय आदि छन्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। द्विवेदी इन्हीं आधारों पर इसके निम्न लिखित अंशों को प्रामाणिक मानते हैं:—

१-आरंभिक अंश २-इछिनी विवाह, ३-शशिव्रता का गंधर्व में विवाह ४-तोमर पाहार का शाहबुद्दीन को पकड़ना ५-संयोगिता

का जन्म, विवाह तथा इछनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्दिता और समझौता ।

द्विवेदीजी का मत है कि इन प्रसंगों में चन्द कवि की प्रतिभा का सहज विलास दृष्टिगत होता है। इन स्थलों में भाषा की उस अव्यवस्था के दर्शन नहीं होते जिससे हिन्दी के विद्वान इस रचना को अप्रामाणिक मानने के लिए बाध्य हुए थे।

पृथ्वीराज रासो के वर्त्तमान स्वरूप में युद्धों की भरमार है। पर इसके असली एवं मूल रूप पर विचार करने से ऐसा प्रतीत है मानो विवाह के आगे पीछे युद्ध के प्रसंग आ गये हैं। अधिकांश युद्धों का सम्बन्ध कन्याहरण से है। इस प्रकार मूल रूप में युद्ध भी शृंगार रस के पोषक होकर आये हैं। यह वस्तुतः प्रेम के मिलन पक्ष का काव्य है। पर रासो के वर्त्तमान स्वरूप में शृंगार के प्रसंग युद्ध बीरों के हृदय का मनोरंजन करने के लिये आये प्रतीत होते हैं। दो युद्धों के बीच के समय में वीर जीवन के मांसल आनन्द का उपभोग करते हैं। इस प्रकार इस रूप में वीरता की प्रधानता हो गई है। युद्ध के वर्णन अत्यन्त विस्तृत हैं। रासो हिन्दी साहित्य का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। पर उसमें जातीय भावनाओं का वैसा उद्घाटन नहीं है जैसा कि रामायण आदि भारतीय एवं इलियड आदि पाश्चात्य महाकाव्यों में हुआ है। यही कारण है कि इन काव्यों के समान रासो का उतना सांस्कृतिक महत्व नही है। इस काव्य में वीर एवं शृंगार की भावनाओ तथा रूप सौदर्न्य की बहुत सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। इन प्रसंगों में सर्वत्र ही समान रूप से कवि प्रतिभा के उत्कृष्ट एवं उल्लसित रूप के दर्शन होते हैं। कवि ने कथानक और अभिव्यजना में प्रचलित रुढ़ियों को ही अपनाया है पर रासो के मूल एवं असली रूप पर ध्यान देने से पता चलता है कि कवि-हृदय के आनन्द का उत्स इन रूढ़ियों से बाहर फूट पड़ रहा है। इस काव्य में छन्दों की बहुलता है। पर

इससे निर्जीवता नहीं आ पाई है। छन्द परिवर्त्तन हृदय को स्पर्श करने वाला है। रासो के आधुनिक रूप में भाषा की एक व्यवस्था नहीं है। उसमें अपभ्रंश के बन्धनों से जकड़ी हुई तथा अत्यन्त आधुनिक—दोनों प्रकार की भाषाओं के दर्शन होते हैं।

विद्यापति—

ये तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह के आश्रय में रहते थे। ये मिथिला के विसपी ग्राम के निवासी थे। इन्होंने अपने को राजा कीर्तिसिंह का खेलन कवि कहा है। इसी आधार पर इनका जन्म १३६० ई० माना जाता है। कालक्रम से ये आदिकाल के कवि हैं। पर साहित्यिक प्रवृत्तियों के दृष्टि से इन्हें एक प्रकार से सन्धिकाल का भी कहा जासकता है। इनकी पदावली में भक्तिकालीन साहित्य की विशेषताओं के स्पष्ट दर्शन होते हैं। पर 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' आदिकाल की साहित्यिक चेतना की प्रतिनिधि रचनायें हैं। इनकी भाषा भी परवर्ती काल की भाषा का पूर्वाभास देती है। इन्होंने पूरबी अपभ्रंश का प्रयोग किया है। पर वह अपभ्रंश प्राकृत की रूढ़ियों से मुक्त है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इनकी भाषा देश भाषा की ओर अग्रसर होती हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार विद्यापति भाषा और वस्तु दोनों दृष्टियों से सन्धिकाल के कवि प्रतीत होते हैं। ये भक्ति साहित्य की चेतना का पूर्वाभास भी दे रहे हैं और आदिकाल की साहित्यिक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व भी करते हैं।

उस काल में ऐतिहासिक काव्य लिखने की जो प्रमुख पद्धति थी उसकी सभी विशेषतायें 'कीर्तिलता' में उपलब्ध होती है। इस काव्य में तत्कालीन जीवन का बहुत यथार्थ और प्रामाणिक चित्रण हुआ है। हिन्दुओं, मुसलमानों, युद्ध, सेना, शहर आदि सभी का बहुत सजीव चित्र है। किसी भी तथ्य को न दबाते हुए इतिहास की

उपेक्षा न करने पर भी इसमें काव्यगत सौंदर्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। कवि ने आवश्यकतानुसार कल्पना का भी प्रयोग किया है। यही कारण है कि यह इतिहास की पुस्तक न होकर काव्य हुआ है। यह पुस्तक कीर्तिसिंह की वीरता का वर्णन करती है तथा 'कीर्तिपताका' उसके प्रेम का। इस प्रकार उस काल की दोनों प्रमुख भावनाओं के चित्रण के लिए विद्यापति ने दो पृथक पुस्तकों का सृजन किया है। यह ग्रन्थ अपभ्रंश के चरित काव्यों की श्रेणी में आता है। इसको स्वयं कवि ने 'कहानी' कहा है। इसी कारण से द्विवेदी इसमें कथा-काव्य के सम्पूर्ण लक्षणों के निर्वाह का अभाव मानते हैं। वे इस संभावना को भी स्वीकार करते हैं, कि उस समय 'कहानी' नाम से काव्य का कोई और स्वरूप भी रहा हो और उसी शैली में यह 'कीर्तिलता' भी लिखी गई हो।

इस ग्रन्थ की भाषा मैथिली मिश्रित अपभ्रंश है। इसकी भाषा के कई स्वरूप हैं। कवि का देशभाषा की ओर अधिक झुकाव प्रतीत होता है। गद्य में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्राचुर्य है। पद्यों में तद्भव शब्दों का ही प्रयोग है। यह रचना इस बात का आभास देरही है कि लोकभाषा अपभ्रंश की रूढ़ियों से मुक्त होकर संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग की ओर बढ़ रही थी। भक्तिकाल ने जिस भाषा का अवलम्बन किया वह संस्कृत पदावली को धीरे-धीरे अपनाती गई। इसीसे वह साहित्य को एक नवीन चेतना को प्रदान कर सकी; जनसाहित्य को विद्वत्साहित्य की गरिमा प्राप्त करा सकी।

विद्यापति की पदावली भक्ति-प्रधान हैं अथवा शृङ्गार प्रधान यह प्रश्न विवादाग्रस्त है। इनका शृङ्गार वर्णन कहीं कहीं भक्ति की मर्यादा का अतिक्रमण करता प्रतीत है, पर ऐसा अन्य भक्त कवियों में भी हुआ है। यह बात सूर में भी मिलती है। इनकी भक्ति का आस्वाद चरम कोटि के भक्त हो कर पाते हैं। अन्यथा तो इनके पदों में शृङ्गार का स्वर ही अधिक प्रबल प्रतीत होता है। इसके

अतिरिक्त एक तरफ विद्यापति की पदावली लौकिक रस के अपनाने के कारण अपभ्रंश की परम्परा का अनुसरण कर रही है, दूसरी तरफ इन लौकिक भावनाओं पर भक्ति के आवरण चढ़ाने के प्रयास से भक्ति कालीन प्रवृत्ति का आभास दे रही है तथा भावी प्रगति को चेतना प्रदान कर रही है। इससे स्पष्ट है कि विद्यापति आदिकाल के साहित्य का प्रतिनिधित्व भी करते हैं, तथा सन्धि काल के कवि भी माने जासकते हैं।

अमीर खुशरो—

इन्होंने सं० १३४० के आसपास अपनी रचना प्रारम्भ की थी। इन्होंने खड़ी बोली को अपनी काव्य भाषा बनाया। इनकी भाषा में ब्रज का भी मिश्रण मिलता है। इन्होंने बोलचाल की भाषा में जनता का मनोरंजन किया। उनकी जो पहेलियाँ और मुकुरियाँ मिलती हैं उनमें प्रक्षेप बहुत हुआ है। अतः आज उनकी भाषा का जो स्वरूप उपलब्ध है, वह बहुत अर्वाचीन प्रतीत होता है। संभवतः समय के साथ इनकी भाषा का स्वरूप भी बदलता गया होगा।

भक्तिकाल

भारत के मध्यकालीन इतिहास में भक्ति आन्दोलन एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक आन्दोलन था। भारत के ज्ञात इतिहास में इससे अधिक महत्त्वपूर्ण क्रान्ति नहीं हुई हैं। बौद्धधर्म का आगमन भी भारतीय इतिहास की महान् घटना थी। इसके आगमन से भारतीय जीवन और संस्कृति ने एक नवीन दिशा को अपना लिया था। पर मध्यकालीन इतिहास में भक्ति आंन्दोलन ने भारतीय जीवन संस्कृति कला एवं साहित्य को बौद्ध धर्म से भी कहीं अधिक प्रभावित, किया था। इस आन्दोलन ने सम्पूर्ण जीवन, साहित्य एवं कला को नया स्वर प्रदान कर दिया। एक नई चेतना एवं जीवन का एक नया मान मूल्य दे दिया। यह चेतना आज भी पूर्णतः विलीन नहीं हुई हैं। आधुनिक काल की वैज्ञानिक क्रान्ति में भी यह भारतीय जीवन की प्रेरक शक्ति बनी हुई है। अब यह स्वर धीमा अवश्य पड़ता जा रहा है। कुछ साम्प्रदायिक भी होता गया है। भक्ति के इस महत्त्वपूर्ण आन्दोलन ने हिन्दी साहित्य को तो नवीन स्फूर्ति ही प्रदान कर दी है। आज भी हिन्दी साहित्य इस जीवन शक्ति के कंप का स्पष्ट अनुभव कर रहा है। वस्तुतः हिन्दी साहित्य का वास्तविक प्रारम्भ ही इस भक्ति आन्दोलन का परिणाम है। हिन्दी साहित्य के अपने पृथक अस्तित्व के बनाने का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व इसी आन्दोलन पर है।

पूर्व पीठिका—

इस आन्दोलन के पहले सम्पूर्ण भारत पर एक प्रकार से वज्र यानी बौद्ध सिद्धों एवं नाथपन्थियों का प्रभाव था। उन्हों ने अपनी चमत्कार-पूर्ण सिद्धियों एवं हठयोग की साधनाओं से भारत की

साधारण जनता को आश्चर्य चकित कर रखा था। उन्होंने हिन्दू-धर्म के सभी क्रिया-कलापों तीर्थाटन आदि को वाह्याचार एवं ढोंग घोषित कर दिया था। इससे इन धार्मिक कृत्यों की अपेक्षा नाडी-शोधन, सुषुम्ना में प्राणों का प्रवेश, नाद का सुनना, चक्रभेद आदि अन्तः साधना को अत्याधिक महत्व प्राप्त हो गया था। इनके कारण धर्म के प्रचलित कार्यों की तुच्छता का प्रतिपादन होगया। मोक्ष का साधन हठयोग की क्रियायें ही मानी जाने लगी। इन लोगों ने वैदिक-मर्यादा एवं वर्णव्यवस्था के मूलोच्छेदन के लिए भरसक प्रयत्न किया। गृहस्थ-धर्म की अपेक्षा संन्यास का अधिक महत्त्व हो गया। हठ योग की ये प्रक्रियायें सर्वजन सुलभ तो थी नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि साधारण जनता में हीनता की भावना तथा तद् जनित नैराश्य एवं अवसाद छागया।

यह तो देश की धार्मिक अवस्था थी। पर उस समय उत्तरी भारत की राजनीतिक स्थिति भी अत्यन्त डांवाडोल थी। हिन्दुओं की सैनिक शक्ति का प्रायः ह्रास होचुका था। धीरे-धीरे मुस्लमानों का राज्य सुदृढ़ होता जारहा था। मुस्लमानों का आगमन भारतीय इतिहास की साधारण घटना नहीं है। इसके पूर्व जैसे जातियां आई और यहां खप गई, वैसे इस बार नहीं हो सकता था। यह जाति राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के साथ ही इस्लाम धर्म का प्रचार करने आई थी। इस जाति की संस्कृति भारतीय संस्कृति से नितान्त भिन्न थी। इनमें वर्णव्यवस्था नहीं थी, पर जातीय भावना अत्यधिक थी। इसका धर्म व्यक्तिगत चरित्र की महत्ता को स्वीकार नहीं करता। वह तो सामूहिक धार्मिक भावना को महत्व देता है। इस प्रकार इनमें धर्मान्धता एवं असहिष्णुता स्वाभाविक थी। पर फिर भी इस काल में एक दूसरे को समझने एवं एक दूसरे के धर्म के प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित करने की भावना कुछ प्रबल अवश्य हो रही थी। लेकिन हिन्दुओं की वर्णव्यवस्था एवं वैदिक मर्यादा की

सहानुभूति पूर्वक समझने की उदारता इनमें भी नहीं थी। इस प्रकार हिन्दुओं को अपनी ही संस्कृति पर बाहर और भीतर दोनों ओर से बड़े गहरे आक्रमण सहने पड़े। हिन्दुओं की ही शूद्र जाति में ऊँच-नीच की भावना के विरुद्ध प्रबल रोष था। जो बौद्धों, नाथ-पंथियों एवं इस्लाम के प्रचार से और जोर पकड़ गया। शूद्र जाति के रोष का प्रमाण तुलसी की ये पंक्तियां ही हैं।

"शूद्र कहे द्विजन सन, आँख दिखावें डाँटि।"

इतने अधिक नैराश्य एवं अवसाद के समय में भी भारतीय जनता में अपनी संस्कृति और धर्म के प्रति एक निष्ठा एवं आस्था थी। उन्हें अपने धर्म की महानता पर एक विश्वास था जो उनके हृदय के अन्तरतम में सुदृढ़ता से प्रतिष्ठित था और निकल नहीं रहा था। भारतीय जनता के हृदय का यही विश्वास इन घोर आँधियों और भूकम्पों में उसके अस्तित्व को बनाये रख सका है। यह विश्वास आज भी जीवित है। जब-जब भारतीय जीवन में पुनरुत्थान का समय आया है, तब तब इसी विश्वास को शक्ति मिली है। भविष्य में भी ये इसी विश्वास के सुदृढ़ एवं शक्ति सम्पन्न होने पर भारत में वास्तविक पुनरुत्थान काल आ सकेगा। आध्यात्मिकता एवं लौकिकता तथा निःश्रेयस् एवं अभ्युदय का सामरस्य एवं संतुलन ही जीवन की सम्पूर्णता है और यही जीवन का वास्तविक आदर्श है। इस प्रकार की सर्वाङ्गीणता सम्पूर्णता, संतुलन और सामरस्य वैदिक संस्कृति एवं धर्म में उन्हें प्राप्त हो सकते हैं। इसका उन्हें पूर्ण विश्वास है। बहुत बार यह पथभ्रष्ट हुआ पर सन्तों ने पथप्रदर्शक रूप में अवतार धारण करके यह कार्य किया है। भक्ति के प्राधान्य प्राप्त करने के पूर्व भारतीय जनता निराश तो थी पर वह विश्वास नहीं खो बैठी थी। दूसरे न नाथपंथियों और सिद्धों के पास ही जीवन का ऐसा कोई व्यापक मान मूल्य था जो वैदिक संस्कृति का स्थान ग्रहण करके उनके विश्वास का आलंबन हो पाता और न

इस्लाम के पास हो। उनके पास विध्वसंक तत्व अधिक थे। भारतीय जनता विध्वसंक कम तथा निर्भायक प्रकृति की अधिक है। इन सिद्धों के चमत्कारों से साधारण जनता ही चमत्कृत हुई, इस्लाम धर्म की सामूहिक जातिगत चेष्टाओं से भी साधारण जनता ही आकृष्ट हुई। तत्कालीन विद्वानों पर इसके महत्व की छाप नहीं लग सकी। उनका अपना तत्वचिंतन तो यथावत् चलता रहा है जैसा थोड़ा बहुत आज भी चल रहा है। पर वे साधारण जनता को केवल नीरस तत्वचिंतन द्वारा जीवन का कोई ठोस और व्यापक संबल प्रदान नहीं करसके। जनता को जीवन का यह व्यापक और ठोस आधार भक्ति में ही प्राप्त हुआ। भक्ति की सरसता ने जनता के हृदय में आनन्द की लहर दौड़ादी, और उनके नैराश्य एवं अवसाद के उद्देश्य-विहीन लौकिक जीवन को आशा, आलोक तथा दिशा प्रदान की। भक्ति ने इस जीवन को नवीन आदर्श प्रदान किया, पर वह नवीन होते हुए भी चिर पुरातन था। यह वही आदर्श था जिसे वे भूल चुके थे, और जिसके जीवित होते ही आशा के दीपक को अपने हृदय के स्नेह से जिस किसी तरह जलाये रख रहे थे। वह उनके स्नेह से टिमटिमा रहा था। भक्ति ने उसे स्नेह के अनवरत स्रोत से सम्बद्ध कर दिया था।

धर्म, ज्ञान और भक्ति—ये भारतीय साधना के तीन प्रमुख अंग है। वैदिक संस्कृति के मानने वालों को ये तत्व कभी अज्ञात तो नहीं थे। हां, परिस्थिति के अनुसार कभी एक का तथा कभी दूसरे का महत्व अन्यों की अपेक्षा अधिक माना जाता रहा है। जिस समय भक्ति का प्राधान्य हुआ कर्म केवल जटिल विधि-विधानों के रूप में तथा ज्ञान रहस्य एवं गुह्य होकर केवल बौद्धिक व्यायाम के रूप में परिणत हो चुका था। भारतीय जनता में उस समय नैराश्य एवं अवसाद का प्राबल्य हो चुका था, अतः भगवान् की शरण का आश्रय ढूंढना स्वभाविक ही था। जनसाधारण में इस

भावना का जोर पकड़ने का यही कारण था। ईसा की सातवीं शताब्दी में दक्षिण में भक्ति के आंदोलन का 'आलवार' भक्तों द्वारा सूत्रपात हुआ। इन भक्तों में बहुत से नीची कही जाने वाली जाति के भी थे। बहुत दिनों तक यह धारा समाज के निम्न स्तर में ही बहती रही। पर समय की मांग ने रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि शास्त्रज्ञ विद्वानों को इसे अपनाने तथा इसे शास्त्रीय स्वरूप प्रदान करने के लिए वाध्य किया। जनसाधारण का यह आंदोलन विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक पूर्ण शास्त्रीय प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सारे भारत में व्याप्त हो चुका था। समन्वय ही इसका मूल आधार था। भक्ति का यह स्रोत दक्षिण भारत से ही उत्तर की ओर आया है। पर उत्तरी भारत में इसके लिए पहले से ही भूमि तैयार हो चुकी थी। नाथपंथी धर्म का प्रचार होने पर भी जनता के हृदय में स्मार्त धर्म के प्रति आस्था थी। जनता में ऐसे किसी सिद्धांत को अपनाने की आकांक्षा तीव्रतर होती जारही थी जिसमें जीवन की सर्वाङ्गीणता के दर्शन हो सके। भगवान् की शरण में जाते एवं उससे व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने की आकांक्षा भी उनके हृदय में विद्यमान थी। इसके लिए भगवान् के सगुण एवं साकार रूप की आवश्यकता थी; जिसकी पूर्ति अवतारवाद की स्वीकृति में हो रही थी। इस प्रकार दक्षिण से आये हुए भक्ति के बीज के पनपने एवं विशाल वृक्ष का रूप धारण करने के लिए उत्तरी भारत में उपयुक्त तथा उर्वर भूमि पहले से ही विद्यमान थी।

भक्ति आन्दोलन के पूर्व जो अन्तःसाधना प्रचलित थी, वह जनसाधारण के लिए केवल आश्चर्य और प्रशंसा की वस्तु थी। उससे गृहस्थों में केवल हीनता की भावना ही जाग्रत होती थी। ऊंच नीच की भावना से भी समाज में केवल विशृंखलता एवं वैमनस्य की ही वृद्धि होती थी। जनसाधारण के जीवन का आदर्श कोई बहुत ऊंचा नहीं था। वह तो लौकिक वासनाओं

से ही ग्रस्त था। भक्ति आन्दोलन से जीवन में आमूल क्रांति हो गई। ऊँच नीच की भावना समाप्त तो नहीं हुई, पर उसके द्वारा फैली हुई घृणा समाप्त हो गई। भगवान् की शरण में नीच से नीच व्यक्ति को भी परमपद प्राप्त हो सकता है, यह भावना सुदृढ़ हो गई। इससे व्यावहारिक रूप में वर्णव्यवस्था रहते हुए भी उसका विष नहीं रह गया। समाज में सौहार्द्र की भावना आगई। गृहस्थों एवं जनसाधारण की हीनता की भावना भी समाप्त हो गई। अन्तः साधना का स्थान प्रपत्ति तथा अनन्य भक्ति ने जो सबके लिए सुगम्य थी तथा व्यक्तिगत साधना का स्थान भगवान् के अनुग्रह ने ले लिया।

शक्ति सम्पन्नता के अहंकार का समय नहीं रह गया। जीवन के मान मूल्यों के परिवर्त्तन के साथ ही साहित्यक प्रवृत्तियाँ भी नई दिशा की ओर अग्रसर हुई। भक्ति आन्दोलन ने साहित्य में वैदिक मर्यादा का स्वर प्रबल कर दिया। जीवन की सारी क्रियायें एवं वासनायें भगवान् को समर्पित होने से भक्ति में पर्यवसित हो गईं। सारी लौकिकता आध्यात्मिकता में विलीन होकर एकाकार हो गई। लौकिक रस का साहित्य भगवान् का आश्रय प्राप्त करके भक्तिरस का होगया। साहित्य का विषय सामान्य जन नहीं रह गया उसका स्थान भगवान् की लीलाओं ने ले लिया। साहित्य ने सामान्य आदर्श को छोड़ कर महान् आदर्श ग्रहण किया। यही कारण है कि भक्तिकाल का साहित्य महान् एवं चिरकालीन हो सका है। लोक साहित्य की सारी परम्पराओं और शैलियों को शास्त्रीय मान्यता प्राप्त होगई। जनभाषा के साहित्य एवं विद्वत्साहित्य का अन्तर समाप्त होगया। दोनों धाराऐं मिलकर एकाकार हो गई। लोकसाहित्य की परम्पराओं और शैलियों के साथ भाषा को भी उन्मुक्त वातावरण में विकसित होने का अवसर प्राप्त किया। साहित्यक भाषा ने अपभ्रंश की रूढ़ियों से मुक्त होकर जनसाधारण

के बोल-चाल के विशुद्ध रूप को ग्रहण किया। विद्वत्–साहित्य के उपयुक्त साहित्यक प्रौढ़ता के लिए भाषा ने अपभ्रंश का पल्ला छोड़कर संस्कृत का पल्ला पकड़ा। इस प्रकार उसने अपना सम्बन्ध भारत की वास्तविक सांस्कृतिक भाषा से स्थापित कर लिया। संस्कृत पदावली के मिश्रण तथा भगवान् के आलम्बन से परिमार्जित भाषा इतनी लोकप्रिय हुई कि हिन्दीभाषा भाषी क्षेत्र के बाहर भी इसका पर्याप्त प्रयोग हुआ। इतर प्रदेशों के भक्त कवियों ने भी इसी भाषा में अपने उद्‌गार प्रकट किये। सन्त नामदेव आदि की पदरचना इसका प्रमाण है। यह भाषा भगवद्‌मय हो गई इसलिए भगवान् की लीलाओं के लिये जैसे मानो यही उपयुक्त थी। संस्कृत का आश्रय ग्रहण करके चलने वाली भाषा ही सम्पूर्ण भारत की जनप्रिय भाषा हो सकती है, इस सत्य को निबिड़ भाव से भक्त कवियों ने अनुभव किया था। आज भी इस आदर्श पर चल कर भारत की स्वीकृत राज भाषा हिन्दी सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा और जनभाषा हो सकती है।

यह भक्ति भावना अनेक रूपों में विकसित हुई। योगमार्गी एवं सूफीमत के मानने वालों में ऐकेश्वरवाद का आश्रय लेकर तथा स्मार्त वैष्णवों में ऐकेश्वरवाद के साथ ही अवतारवाद को ग्रहण करके इस भावना का दो भिन्न धाराओं में विकास हुआ। पहली धारा का नाम निर्गुण भक्ति मार्ग तथा दूसरी का सगुण भक्ति मार्ग हो गया। मुसलमान अवतारवाद एवं वर्णव्यवस्था को नहीं मान सकते थे, इसलिये उनको निर्गुण भक्ति मार्ग ही ग्राह्य रहा। परवर्ती काल में कृष्णभक्ति ने भी मुसलमानों को आकृष्ट किया है। सूफियों में भगवान् को प्राप्त करने का प्रधान साधन इश्क ही था। भक्ति ने भी प्रेम को ही प्राधान्य दिया है। इस प्रकार सूफी कवि भी इस धारा को अपना सके। सम्पूर्ण वैष्णवों में भी दो प्रकार की मनोवृत्ति के व्यक्ति थे। कुछ की तो वैदिक मर्यादा

के प्रति गहरी आस्था थी, उनकी मनोवृत्ति की तृप्ति भगवान् के लोकसंग्रहकारी एवं मर्यादापुरुष के स्वरूप में ही हो सकती थी। दूसरे प्रकार के व्यक्ति अनन्य प्रेम को मर्यादा से भी ऊपर समझते थे। उनके लिए भगवान् का लीलापुरुष रूप ही अधिक ग्राह्य और आकर्षक था। इस प्रकार मनोवृत्ति के भेद के कारण सगुणभक्ति की भी दो शाखायें हो गईं। मनोवृत्ति एवं दार्शनिक भावना के आधार पर भक्ति की धारा ने हिन्दी-साहित्य में जिन स्वरूपों को धारण किया है, उसका विभाजन इस प्रकार है :—

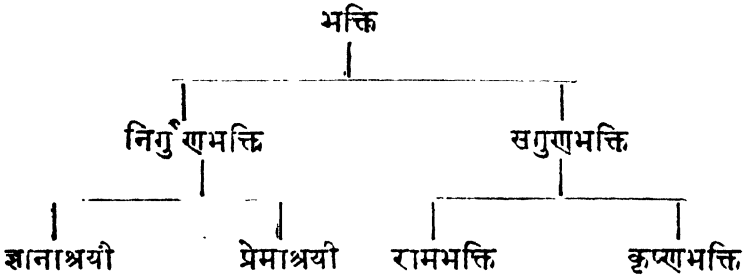

हिन्दी में भक्ति मार्ग के विकास का श्रेय प्रधानतया दो आचार्यों को है, रामानन्द एवं बल्लभाचार्य। बल्लभाचार्य कृष्णभक्ति या विशेषतः पुष्टिमार्गी-भक्ति के प्रचारक थे, इसलिए इनका सम्बन्ध केवल कृष्णभक्तों से ही रहा। पर रामानन्द का प्रभाव इनकी अपेक्षा एक दृष्टि से अधिक व्यापक था। उनके शिष्यों में निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के भक्त थे। इतना ही नहीं हिन्दी-साहित्य में इन मार्गों के अग्रदूतों में से हुए हैं। इससे रामानन्द की भक्ति-सम्बन्धी धारणा की उदारता सिद्ध होती है। भगवान् का अनुग्रह एवं प्रपत्ति ही भक्ति मार्ग के दो प्रधान तत्व है। भगवान् के स्वरूप की कल्पना अथवा भक्ति के बाह्य स्वरूपों एवं साधनों का अन्तर वासनाओं के भेद के कारण हो सकता है। रामानन्द इस अन्तर को बहुत अधिक महत्व नहीं देते हैं। अनेक मार्गों से

भी एक ही मन्तव्य तक पहुँचा जासकता है। रामानन्द स्वयं सम्भवतः विशिष्टाद्वैतवादी ही थे। उनके अणुभाष्य से यही सिद्ध होता है कि वे ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तो-पादान कारण मानते हैं। दिव्य-गुणों से भगवान् सगुण रूप धारण करते हैं। रामानन्द सत्ख्यातिवाद के मानने वाले हैं। पर उनके शिष्यों ने उनके मत का अक्षरशः अनुकरण नहीं किया है। कुछ ब्रह्म और जीव का अन्तर नहीं मानते। संसार को माया मात्र कहते हैं। भगवान् के सगुण स्वरूप की कल्पना नहीं करते। वर्णव्यवस्था का खण्डन करते हैं। वे स्वयं विशिष्टाद्वैतवादी कहे जाते हैं, पर उत्तरी भारत में अध्यात्म रामायण के प्रचार का श्रेय उन्हीं को है। तुलसीदास पर इस रामायण का प्रभाव स्पष्ट है। यह रामायण शंकर के अद्वैत का प्रतिपादन करती है। लेकिन रामानन्द इन दार्शनिक सूक्ष्म मतभेदों को विशेष महत्व नहीं प्रदान करते प्रतीत होते हैं। वे अनन्य भक्ति को मोक्ष का अव्यवहित साधन मानते हैं।

इस भक्ति का ज्ञान और कर्म से कोई विरोध नहीं है। ज्ञान और कर्म इसके पोषक तत्व हैं। किसी को भक्त कहने अथवा न कहने का यही एक मात्र मापदण्ड भगवान् के प्रति अनन्य निष्ठा ही रामानन्द को मान्य रहा होगा। हिन्दी में भक्ति साहित्य के निर्णय का यही एक मात्र मापदण्ड है। भगवान् की असीम शक्ति एवं उनके प्रति अनन्य अनुराग की व्यंजना ही किसी साहित्य को भक्ति-साहित्य बना देने के लिए पर्याप्त है? अन्य दार्शनिक मतवाद सब गौण हैं। आगे हम इसी आधार पर भक्ति के विभिन्न साम्प्रदायों का मूल्यांकन करेंगे। प्रेम मार्गीशाखा भक्तिसाहित्य में मानी जाय या नहीं उसके निर्णय का भी यही आधार है इस पर हम आगे विचार करेंगे।

ज्ञानाश्रयी-भक्तिमार्ग

भक्ति के सामान्य स्वरूप एवं आन्दोलन पर विचार हो चुका है। हमने यह भी देख लिया कि किस प्रकार भगवान् की असीम शक्ति के प्रति मानव हृदय में विराजमान रागात्मिका वृत्ति ने विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों एवं मत-मतान्तरों का आश्रय लेकर विभिन्न स्वरूप धारण कर लिये। इसीलिए भक्ति की एक ही धारा को विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। इन विभिन्न नामों के होते हुए भी हिन्दी-साहित्य में भक्ति की अविच्छिन्न धारा अनेक शताब्दियों तक बहती रही है। इस दृष्टि से हिन्दी के विद्यार्थीयों ने अभी भक्ति-आन्दोलन का बहुत कम अध्ययन किया है। भक्ति की धारा के जिस स्वरूप को हिन्दी का विद्वान 'ज्ञानाश्रयी भक्तिमार्ग' के नाम से अभिहित करना चाहता है, उसके प्रवर्तक तो 'कबीर' ही माने जाते हैं, पर उसका क्षेत्र नाथपंथियों एवं योगियों द्वारा पहले ही निर्मित हो चुका था। ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि बज्रयानी सिद्धों की विचार-धारा नाथपंथियों द्वारा परिमार्जित हुई तथा उसी का दूसरा परिमार्जित रूप हिन्दी-साहित्य के निर्गुणपंथी संतों द्वारा हुआ। इस प्रकार भक्ति-आन्दोलन की यह धारा अपने से पूर्ववर्ती कुछ मत-मतान्तरों और प्रवृत्तियों का विकास मात्र था। नाथपंथियों ने अन्तःसाधना का शुष्क एवं नीरस मार्ग निकाला था। कबीर ने उसी में रागतत्व का संचार कर उसी को सरस भक्तिमार्ग का स्वरूप प्रदान कर दिया। कबीर ने अपनी पूर्ववर्ती परम्परा को ही नवीन दिशा प्रदान की है।

निर्गुण पंथ की इस ज्ञानाश्रयी शाखा ने एक ओर भारतीय अद्वैतवाद से कुछ बातें ग्रहण की तथा दूसरी ओर नाथपंथी और

योगियों की जो योग-साधना चली आ रही थी उसके संस्कार प्राप्त किये। उन्होंने अपनी इस उपासना-पद्धति में वैष्णव धर्म के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद का भी मिश्रण कर लिया। सूफियों के प्रभाव से इसमें प्रेम तत्व का भी प्राधान्य हो गया। ईश्वर और जीव के पारस्परिक प्रेम-सम्बन्ध को दाम्पत्य एवं माधुर्य-भाव से व्यक्त करने की रहस्यवादी प्रवृत्ति इन्हें सूफियों ही से प्राप्त हुई प्रतीत होती है। निर्गुण भक्तों को माधुर्य भाव की भक्ति की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई, इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद हो सकता है। कुछ विद्वान इसे सूफी प्रभाव का ही परिणाम मानते हैं, तथा कुछ वैष्णव प्रभाव का। यह तो निर्विवाद है कि मुसलमानों के आने से पूर्व तथा भारतीय विचारधारा पर सूफी प्रभाव पड़ने से पहले ही भक्ति का एक स्वरूप माधुर्य भाव की भक्ति भी था और उसमें प्रेमतत्व का प्राधान्य था। लेकिन निर्गुण और निराकार ईश्वर के प्रति भक्ति-भावना को इस प्रकार के दाम्पत्य जीवन के रूपक का आश्रय लेकर व्यक्त करने की प्रवृत्ति सूफी देन ही प्रतीत होती है। निर्गुण-पंथियों की इस उपासना पद्धति में वैष्णव एवं सूफी दोनों प्रभावों का मिश्रण हो गया है। वस्तुतः यह निर्गुण-पंथ अनेक संस्कारों, पद्धतियों और विचार धाराओं के मिश्रण के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होता है। यही कारण है कि इस पंथ के सैद्धान्तिक निरूपण में कहीं उपनिषदों के ब्रह्मवाद का तथा कहीं ऐकेश्वरवाद या खुदावाद का स्वर उच्च प्रतीत होता है। इसमें भारतीय अद्वैतवाद के सिद्धान्तों के पूर्ण प्रामाणिक स्वरूप के दर्शन कम हो पाते हैं। इसका एक प्रधान कारण यह भी है कि निर्गुण-सम्प्रदाय के बहुत कम साधुओं को अद्वैतवाद का शास्त्रीय ज्ञान था। वैसे इसी पंथ में सुन्दरदास जैसे अद्वैतवेदान्त के अच्छे ज्ञाता भी हुए हैं। कुछ प्रतिभा-सम्पन्न एवं अनुभव-प्राप्त संतों के अतिरिक्त अन्य संतों में तो ज्ञान की सुनी सुनाई बातों का पृष्ठपेषण मात्र था। परवर्ती

काल में तो योग-साधना की अनेक भूमियों को बात करने में प्रतिस्पर्द्धा एवं अपने महत्व के प्रदर्शन की आकांक्षा के अधिक दर्शन होने लगे।

ये संत लोग एक ऐसे सामान्य भक्तिमार्ग की स्थापना करना चाहते थे, जिसको हिन्दू और मुसलमान दोनों अपना सकें। यह तभी संभव था जबकि बाह्य विधानों की अपेक्षा ईश्वर के प्रति शुद्ध प्रेम को अधिक महत्व दिया जाय। जिसके हृदय में भगवान् के प्रति एक अनन्य भक्ति-भावना है वही भगवान का सच्चा भक्त है, तथा वास्तविक उच्च मानव है। विशुद्ध प्रेम के लिए किसी भी बाह्य आडम्बर और विधि-विधान की आवश्यकता नहीं है। यही कारण है कि निर्गुण-पंथ के इन संतों ने हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा, बहुदेवोपासना, तीर्थ-व्रत आदि का भी तथा मुसलमानों की कुरबानी, रोजा, नमाज आदि का पूरे जोश के साथ खण्डन किया। इनकी निस्सारता को स्पष्ट करते हुए इन्होंने ब्रह्म, माया, जीव आदि का तात्विक विवेचन किया। अन्तःसाधना, अनहदनाद आदि की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया। इन्हीं को उन्होंने जीवन का चरम लक्ष्य माना। जीवन के इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति सात्विक जीवन एवं नैतिक उत्थान से ही सम्भव है; ऐसी उनकी दृढ़ धारणा थी। इन संतों ने भारत के जीवन में एक क्रान्ति उपस्थित करदी और एक सामान्य धर्म भावना की प्रतिष्ठा की जो हिन्दू मुसलमान आदि सभी के अर्थात् मानव मात्र के कल्याण के लिए थी। इसमें धर्म के सामान्य स्वरूप को ही ग्रहण किया गया और धर्म के विशेष रूपों की उपेक्षा की गई। धर्म के ये विशेष रूप ही पारस्परिक वैमनस्य, ऊँच नीच की भावना आदि को जाग्रत करने वाले हैं। इसका उन्होंने भरपूर खण्डन किया। इन संतों की भारतीय जीवन के लिए यही देन थी। संतों की यह क्रान्ति युगानुकूल थी। इससे पारस्परिक मैत्री और सद्भावना स्थापित हुई तथा बाह्य आडम्बरों

के स्थान पर भगवान् की विशुद्ध भक्ति एवं सात्विकता सदाचार की भावना सुदृढ़ हुई।

इस संत-साहित्य में सैद्धान्तिक निरुपण एवं नैतिक उपदेशों का ही प्राधान्य रहा। इसलिए इसका अधिकांश भाग सूक्तियों की कोटि का ही है। इसमें साहित्य-सौष्ठव कलात्मकता एवं आलंकारिक चमत्कारों के दर्शन बहुत कम होते हैं; इसलिए विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से इसका इतना अधिक महत्व नहीं है। जहाँ जीवात्मा की परमात्मा के प्रति प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति हुई है, वे स्थल काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट एवं मर्मस्पर्शी हैं। कबीर की साखियों की अपेक्षा उनके पदों में काव्य के सौन्दर्य के अधिक दर्शन होते हैं। संत-साहित्य में कोई एक निश्चित भाषा नहीं है, उसमें उत्तरी भारत के प्रायः सब प्रान्तों की भाषा के शब्दों का मिश्रण मिलता है। संतों को काव्य-शास्त्र एवं काव्य रीति का ज्ञान नहीं था, अतः उनके साहित्य में इस ज्ञान की प्रौढ़ता से जन्य लावण्य के दर्शन नहीं होते हैं। अलंकार आदि का सामान्य प्रयोग मात्र ही दृष्टिगत होता है। 'संत-साहित्य' लोक-साहित्य की परम्परा के बहुत कुछ सन्निकट प्रतीत होता है। संत लोग उपदेश देते हुए भ्रमण करते रहते थे, इसलिए इनका अधिकांश साहित्य मौखिक परम्परा में ही रहा और बाद में उनकी शिष्य मंडली ने ही इसे संगृहीत करके लिखित रूप दिया। आज भी बहुत सा निर्गुण साहित्य मौखिक परम्परा से जन-साधारण में प्रचलित चला आरहा है। लोकसाहित्य का यह भी एक प्रधान अंश है। राजस्थान के लोकप्रचलित भजनों में निर्गुण के भजनों की संख्या कोई थोड़ी नहीं सभी है। यह परम्परा आज भी वैसे ही अक्षुण्ण है। यही अवस्था प्रायः जनयदीय भाषाओं के लोक साहित्य की है।

प्रमुख सन्त और कवि

कबीर—

कबीर के सम्प्रदाय में इनके जीवन के सम्बन्ध में जो छन्द प्रचलित हैं, उसके अनुसार कबीर का जन्म सं० १४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा को माना जाना चाहिए। पर उस दिन सोमवार नहीं पड़ता; सं० १४५६ में पड़ता है, इसीलिए इनका जन्म सं०-१४५६ की ज्येष्ठ पूर्णिमा को माना जाता है। कबीर के जन्म के सम्बन्ध में एक प्रवाद प्रचलित है कि ये एक विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे और काशी के लहरतारा तालाब में फेंक दिये गये थे। वहां से नीरू और नीमा नामक जुलाहा दम्पत्ति इन्हें ले आये। इनका लालन-पालन इसी घर में हुआ। इस परिवार पर नाथ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का बहुत अधिक प्रभाव था। इधर कबीर संभवतः प्रबल हिन्दू संस्कार लेकर उत्पन्न हुए थे। रामानन्द जी के भक्ति-प्रचार ने भी इनको बाल्यकाल से ही प्रभावित किया। कबीर के गुरु के सम्बन्ध में भी एक प्रवाद है। एक समय अंधेरे में कबीर गंगा तट पर सोए हुए थे रामानन्द जी का पाँव इन पर पड़ गया। कबीर 'राम राम' कह कर उठ बैठे। बस तभी से कबीर ने रामानन्द को अपना गुरु मान लिया। मुसलमान इनको शेख तकी का शिष्य मानते हैं, पर कबीर ने शेख तकी का नाम उस आदर के साथ नहीं लिया है जो गुरु के लिए होना चाहिए।

कबीर अपने युग के सबसे बड़े प्रतिभा-सम्पन्न एवं प्रभाव शाली व्यक्ति थे। वे अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी संस्कारों में पले थे। उन पर नाथ-सम्प्रदाय के योग-मार्ग, हिन्दुओं के वेदान्त, भक्तिमार्ग, अहिंसा एवं प्रपत्तिवाद का गहरा प्रभाव था। इन सभी संस्कारों से उनके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ था। वे किसी भी वाह्य-विधान और पूजा की अपेक्षा पवित्र नैतिक सादे जीवन को अधिक महत्व देते थे। वे अहिंसा सत्य, दया, संयम आदि संयुक्त धर्म के सामान्य

स्वरूप को ही वास्तविक धर्म मानते थे। इन्हीं से उन्हें मानव जीवन की सार्थकता मान्य थी। इनके विरुद्ध जो कोई भी धर्म कहता था उसका वे खण्डन करते थे। इन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों के रूढ़िगत धर्मों का खण्डन किया है। कबीर इस युग के सबसे महान् सुधारक थे। उन्होंने उस युग के जीवन की गति-विधि को पहचान लिया था। आचरण की पवित्रता ही उनके मार्ग की प्रधान वस्तु है। शुष्क ज्ञान के साथ भक्ति के संयोग ने अहंकार और उच्छृंखलता के बढ़ते हुए स्रोत को रोक दिया था। उस समय हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक वैमनस्य तथा ऊँच-नीच की भावना से जनित कटुता को दूर करने के लिए कबीर का यही मार्ग उपयुक्त था।

कबीर निर्गुण और निराकार ईश्वर को मानने वाले हैं। ज्ञान और योग साधना से ही उस महान् शक्ति का साक्षात्कार सम्भव मानते थे। उस महान् तत्व के साक्षात्कार से जनित आनन्द वाणी में अभिव्यक्त हो जाता है। उस स्वानुभूत आनन्द एवं उस आनन्द के आलंबन का वर्णन ही उनकी भक्ति का स्वरूप है। उनकी भक्ति में निर्वेद और वैराग्य की प्रधानता है। कबीर ने अद्वैत-वेदान्त के सिद्धांतों को अपनाया है। वे ब्रह्म की उपासना करते थे। पर उन्हें वेदान्त के सिद्धान्त का प्रामाणिक ज्ञान संभवतः नहीं था, इसलिये कहीं-कहीं उनके काव्य में इन सिद्धान्तों की उपेक्षा हो गई है। वैराग्य और निर्वेद के अतिरिक्त उन्होंने अपनी भक्ति-भावना पर रहस्यवाद का आवरण भी चढ़ाया है। वे जीवभाव में अपने आपको पत्नी मान कर पति रूप भगवान् के प्रति अपने प्रेम की व्यंजना करते हैं। माधुर्य भाव की इस भक्ति में कबीर के हृदय के सीधे आनन्द और उल्लास के दर्शन होते हैं। इसमें प्रेम के संयोग और वियोग दोनों पक्षों की बहुत ही मार्मिक और सुन्दर व्यंजना हुई है। रहस्यवादी अनुभूति के अतिरिक्त

कबीर ने हठयोग की साधना का भी खूब वर्णन किया है। नाथ सम्प्रदाय के योगियों की हठयोग साधना का कबीर पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। उन्होंने उनसे बहुत कुछ ग्रहण किया है। उस साधना के अनेक विचित्र मानसिक दशाओं का वर्णन कबीर ने किया है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना अनहद नाद कुण्डली चक्र आदि का वर्णन नाथ-सम्प्रदाय का ही प्रभाव है।

कबीर पढ़े लिखे नहीं थे। वे अपने बारे में 'मसिकागद छुयो नहीं' कहते हैं। उन्होंने काव्य-शास्त्र का अध्ययन नहीं किया था इसलिए उनके काव्य में पाण्डित्य-जनित काव्य-सौष्ठव नहीं है। उन्हें छन्द ज्ञान नहीं था पर उनके छन्दों की स्वच्छंदता ही उनके काव्य का सौष्ठव है। उनमें अलंकारों के चमत्कार की प्रवृत्ति नहीं है। अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग हृदय को मुग्ध करने वाला है। कबीर में अत्यन्त सरल एवं स्वाभाविक भाव-सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। उनकी शैली में वाग्वैदग्ध्य और वैचित्र्य की प्रवृत्ति नहीं है। कबीर की कोई स्थिर भाषा नहीं है। उनकी भाषा में पंजाबी, राजस्थानी अवधी आदि अनेक प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों की खिचड़ी मिलती है। यह अस्थिरता ही उनकी भाषा का सौन्दर्य है। प्रचार के लिए ऐसी ही लोक भाषा की आवश्यकता भी थी। भक्ति-आन्दोलन को शक्ति देने के लिए जनभाषा का प्रयोग अनिवार्य था। इसीलिए कबीर ने विद्वत्साहित्य की भाषा को छोड़कर लोकभाषा को अपनाया। निर्गुण-सम्प्रदाय में यह भाषा अस्थिर रही। यह अपना कोई निश्चित साहित्यिक स्वरूप नहीं बना सकी। सगुण भक्ति वालों ने इसी लोकभाषा को प्रौढ़ साहित्यिक स्वरूप प्रदान कर दिया। पर परिनिष्ठित और रूढ़िबद्ध साहित्यिक भाषा के स्थान पर लोकभाषा के प्रयोग की क्रान्ति के जन्मदाता निर्गुण सम्प्रदाय के कवि ही माने जासकते हैं और उनमें भी कबीर का स्थान प्रथम एवं सर्वोत्कृष्ट है। कबीर को

साखियों में प्रयुक्त भाषा में अत्यन्त सरलता के दर्शन होते हैं। वह प्रसादगुण-सम्पन्न है। उसमें बौद्धिकता है, भावात्मकता-जनित संगीत नहीं है। कहीं कहीं सूक्तियों के उपयुक्त चमत्कार के भी दर्शन होते हैं। हठयोग-साधना और रहस्यवाद वाली उक्तियों से कवि ने विचित्र मानसिक अनुभूतियों का वर्णन किया है। ऐसी अनुभूति की अभिव्यक्ति सामान्य भाषा एवं शब्द की अभिधा शक्ति द्वारा सम्भव नहीं है। इसके लिए भाषा की लाक्षणिक शक्ति का प्रयोग आवश्यक है। कवि को संकेतों और प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। ऐसी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए कबीर ने विरोधाभास का प्रयोग किया है। ये कबीर की उलटवाँसियों के नाम से प्रसिद्ध है। इनमें विरोधों का विचित्र चमत्कार है। कबीर को इसी प्रकार उलटवाँसियों की परम्परा भी सिद्ध-साहित्य से मिली थी। सिद्धों और योगियों ने अपनी विचित्र अनुभूतियों को ऐसी ही विरोधाभास के चमत्कार पूर्ण भाषा का आवरण दिया था। इसे संध्याभाषा कहा जाता था। विरोधाभास जनित दुर्बोधता के अतिरिक्त कबीर की भाषा अत्यन्त सरल, सहज और स्वाभाविक है।

कबीर के काव्य का महत्व नवीन विचारधारा और भक्ति का संदेश देने में है। विशुद्ध काव्य की दृष्टि से चाहे वह विद्वत्समाज के हृदय को आकृष्ट न कर सके पर उसने तत्कालीन हिन्दी साहित्य और समाज को एक नवीन चेतना और नूतन जीवन-दर्शन दिया। यह जीवन-दर्शन अत्यन्त प्राचीन होता हुआ भी नवीन था। यह चेतना इतनी शक्ति-सम्पन्न थी की इसका परवर्ती काल में विकास हुआ। कबीर का संदेश पवित्र जीवन एवं वाह्य आडम्बर और विधिविधानों से रहित वास्तविक भक्ति का संदेश था। परवर्तीकाल में यही जीवन और साहित्य की प्रधान चेतना हो गई थी। हाँ, धीरे धीरे इसको आधार-भित्ति वैदिक मर्यादा

और समन्वय की भावना होती गई। इन्हीं सब कारणों से हिन्दी का आलोचक कबीर को सुधारक कहना चाहता है। पर इसमें कबीर का युग प्रवर्तक महाकवि का रूप भी छिपा है। कवि क्रांतिकारी होता है, नई चेतना देता है। कबीर ऐसे ही कवि थे।

दादूदयाल—

इनका जन्म सं० १६०१ में अहमदाबाद नामक स्थान में माना जाता है। इनकी जाति के सम्बन्ध में मतभेद है। कोई कहता है ये नागर ब्राह्मण थे कुछ इन्हें धुनिया मानते हैं तथा कुछ मोची। अधिकतर ये नीच जाति के ही माने जाते हैं। ये राजस्थान में आगये थे। १४ वर्ष तक आमेर में रहने के बाद इन्होंने कुछ वर्ष तक बीकानेर मारवाड़ आदि स्थानों की यात्रा की। उसके बाद सं० १६५६ में नराना नामक स्थान में रहने लगे। यह स्थान जयपुर से करीब २० कोस पर है। आज भी नराना में दादूपन्थी साधुओं की प्रधान गद्दी और गुरु पीठ है। इसी स्थान से तीन चार कोस की दूरी पर स्थित भराने की पहाड़ी पर सं० १६६० में दादूजी ने शरीर-त्याग किया था। इनके गुरु के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जासकता है। सिद्धान्तों की दृष्टि से ये कबीर पन्थ के अनुयायी थे। पर इनका अपना पन्थ है। राजस्थान में इस पन्थ के सन्त बहुत हैं। इनकी बड़ी बड़ी गद्दियाँ हैं। इनकी अनेक संस्कृत पाठशालायें और औषधालय हैं। इनके अनुयायियों में गृहस्थ भी हैं। पहले दादू पंथियों का राजस्थान में बड़ा प्रभाव था। अनेक गृहस्थ परिवार इनके परम्परागत शिष्य थे। इनकी उच्छिष्ट प्रसाद का लेना आदि अनेक अवैदिक क्रियाओं और ढोंगो के कारण वैदिक पण्डितों, सन्यासियों और सगुण भक्त साधुओं ने इनके मत का खण्डन किया और इस प्रकार इनका प्रभाव कम हुआ। आज भी इन साधुओं की बड़ी बड़ी जमातें हैं।

दादूपन्थी निरंजन और निराकार को मानते हैं। 'सतराम' और 'दादूराम' का उच्चारण करते रहते हैं। 'सतराम' से ही अभिवादन करते हैं। दादू की वाणी अधिकांशतः साखियों में है। इनके अनेक गेय पद भी प्राप्त होते हैं। दादूपंथी साधुओं ने दादू ग्रन्थ का बहुत अच्छा संस्करण प्रकाशित किया है। इनकी वाणी में ईश्वर की व्यापकता, जाति-पाँति का खण्डन, हिन्दू और मुसलमानों का अभेद आदि का ही वर्णन है। कबीर जैसी खण्डन की प्रखरता इनमें नहीं मिलती है। दादू संसार की अनित्यता में दृढ़ विश्वास और आत्मबोध पर ही अधिक जोर देते हैं। दादूपन्थ में संस्कृत के अच्छे पण्डित भी हैं, इसलिए इनका वेदान्त-सम्बन्धी प्रतिपादन कबीर-पंथियों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ और प्रामाणिक है। दादू की भाषा पश्चिमी हिन्दी है जिसमें राजस्थानी का बहुत अधिक मिश्रण है। इनकी भाषा में गुजराती, पंजाबी और फारसी के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है।

गुरु नानक—

गुरु नानक का जन्म सं० १५२६ की कार्त्तिक पूर्णिमा को तिलवण्डी ग्राम में हुआ था। यही स्थान आज ननकाना साहेब कहलाता है। यह स्थान अब पश्चिमी पाकिस्तान में चला गया है। गुरु नानक के पिता उस गाँव के पठान के यहाँ कारिन्दा थे। इनका विवाह गुरुदासपुर के मूलचन्द खत्री की लड़की से हुआ था। इनके दो पुत्र हुए श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द। श्रीचन्द ही उदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे।

गुरु नानक बाल्यकाल से साधु एवं भक्त स्वभाव के थे। इनके पिता ने एक बार व्यवसाय के लिये धन दिया था, उसे इन्होंने गरीबों और साधुओं को बाँट दिया। इनके समय में पंजाब में मुसलमानों का प्रभुत्व बढ़ता जारहा था। सभी लोग उनके ऐकेश्वरवाद की ओर आकृष्ट हो रहे थे। अनेक हिन्दू स्वेच्छा

से भी मुसलमान हो रहे थे। ऐसी परिस्थितियों में गुरु नानक के हृदय में किसी ऐसे मत का प्रचार करने की आकांक्षा स्वाभाविक थी, जो हिन्दुओं और मुसलमानों को समान रूप से मान्य हो सके। उन्होंने कबीर-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को अपना लिया। इनमें कबीर के अक्खडपन अथवा खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते हैं न कबीर की सी रहस्यवादी और विचित्र योगसाधना की अनुभूति ही मिलती है। जातिपाँति, छूआछूत, वाह्याचार आदि का खण्डन तो इन्होंने भी किया है, पर वह बौद्धिक अधिक है। इनमें विनय की मृदुता के दर्शन होते हैं।

गुरु नानक तथा उनकी परवर्ती शिष्य-परम्परा ने चारित्र्य शुद्धि एवं आत्मबल की इतनी प्रबल प्रेरणा प्रदान की कि सिख जैसी एक जिन्दादिल जाति उत्पन्न हो गई। निर्गुण सम्प्रदाय के अन्य भक्त ऐसी महान् प्रेरणा नहीं दे सके। इन सिख गुरुओं के उपदेशों ने पंजाब के जीवन को एकदम नवीन दिशा में प्रेरित कर दिया, उसमें नवीन प्राण फूँक दिये। इस सबका कारण वस्तुतः इनके उपदेशों की अपेक्षाकृत सर्वाङ्गीणता ही है। इन्होंने संसार की असारता और अनित्यता का चित्रण तो किया, पर गृहस्थों की अपेक्षा सन्यासियों तथा गृहस्थ धर्म की अपेक्षा गुह्य योगसाधना को अधिक महत्त्व नहीं दिया। इन्होंने सच्ची भक्ति भावना, चारित्रिकता और आत्मबल का ही उपदेश दिया। इससे संसार के प्रति अनावश्यक मोह नहीं रहा, पर जगत् को छोड़कर भाग जाने की प्रवृत्ति भी नहीं जागी। सम्पूर्ण जाति में एक निर्भीकता और कर्त्तव्य-परायणता जाग गई। इस दृष्टि से निर्गुण भक्ति के अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा सिख-सम्प्रदाय का अधिक महत्व है।

गुरु-ग्रन्थ-साहब का हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी के लिए बहुत महत्व है। इसमें हिन्दी के अनेक संतों की वाणी अपने असली

स्वरूप में सुरक्षित है, इससे उस काल के साहित्य की गति-विधि को अच्छा एवं प्रामाणिक अनुशीलन प्रस्तुत किया जा सकता है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल है। इसमें कबीर की भाषा की सी जटिलता के दर्शन नहीं होते हैं।

इन संतों के अतिरिक्त अक्षर अनन्य, मलूकदास, सुन्दरदास, रैदास, जगजीवनदास, सहजोबाई आदि अनेक और संत कवि हुए हैं जिन्होंने अपनी मधुर वाणी से हिन्दी-साहित्य की भी वृद्धि की है।

प्रेममार्गी शाखा

भारत में सूफियों का प्रथम आगमन १२ शताब्दी में माना जाता है। सबसे पहले ये लोग ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के समय में आये थे, ऐसा ही विद्वानों का मत है। इस देश में सूफियों के चार सम्प्रदाय भिन्न समयों में आये हैं। ये चार सम्प्रदाय हैं चिश्ती, सोहरावर्दी, कादरी और नक्सबन्दी। इन साधुओं का जीवन अत्यन्त सरल था। जीवन के सादापन, उच्च विचार एवं प्रेम की गहरी अनुभूति ने भारतीय जनता का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट किया। इनमें इस्लाम की कट्टरता नहीं थी। सबके प्रति सद्भावना थी। ज्ञानाश्रयी शाखा के संतों की तरह इन्होंने ऊँच-नीच की भावना, पारस्परिक वैमनस्य एवं बाह्य आडम्बर तथा विधि विधान की कट्टरता का विरोध किया। ये भी पारस्परिक वैमनस्य को दूर करके मैत्री और ऐक्य की स्थापना करना चाहते थे। इन्होंने प्रेम का मार्ग अपनाया। लौकिक प्रेम के आश्रय से इन संतों ने ईश्वर से मिलाने वाले प्रेमतत्व का आभास दिया। जीव और ब्रह्म की एकता की स्पष्ट एवं निस्संकोच घोषणा में इस्लाम की धार्मिक कट्टरता बाधक थी। यही कारण है कि सूफियों का इस अद्वैत ज्ञान की अनुभूति को प्रेम-कथाओं का आवरण देना पड़ा। इन्होंने ईश्वर को पत्नी तथा जीव को पति मान कर रहस्यवादी भावना के आवरण में ईश्वर और जीव की एकता का प्रतिपादन किया।

सूफी कवियों ने खण्डन-मण्डन द्वारा तत्व की स्थापना नहीं की। उन्होंने प्रेम प्रसंगों के द्वारा मानव के हृदय का स्पर्श किया, इससे इनका प्रभाव हिन्दुओं और मुसलमानों पर समान रूप से ही पड़ा। इन्होंने शुष्क वेदान्त एवं हठयोग की साधना को प्रधान

रूप से नहीं अपनाया अपितु परोक्ष सत्ता की ओर बहुत ही मधुर संकेत किये। इन्होंने भगवान् के व्यापक सौन्दर्य के दर्शन प्रकृति और संसार में कराये हैं। यही कारण है कि ये ईश्वर-प्रेम की मार्मिकता और हृदय-स्पर्शिता की पूर्ण व्यंजना करने में पर्याप्त सफल हुए हैं। इनका रहस्यवाद ज्ञानाश्रयी संतों के रहस्यवाद से बहुत कुछ भिन्न रहा है। सबसे बड़ी भिन्नता तो रूपक के ग्रहण में है। भारत में प्रेम की विकलता का चित्रण स्त्री में ही अधिक करने की काव्य-परम्परा है; इसीलिए कबीर आदि संतों ने ईश्वर को पति तथा जीवात्मा को पत्नी माना है। इसके विपरीत इन सूफी कवियों ने फारस की प्रेम-पद्धति का अनुसरण करते हुए जीव को पति तथा ईश्वर को पत्नी रूप में चित्रित किया है। इसमें पुरुष की प्रेम-विकलता और साधना का चित्रण हुआ है। पुरुष ही पत्नी की खोज में निकलता है। कष्टों और साधना के अनन्तर उसे प्राप्त करता है। पुरुषों की इस साधना के प्रसंग में इन कवियों को हठयोग की प्रक्रिया एवं साधनात्मक रहस्यवाद के चित्रण का भी अवसर मिला है। कबीर आदि निर्गुण संतों ने जगत् को मायाकृत एवं मिथ्या कहा है। माया को ठगिनी कहा है। यही कारण है कि वे जगत् में परब्रह्म के सौन्दर्य के दर्शन नहीं कर सके। पर इन सूफी कवियों ने परब्रह्म के असीम सौन्दर्य को जगत् में व्याप्त देखा है। इससे इनको प्रकृति के रहस्यवाद की मधुर व्यंजना करने का भी अवसर मिल गया है।

इन सूफी कवियों ने लोकभाषा में प्रचलित प्रेम-कथानकों को अपनाया। प्रेमकाव्यों की यह परम्परा प्राचीन एवं लोकप्रिय थी। इनके चरित नायक कभी ऐतिहासिक व्यक्ति हुआ करते थे तथा कभी नितान्त कल्पित ही। जिन काव्यों के नायक ऐतिहासिक व्यक्ति होते थे, उनके जीवन एवं व्यक्तित्व का बहुत सा अंश कल्पना के आधार पर ही संघटित होता था। इस प्रकार वे इन

चरित-काव्यों का प्रचलन जनता में बहुत अधिक रहा है। ये उस काल के साहित्यिक रुचि वालों के लिए एक प्रकार के मनोरंजन के साधन थे। इनका प्रचलन आज के उपन्यासों की तरह का ही था। इस प्रकार की लोक-प्रचलित कथाओं को अपनाकर अपने आध्यात्मिक संदेश देने में सूफी कवियों को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। उन्हें अपने आध्यात्मिक सन्देश के लिये अत्यन्त उपयुक्त लोक-प्रचलित एवं प्रभावशाली काव्य-पद्धति प्राप्त हो गई थी। लौकिक प्रेम के इन रोमांस-काव्यों पर आध्यात्मिक प्रेम एवं साधना का आरोप अत्यन्त सफलता से किया जासका। इन सूफी कवियों ने अपने काव्यों के लिए ऐसे ही चरित-नायकों को चुना जो ऐतिहासिक व्यक्ति भी थे और साथ ही जिनके सम्बन्ध में बहुत सी कल्पित घटनायें भी प्रचलित थीं। इस प्रकार इनकी कथाओं में इतिहास और कल्पना का बहुत ही सुन्दर सम्मिश्रण हो गया। इन सूफी कवियों ने इन कथाओं में चित्रित हिन्दू-जीवन के आदर्शों को यथासम्भव अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयत्न किया और इन्हीं आदर्शों में मिलाकर इन्होंने अपने आदर्शों का प्रचार किया।

इन सभी सूफी कवियों ने दोहा-चौपाइयों में ही काव्य-रचना की है। पूर्वी प्रदेशों में इस शैली में काव्य-रचना होती थी। अर्द्धालियों के बाद एक दोहे का धत्ता देकर काव्य रचने की प्रणाली बहुत पहले से ही प्रचलित थी। जायसी के पहले पाँच अर्द्धालियों पर एक धत्ता दिया जाता था, पर जायसी ने आठ अर्द्धालियों के बाद एक दोहा रखने की प्रणाली को अपनाया। वैसे अर्द्धालियों की कोई संख्या निश्चित नहीं रही है। पाँच, छः, आठ, नौ आदि कई एक प्रणालियाँ थी। ये सूफी कवि प्रारम्भ में परमात्मा, पैगम्बर और पीर की स्तुति करते थे। इन्होंने अपने समकालीन राजाओं का उल्लेख भी किया है। हिन्दू कवियों में

एक दो के अतिरिक्त अपने समकालीन राजा के उल्लेख परम्परा नहीं मिलती है। इन सभी कवियों ने अवधी भाषा को अपनाया है। ये काव्य फ़ारसी लिपि में ही मिले हैं। साहित्यिः सौष्ठव एवं काव्य-रीति की दृष्टि से ये काव्य अत्यन्त प्रौढ़ हैं। इन काव्यों के कथानकों में पर्याप्त गति है। मार्मिक स्थलों के नियोजन आदि प्रबन्ध काव्यों की विशेषताओं की दृष्टि से ये काव्य अत्यन्त सफल हैं। सूफी कवियों ने कथानकों को गति प्रदान करने के लिए भारतीय एवं ईरानी दोनों पद्धतियों का प्रयोग किया है। चित्र-दर्शन स्वप्न अथवा पक्षियों से वर्णन सुनकर आसक्त होना, पशु पक्षियों द्वारा भावी घटनाओं का संकेत, मंदिर आदि में प्रेमियों के मिलन की भारतीय पद्धति के अतिरिक्त इन कवियों ने परियों, उड़ने वाली राजकुमारियों आदि के सहयोग से कथानक को गति प्रदान करके ईरानी प्रेम काव्यों की पद्धति का भी उपयोग किया है। परवर्ती काल में तो 'यूसुफ-जुलेखा' जैसी ईरानी कहानियों का उपयोग भी प्रारम्भ हो गया था। इन काव्यों की एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि यद्यपि इसमें से अधिकांश काव्य मुसलमान कवियों द्वारा ही लिखे गये हैं, पर इनमें हिन्दू-जीवन की मर्यादा का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

प्रेम कथानकों को अपनाकर जो काव्य लिखे गये उनमें अब तक सूफी सम्प्रदाय के काव्यों की ही चर्चा अधिक है। पर इन कथानकों के आश्रय से अन्य भक्त कवियों ने भी अपने आध्यात्मिक संदेश दिये हैं। धरणीदास का 'प्रेमपगास', दुःखहरण का 'पुहपावती', नन्ददास की 'रूपमंजरी' आदि भी इस परम्परा के काव्य हैं। इसके अतिरिक्त विशुद्ध लौकिक प्रेम-काव्यों की परम्परा बहुत अधिक थी। ऐसा प्रतीत होता है कि लौकिक प्रेम-काव्यों की परम्परा का विकास राजस्थान में अधिक हुआ है। राजस्थान में ये काव्य लोकप्रिय भी अधिक हुए हैं। अत्यन्त प्राचीन

काल से ही 'ढोलामारू' की कथा राजस्थान में बहुत अधिक प्रचलित रही होगी। ढोला और मारू आज राजस्थान में प्रेमी और प्रेयसी के वाचक शब्द हो गये हैं। वहाँ के लोक गीतों में इन्हीं अर्थों में इनका प्रयोग हुआ है। इन अर्थों में ये शब्द रूढ़ हो गये हैं। 'ढोला मारूरा दूहा' राजस्थानी साहित्य का अनूल्य रत्न है। ढोला-मारू की कथा को लेकर जो काव्य लिखे गये हैं वे अधिक लोकप्रिय होने के कारण चिरविकासशील रहे हैं, इसलिए उनके कई रूप मिलते हैं। राजस्थान में प्रेम-कथानकों के काव्य के अत्यधिक लोकप्रिय होने का एक बहुत बड़ा सबल प्रमाण यह है कि लोक गीतों में भी छोटे छोटे प्रेम-कथाओं के गीत मिलते हैं जिनको एक प्रकार से रोमांस कह सकते हैं। 'सनेही ढोलो' आदि गीत इसी परम्परा के हैं और मारवाड़ के बहुत बड़े भाग में थोड़े थोड़े रूपान्तर से प्रचलित हैं। राजस्थान के साहित्य का अभी पर्याप्त अनुसन्धान नहीं हुआ है, अतः उसके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक बहुत अधिक नहीं कहा जा सकता है।

प्रमुख सूफी कवि

मलिक मुहम्मद जायसी—

ये सूफी कवियों में सर्वश्रेष्ठ तथा प्रेममार्गी शाखा के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। इनका जन्म गाजीपुर में हुआ बताया जाता है। पर इनका जीवन जायस में बीता था। इनकी प्रसिद्ध रचनायें पदमावत, अखरावट और आखिरी कलाम है। इन्होंने अपना जन्म हिजरी नवीं शताब्दी में बताया है। इन्होंने पदमावत का रचनाकाल हिजरी सन् ९२७ लिखा है। इस हिसाब से यह ईसवी सन् १५२० होती है। पर कुछ लोगों ने इसे ९४७ पढ़ा है और उसी हिसाब से पदमावत की रचना का प्रारम्भ सन् १५४०-४१ मानना चाहते हैं। पर यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता है

क्योंकि सन् १५४२ में इनकी मृत्यु बताई जाती है। इसमें शुक्लजी का मत समन्वयवादी सा है। वे पदमावत की रचना का प्रारम्भ तो सन् १५२० ही मानते हैं। पर उनका अनुमान है कि इस ग्रन्थ की समाप्ति प्रायः २० वर्ष बाद हुई होगी।

जायसी शरीर से कुरूप थे, पर भगवान ने इन्हें बहुत पवित्र एवं निर्मल भक्त हृदय प्रदान किया था। इनके हृदय में मानव मात्र के प्रति सहृदयता और प्रेम की भावना थी। कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों में पारस्परिक प्रेम और ऐक्य का जो प्रयत्न किया था, उसका आधार शुष्क सिद्धांत मात्र थे। ज्ञान मार्गी संतों ने परोक्ष सत्ता की एकता का प्रतिपादन कर दिया था। उन्होंने कट्टरता को दूर करने तथा ऐक्य स्थापन के लिये फटकारने की शैली को अधिक अपनाया। उनमें मानव के पारस्परिक प्रेम की हृदयस्पर्शी व्यंजना का अभाव रहा। इन प्रेम-मार्गी संतों ने मानव-हृदय की उस अवस्था के दर्शन कराये जिसमें वह पारस्परिक मतमतान्तर और कटुता को भूलकर ऐक्य, प्रेम एवं सहानुभूति का अनुभव करता है। इन्होंने मानव जीवन की उन सामान्य दशाओं का चित्रण किया जिनका हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समान रूप से अनुभव करते हैं। यही कारण है कि प्रेम मार्गी कवि पारस्परिक मैत्री स्थापित करने में अधिक सफल हुए। मानव जीवन की सामान्य भावदशाओं के हृदयस्पर्शी चित्रण में जायसी सूफी कवियों में सर्वश्रेष्ठ एवं सबसे अधिक सिद्धहस्त माने जा सकते हैं। जायसी को मानव जीवन की विभिन्न भावदशाओं का बहुत ही सच्चा अनुभव था। इन प्रेममार्गी कवियों की सबसे बड़ी उदारता के दर्शन मुसलमान होते हुए हिन्दू-जीवन की कथाओं को अपनाने में होते हैं। इस कथा के चुनाव में ही इनके कवित्व और प्रभावशीलता की सफलता के बीज अन्तर्हित है। अगर ये लोग हिन्दू-जीवन की अत्यन्त परिचित एवं

लोकप्रिय कथाओं को अपने काव्य का विषय न बताते तो सम्भवतः हिन्दू-मुसलमानों में ऐक्य स्थापन में इतने भी सफल न होते।

पदमावत की कथा के दो भाग हैं। पहले में रत्नसेन और पदमावती के प्रेम तथा नागमती के विरह का वर्णन है तथा दूसरे में अलाउद्दीन के आक्रमण तथा गोरा-बादल के युद्ध का। हीरामन तोते से पदमावती के रूप-सौन्दर्य का बखान सुनकर राजा रत्नसेन पदमावती से प्रेम करने लगा तथा उसे प्राप्त करने के लिये सोलह हजार कुँवर जोगियों के साथ निकल पड़ा। अनेक कष्टों के बाद यह दल सिंघलगढ़ पहुँचा। वहाँ पर कठोर साधना के उपरान्त राजा पदमावती के हृदय में प्रेम का संचार कर सका। जब पदमावती उसी शिव मंदिर में आई जिसमें राजा तपस्या कर रहा था, तो राजा उस अलौकिक रूप-सौन्दर्य को देखकर मूर्च्छित हो गया। इसके बाद पदमावती को प्राप्त करने के लिए राजा को सिंहलगढ़ पर चढ़ाई करनी पड़ी। राजा वहाँ पर कैद कर लिया गया। गंधर्वसेन की आज्ञा से राजा को सूली पर चढ़ाया जारहा था कि जोगियों ने गढ़ को घेर लिया, तथा शिव आदि देवताओं सहायता से उन्होंने राजा को हरा दिया। राजा रत्नसेन और पदमावती का विवाह हो गया तथा कुछ दिन बाद वे चित्तौर आगये।

राजा रत्नसेन ने अपने पंडित राघवचेतन को रुष्ट होकर अपनी सभा से निकाल दिया था। राघवचेतन अलाउद्दीन से जा मिला तथा पदमावती के रूप-सौन्दर्य के वर्णन से उसके हृदय में पदमावती को प्राप्त करने की आकांक्षा जाग्रत करदी। बादशाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। जब चित्तौड़गढ़ नहीं टूट सका तो बादशाह ने संधि का प्रस्ताव भेजा। वहाँ पर दर्पण में उसने पदमावती की परछाईं देखली। उसके बाद बादशाह ने

छल से राजा को कैद करके दिल्ली भेज दिया। राजा को मुक्त कराने के लिए पदमावती अनेक राजपूतों को डोलियों में बैठाकर गोरा बादल के साथ अलाउद्दीन से मिलने के बहाने दिल्ली पहुँची। उसने पति से मिलकर हरम में पहुँच जाने का समाचार बादशाह के पास भेज दिया। वहाँ पर एक लुहार ने राजा की बेड़ियाँ काटदीं। राजा बादल के साथ चित्तौर पहुँच गये। जब बादशाह को धोखे का पता चला तो उसने सेना लेकर पीछा किया। गोरा वहाँ पर बादशाह की सेना से युद्ध करते रहे। चित्तौड़ आने पर राजा रत्नसेन का कुम्भलनेर के राजा देवपाल से युद्ध हुआ। इस युद्ध में दोनों मारे गये। रानी नागमती और पदमावती दोनों राजा के शव को साथ लेकर जल गईं। जब बाद में अलाउद्दीन पहुँचा तो उसे चित्तौर में राख की ढेरी के सिवा कुछ नहीं प्राप्त हुआ।

पदमावती की कथा का पूर्वार्द्ध लोक-प्रचलित कथा पर आधारित है, पर उत्तरार्द्ध में ऐतिहासिकता का मिश्रण है। इस कथा के पूर्वार्द्ध में प्रेम की ही व्यंजना है, पर उत्तरार्द्ध में जीवन के अन्य पक्षों का भी चित्रण हुआ है। रत्नसेन और पदमावती की लोक-प्रचलित प्रेम-कथा के साथ गोरा-बादल की कथा को जोड़कर जायसी ने इस कहानी को और भी अधिक लोकप्रिय बना दिया है। जायसी के बाद इन्हीं दोनों कहानियों का आश्रय लेकर अनेक कवियों ने अपने काव्य रचे हैं। यह काव्य मसनवी शैली पर लिखा गया है। इसमें प्रबन्ध-काव्योचित सौष्ठव के भी दर्शन होते हैं।

जायसी ने पदमावती के रूप-सौन्दर्य का बहुत मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। जायसी इसमें बहुत ही कुशल है। यह नखशिख वर्णन की पद्धति पर किया गया है। इसमें सादृश्य-मूलक अलंकारों का ही अधिक प्रयोग है। उपमान प्रायः सभी परम्परायुक्त है।

इस रूप-वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता अलौलिक सौन्दर्य की कल्पना है। लेखक ने पदमावती के रूप पर उस परमतत्व के सौन्दर्य का आरोप किया है। इसके लिए उन्हें इस रूप में लोकोत्तर एवं सृष्टि-व्यापी प्रभाव की कल्पना करनी पड़ी है। पदमावती के सौन्दर्य को अलौकिक बनाने के लिए उन्होंने उसके अंगप्रत्यंगों का वर्णन करते समय सादृश्यमूलक उपमानों के प्रयोग की अपेक्षा व्यंजना को है। इससे पदमावती का सौन्दर्य लोकोत्तर हो गया है। 'नयन जो देखा कँवल भा' 'बेनी छोरिझार जो बारा, सरग पाताल होइ उजियारा' आदि पंक्तियों में इसी अलौकिक प्रभाव का वर्णन है। कवि ने इसी सृष्टिव्यापी प्रभाव को स्पष्ट करने के लिये इस सौन्दर्य को पारस-रूप कहा है। पदमावती का सौन्दर्य सारे विश्व में लावण्य का प्रसार कर देता है। सारा विश्व स्वर्ण के रूप से शोभायमान हो जाता है। जायसी ने रूप वर्णन में अतिशयोक्ति का खूब उपयोग किया है। अलौकिकता एवं सृष्टिव्यापी प्रभाव की व्यंजना के लिए इनकी नितान्त आवश्यकता थी। पर जायसी का यह अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भाव प्रेरित है। यह संवेदना या अनुभूति की व्यंजना करता है। कवि ने वस्तुव्यंजना द्वारा इसे हास्यास्पद नहीं होने दिया है। जायसी के इस वर्णन में पाठक का ध्यान सर्वत्र ही परोक्ष-सत्ता की ओर रहता है। इससे पदमावती के सौन्दर्य की अलौकिकता तथा सृष्टिव्यापी प्रभाव की अनुभूतिमय व्यंजना हुई है।

जायसी के काव्य की एक और बड़ी भारी विशेषता है, समासोक्ति पद्धति का प्रयोग। समासोक्ति में कुछ विशेषणों के प्रभाव से प्रस्तुत के वर्णन के साथ ही अप्रस्तुत अर्थ भी स्पष्ट उद्भासित किया जाता है। पर इसमें श्लेष की तरह दो अर्थों का पूरा निर्वाह नहीं होता है। जायसी ने प्रस्तुत से अप्रस्तुत परोक्ष सत्ता की व्यंजना करने के लिए समासोक्ति-पद्धति का ही उपयोग

किया है। उन्हें पूरे रूपक का निर्वाह अभिप्रेत नहीं है। 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' वाला रूपक अब मूल ग्रन्थ का नहीं माना जाता है। इससे सिद्ध है कि कवि को रूपक का निर्वाह नहीं करना था। अनेक स्थलों पर प्रस्तुत के माध्यम से अप्रस्तुत की व्यंजना करने में प्रस्तुत का वर्णन बहुत ही अस्पष्ट और गौण हो गया है। ऐसे स्थलों पर केवल अप्रस्तुत की व्यंजना मात्र रह जाती है। काव्य की दृष्टि से ये उत्कृष्ट स्थल नहीं माने जासकते।

जायसी का विरह वर्णन अत्यन्त विशद एवं मर्मस्पर्शी है। संयोगावस्था की रूपगर्विता नागमती विरह में अत्यन्त सामान्य नारी बन जाती है। वह अपने हृदय की विरह-व्यथा की व्यंजना रानी के रूप में नहीं अपितु नारी-जीवन की सर्वसामान्य अनुभूतियों के माध्यम से करती है। सारी प्रकृति को नागमती के साथ सहानुभूति है। नागमती प्रकृति और जगत् की प्रत्येक क्रिया को सजग होकर देखती है। कभी बाहरी उत्ताप और व्यथा को अपने अन्दर अनुभव करती है, तो कभी बाहरी जगत् का उल्लास उसे अपनी संयोगावस्था की याद दिलाता है तथा उसकी वियोग-व्यथा को और भी तीव्र कर देता है। नागमती अपनी विरह व्यथा को एक क्षण भर भी नहीं भूल पाती है। यही कारण है कि प्रकृति में होने वाला कोई भी परिवर्तन उसके ध्यान से बच नहीं पाता है। वह गिन गिन कर दिन काट रही है, इसीलिए उसके हृदय में बिना किसी प्रकार की प्रतिसंवेदना जाग्रत किये ऋतुओं का आना जाना भी नहीं होता है।

जायसी रहस्यवादी कवि हैं। उन्होंने ईश्वर और जीव के पारस्परिक प्रेम की व्यंजना दाम्पत्य-भाव के आवरण में की है। रत्नसेन जीव हैं तथा पदमावती परमात्मा। यह सूफी पद्धति है। फारस के काव्य में प्रेम की व्यथा का चित्रण पुरुष में अधिक होता है। पुरुष ही प्रियतमा की खोज में निकलता है। जायसी ने भी

इसी रूपक को अपनाया है। जायसी ने इस प्रेम की अनुभूति की व्यंजना रूपक के आवरण में की है। इन्होंने साधनात्मक रहस्यवाद का भी चित्रण किया है। कबीर में रहस्यवाद के इस स्वरूप के अधिक दर्शन होते हैं। जायसी ने सारी प्रकृति में पदमावती के सौन्दर्य को व्याप्त देखा है तथा प्रकृति की प्रत्येक वस्तु को उस परम सौन्दर्य की प्राप्ति के लिए आतुर और प्रयत्नशील दिखाया है। इस प्रकार जायसी को व्याप्त सौन्दर्य के चित्रण का अवसर प्राप्त हुआ है। यही प्रकृति का रहस्यवाद कहलाता है। कबीर ने संसार को माया कहा है, इसलिए उनके काव्य में प्रकृति के रहस्यवाद को स्थान नहीं मिल सका।

जायसी की भाषा ठेठ अवधी है, कवि ने अलंकारों का बहुत सुन्दर प्रयोग किया है। प्रायः अलंकार भाव-प्रेरित है, उनमें केवल चमत्कार और ऊहोक्ति की प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते हैं। अलंकारों का उद्देश्य वस्तुव्यंजना नहीं प्रभावव्यंजकता है।

जायसी प्रेममार्गी-शाखा के प्रथम ही कवि नहीं हैं। इनका विवेचन तो इनके साहित्यिक महत्व के कारण ही पहले किया गया है। इनके पहले भी प्रेममार्गी कवि हुए हैं। कुतुबन भी इसी परम्परा के कवि हैं तथा जायसी से पहले हुए हैं। यहाँ पर इस पद्धति के दो और कवियों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

कुतुबन—

ये शेख़ बुरहान के शिष्य थे। इन्होंने दोहे चौपाइयों में "मृगावती" नामक कहानी लिखी है। इनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी है। इन्होंने मृगावती काव्य की रचना सं० १५५८ में की थी। इसमें चन्द्रनगर के राजकुमार तथा कंचनपुर की राजकुमारी की प्रेमकथा वर्णित है। इस कहानी में सूफी-पद्धति के आध्यात्मिक प्रेम का बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। इसमें त्याग और कष्ट द्वारा भगवान् की प्राप्ति का निरुपण है।

मंझन—

इनके समय के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इनकी "मधुमालती" नामक रचना का थोड़ासा अंश प्राप्त हुआ है। इससे इनकी कवित्व-शक्ति की उत्कृष्टता का परिचय मिलता है। इनकी कल्पनायें बहुत ही कोमल और हृदयस्पर्शी हैं। इनका काव्य इनकी भावुकता एवं सहृदयता का परिचय देता है। इनके वर्णन विशद और हृदयग्राही हैं। कवि ने आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना के लिए प्रकृति के अनेक दृश्यों का उपयोग किया है। यह पाँच चौपाइयों के बाद एक दोहे के क्रम में लिखा गया है।

इन कवियों के अतिरिक्त प्रेममार्गी शाखा के अन्य उसमान, नूरमुहम्द आदि बहुत से कवि हुए हैं।

———

रामभक्ति-शाखा

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद के प्रतिपादन के उपरान्त देश में भक्ति के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत हो गया था। पर भक्ति-आन्दोलन को प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान करने का श्रेय रामानन्द और बल्लभाचार्य को है। रामानन्द विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने रामभक्ति का प्रचार किया था। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके पूर्व रामभक्ति के आचार्य ही नहीं हुए। रामनुजाचार्य के पूर्व शंठकोपाचार्य ने रामभक्ति का प्रतिपादन किया था। स्वयं रामानुजाचार्य के शिष्य कुरेशस्वामी के ग्रन्थों में भी राम की उपासना की स्पष्ट प्रेरणा है। पर रामानन्द ने इस आन्दोलन को नूतन शक्ति प्रदान की। रामानन्दजी के प्रभाव के सम्बन्ध में हम पहले विचार कर चुके हैं।

भक्ति-आन्दोलन ने जीवन में जो व्यापक क्रांति उपस्थित करदी थी, उसका बहुत कुछ श्रेय सगुण भक्तिमार्ग को ही है। किस प्रकार सिद्धों, नाथपंथियों एवं मुसलमानों के आघातों से हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था और वैदिक मर्यादा शिथिल होती चली जारही थी, और भक्ति-आन्दोलन ने किस प्रकार हिन्दुओं को नवीन जीवन-शक्ति प्रदान की इसका विशद विवेचन भक्ति-आन्दोलन के सामान्य परिचय में दिया जा चुका है। हिन्दुओं के धर्म और संस्कृति की संरक्षा का कार्य वस्तुतः सगुण भक्तिमार्ग से ही सम्पन्न हो सका। यही मार्ग वैदिक मर्यादा का अनुसरण करने वाला था। समाज में फैली हुई अव्यवस्था धर्म के व्यापक एवं सर्वाङ्गीण स्वरूप की प्रतिष्ठा से ही दूर हो सकती थी। रामभक्ति-शाखा में राम के मर्यादा पुरुषोत्तम स्वरूप का ग्रहण हुआ। भगवान् का यह स्वरूप, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए आदर्श उपस्थित करने

में सफल हो सका। इसके द्वारा धर्म, सदाचार एवं कर्तव्य के व्यवहारिक स्वरूप का साक्षात्कार कराया जासका। निर्गुणपंथी एवं नाथपंथी साधुओं ने अहंकारमूलक ज्ञानमार्ग एवं अन्तः-साधना को अनुचित महत्व प्रदान करके वैदिक मर्यादा पर जो कठोर आघात किये थे, उनका सामना रामभक्ति-शाखा का समन्वयवादी दृष्टिकोण ही कर सका। भारतीय संस्कृति का जब-जब पुनरुद्धार हुआ तब-तब समन्वयवादी विचारधारा से ही हो सका है, क्योंकि यही भारतीय संस्कृति की मूल भित्ति है। तुलसीदासजी इसे अच्छी तरह समझ गये थे। हिन्दी-साहित्य में तुलसीदासजी ही रामभक्ति के प्रमुख कवि हैं। वे ही इसके निर्मायक हैं, इसलिए उनके काव्य की विशेषता ही रामभक्ति शाखा के प्रतिनिधितत्व में हैं।

तुलसीदासजी ने व्यापक समन्वय बुद्धि का आश्रय लिया था। उन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति में, ग्रहस्थ एवं वैराग्य में, सगुण और निर्गुण आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में समन्वय स्थापित किया है। यह समन्वय राम के चरित्र का आश्रय लेकर ही स्थापित किया जा सकता था। यही रामभक्ति-शाखा की सबसे बड़ी विशेषता है जिससे उसने तत्कालीन जीवन को एक नवीन चेतना प्रदान करदी थी, जिस चेतना के स्पन्दन का आज भी अनुभव हो रहा है। रामानन्द की शिष्य-परम्परा में जो निर्गुण-पंथी संत हुए, उन्होंने भी राम की ही भक्ति की। उनके राम निराकार, निर्गुण एवं निरंजन परब्रह्म के प्रतीक हैं। निर्गुणपंथ के राम के प्रति जाग्रत भक्तिभावना ने रामशाखा की भक्ति के लिए भूमिका तैयार करदी। जब तुलसीदास ने उसी राम में सगुण एवं निर्गुण परब्रह्म के स्वरूप के दर्शन किये और इस प्रकार निर्गुण और सगुण के भेद का परिहार कर दिया तब जनता का उस ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था।

सगुण भक्ति दो भिन्न मार्गों को अपनाकर चली, वैधी और रागानुगा। ये दोनों मार्ग क्रमशः रामभक्ति और कृष्णभक्ति वालों ने अपनाये। रामभक्ति शाखा में वैधी भक्ति का ही प्रधान्य रहा, पर कृष्णभक्ति शाखा ऐकान्तिक प्रेम-साधना का मार्ग अपनाकर चली। रामभक्ति-शाखा के साहित्य में सामाजिक मर्यादा एवं नैतिकता के निर्वाह पर पूरा ध्यान रहा है। राम का मर्यादा-पुरुषोत्तम का स्वरूप इसी के उपयुक्त भी है। इस शाखा के कवियों में दास्यभक्ति का ही प्रधान्य रहा। पर कृष्ण रागानुगा भक्ति के आलम्बन ही बनाये गये। उसमें विधि-निषेधों, एव मर्यादा का ध्यान नहीं रखा गया। वह ऐकान्तिक प्रेम-साधना का मार्ग है। उसमें सामाजिक विधि-निषेधों, बाह्य, कर्त्तव्य-बुद्धि एवं बाह्य नैतिकता का कोई महत्व नहीं रहा। अगर ये ऐकान्तिक प्रेम-साधना में कहीं बाधक हुए हैं तो कृष्णभक्त ने इनका उल्लंघन किया है। कृष्ण के अनन्य प्रेम में सारे विधि-निषेध एवं लौकिक मर्यादा समाप्त हो जाती है। सारे निषेध विधि बन जाते हैं। यही ऐकान्तिक प्रेम-साधना का मार्ग है। रामभक्ति ने इस मार्ग को नहीं अपनाया। रामभक्त को नैतिकता के निर्वाह का हमेशा ही ध्यान रहा है। यहाँ तक कि कहीं-कहीं तो वह कर्त्तव्य और नैतिकता का उपदेश मात्र ही रह गया।

माधुर्य भाव की भक्ति तत्कालीन युग की प्रधान चेतना थी। उसमें भक्त हृदय की जितनी तल्लीनता का प्रदर्शन सम्भव था, उतनी अन्य प्रकार की भक्तियों में नहीं। इसी भावना में भगवान् के प्रति पूर्ण विश्वास एवं समर्पण की सम्यक अभिव्यक्ति हो सकती थी। कृष्णभक्ति-शाखा में इसी का प्राधान्य रहा है। इस प्रकार की प्रमुख युग-चेतना से रामभक्ति-शाखा भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती थी। तुलसीदासजी की भक्ति का प्रधान रूप दास्य ही रहा है। पर गीतावली में ग्राम-बधूटियों का राम के प्रति प्रेम

स्पष्टतः माधुर्य भाव की भक्ति ही है। वहाँ पर गोपियों के से प्रेम का ही चित्रण हुआ है। फिर भी तुलसीदासजी में मर्यादा का पूर्ण निर्वाह रहा है। लेकिन परवर्तीकाल में रामभक्ति शाखा में माधुर्य भाव की भक्ति का बहुत अधिक प्राधान्य हो गया। इस शाखा के भक्त सीताजी को सपत्नी रूप में देखने लगे। जैसे कृष्णभक्तों में राधाभिमानी भक्त हुए, उसी प्रकार इसमें सीताभिमानी भक्त होने शुरू हुए। इस सम्प्रदाय का नाम 'स्वसुखी' हो गया। भक्त लोग स्त्री वेश धारण करके अपनी अनेक स्त्री सुलभ चेष्टाओं से भगवान् को रिझाने का प्रयत्न करने लगे। इसी शाखा में कुछ भक्तों ने अपने ऊपर सीता की सखी के अभिमान का भी आरोप किया। इस सम्प्रदाय का नाम 'तत्सुखी' सम्प्रदाय हो गया। माधुर्य भाव की यह भक्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। पुरुष केवल स्त्री-वेश में ही नहीं रहने लगे अपितु सब प्रकार से स्त्रियों की तरह ही व्यवहार भी करने लगे। यहाँ तक सुना जाता है कि कुछ भक्त तो मासिक धर्म का भी अपने ऊपर आरोप करने लगे। रामभक्ति शाखा में माधुर्य भाव एवं मर्यादा का एक विचित्र सम्मिश्रण भी हुआ। कुछ भक्तों ने अपने ऊपर सीता अथवा सीता की सखी का आरोप किया तथा कुछ ने दशरथ आदि का। यह आरोप मात्र नहीं रहा अपितु व्यवहार में भी वैसा ही परिवर्तन कर लिया गया। दशरथाभिमानी भक्त के आने पर सीताभिमानी भक्त घूंघट निकाल कर बैठने लगा।

भगवान् के सन्निकट बांधवजनों में से किसी भी व्यक्ति का अपने ऊपर आरोप करके जिस भक्तिभावना के प्रदर्शन का प्रारम्भ हुआ, उसमें कहीं-कहीं सच्चे भक्तों के हृदय की गहरी तल्लीनता भी थी और कहीं केवल बाह्य विधान एवं तल्लीनता का नाटक हो। पर कम से कम यह अनुभूति लोकसामान्य-भावभूमि

के इतनी सन्निकट नहीं है, जिससे कि यह लोकप्रिय साहित्य का विषय बन पाती। यही कारण है कि भक्ति के सामान्य स्वरूप ने जीवन को जितनी गहरी प्रेरणा प्रदान की उसका अल्पांश भी सम्प्रदायगत भक्तिभावना नहीं देसकी। सम्प्रदायगत भक्ति-भावना में हृदय की सच्ची एवं गहरी अनुभूति का स्थान केवल बाह्य आडम्बरों और विधि-विधानों ने ले लिया था, जो साहित्य को चेतना एवं प्रगति नहीं दे सकते थे। उसका साहित्य केवल उनके सम्प्रदाय तक ही सीमित हो गया। भक्तिमार्ग की सभी शाखाओं की यही परिणति हुई। सभी मार्ग अन्त में जाकर सम्प्रदायों के भेदों और उपभेदों में पर्यवसित हो गये। इस साम्प्रदायिक रूप में भक्ति की सभी शाखायें आज भी विद्यमान हैं पर अब उनमें जनसाहित्य की चेतना प्रदान करने की क्षमता नहीं है।

प्रमुख कवि

गोस्वामी तुलसीदास—

तुलसीदासजी हिन्दी-साहित्य क्षेत्र के सूर्य हैं, भारतीय संस्कृति के सर्वाङ्गीण रूप के चित्रण करने वाले सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। पर अब तक उनका कोई प्रमाणिक जीवन चरित्र नहीं प्रस्तुत हो सका है। उनके जन्म-स्थान, तिथि आदि के सम्बन्ध में आज भी हिन्दी के विद्वान् एकमत नहीं हैं। कुछ इनका जन्म स्थान सोरों के पास बदरिया नामक स्थान बताते हैं, तथा कुछ बांदा जिले का राजापुर नामक ग्राम मानते हैं। दोनों पक्षों के विद्वान् अपने मत के समर्थन में प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। पर अब तक इस सम्बन्ध में कोई एक मत निश्चित नहीं हुआ है। तुलसीदासजी के जीवन पर प्रकाश डालने वाली सामग्री निम्न-लिखित पुस्तकों से प्राप्त होती है। १—बाबा बेनीमाधवदासजी का मूल-गोसाईं-चरित, २—बाबा रघुवरदासजी का 'तुलसी चरित'

३—नाभादासजी का भक्तमाल तथा प्रियादासजी की उस पर टीका ४—मानस मंयक। इसके अतिरिक्त स्वयं कवि ने भी अपने ग्रन्थों में अपने सम्बन्ध में यत्रतत्र कुछ कहा है। इन कथनों से तुलसीदासजी के जीवन चरित की अपेक्षा उनके स्वभाव आदि पर अधिक प्रकाश पड़ता है।

गोस्वामीजी का जन्म संवत् दोनों चरितों के आधार पर १५५४ (विक्रमी) और पंडित रामगुलाम द्विवेदी तथा डा० गियर्सन के अनुसार सं० १५८९ माना जाता है। तुलसीदासजी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम आत्माराम दूबे तथा माता का नाम हुलसी था। इनके जन्म के सम्बन्ध में एक जनश्रुति है कि ये अभुक्त मूल नक्षत्र में उत्पन्न हुए थे। ये जब उत्पन्न हुए तो पूरे पाँच वर्ष की अवस्था के से बालक थे। इनके दाँत भी थे। इस प्रकार के विचित्र बालक को घरवालों ने राक्षस समझा और उसका त्याग कर दिया। जिस किसी तरह बालक का पालन पोषण हुआ। बाबा नरहरिदास ने इनको अपने पास रख लिया। इन्हीं के साथ गोस्वामीजी काशी आगये। वहां पर १५ वर्ष तक वेद-वेदांग का अध्ययन करके तुलसीदासजी अपने घर वापिस आगये।

घर आने पर तुलसीदासजी की विद्या-बुद्धि पर प्रसन्न होकर भारद्वाज गोत्र के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण ने अपनी कन्या रत्नावली से इनका विवाह कर दिया। तुलसीदासजी को अपनी स्त्री से अत्यधिक प्रेम था। एक बार वे अपनी स्त्री से मिलने के लिए नदी पार करके उसके मायके गये। वहाँ उनकी स्त्री ने 'अस्थि-चर्ममय' शरीर के प्रति इतनी, अधिक आसक्ति होने के लिए उन्हें धिक्कारा तथा राम के प्रति प्रेम करने की प्रेरणा प्रदान की। गोस्वामीजी अपने गुरु से रामकथा पहले ही सुन चुके थे। उनके हृदय में भक्ति के गहरे संस्कार तो पहले से ही

विद्यमान थे, इसलिए पत्नी की इस भर्त्सना ने उनकी सुषुप्त भक्तिभावना एवं कवित्व-शक्ति को जगा दिया। इसी दिन भक्त तथा कवि तुलसीदास का वास्तविक जन्म हुआ। इस घटना ने तुलसी की जीवन-धारा को बिल्कुल नूतन दिशा प्रदान करदी। उनके समक्ष मिशन प्रस्तुत कर दिया। तुलसीदासजी का आविर्भाव इसी के लिए हुआ था। पर इस घटना के अभाव में संभवतः तुलसी अपनी जीवन-व्यापी अनुभूति, और समन्वयवाद पर अधिष्ठित नूतन जीवन-चेतना को अभिव्यक्ति की प्रेरणा ही नहीं प्राप्त करते।

घर से विरक्त होकर तुलसीदासजी कुछ दिन तक काशी और अयोध्या में रहे। उसके बाद वे तीर्थाटन के लिये निकल पड़े। उन्होंने बहुत वर्षों तक अनेक स्थानों का भ्रमण किया। उन्हें जीवन के उन्मुक्त एवं विशाल क्षेत्र को देखने तथा उसके विभिन्न स्वरूपों के अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ। गोस्वामीजी ने प्रायः समस्त देश का भ्रमण किया था। उन्हें यह अनुभव हुआ कि देश का जीवन किसी उच्च आदर्श पर नहीं चल रहा है। उस समय जीवन विलासिता में डूबता जारहा था। धन को ही मर्यादा का मापदण्ड माना जाने लगा था। इसके परिणाम-स्वरूप जनता धन के लिए निन्दनीय कार्य करने से भी नहीं चूकती थी। समाज का संगठन दिन प्रतिदिन शिथिल होता जारहा था। समाज के निम्नस्तर के व्यक्ति वर्णव्यवस्था से असंतुष्ट थे। जाति-पाँति के बन्धन दिन प्रतिदिन कठोर होते जारहे थे। उच्चस्तर के व्यक्तियों में भी निम्नस्तर वालों के लिए घृणा की भावना बढ़ती जारही थी। भक्तिमार्ग के साधुओं को धूत, अवधूत आदि नामों से पुकार करके उनकी अवहेलना और निन्दा की जाती थी। इधर निम्नस्तर के व्यक्तियों में जब थोड़ी सी स्वाधीनता की भावना जागती थी तो वे साधु बन जाते थे। इस प्रकार गृहस्थों की

अपेक्षा साधुओं की संख्या बढ़ती जारही थी। भक्ति-आन्दोलन भी निम्नस्तर के व्यक्तियों द्वारा ही संचालित था। नाथ-सम्प्रदाय का प्रभाव ही सबसे अधिक था। ये निर्गुण-भक्ति के साधु संत शास्त्रों का अध्ययन नहीं करते थे, केवल सहज भक्ति का उपदेश देते थे तथा वेदमार्ग की निन्दा करते थे। इन लोगों का आत्म-विश्वास अहंकार की सीमा तक पहुँच गया था। साधारण से साधारण साधु भी अपने आपको शास्त्रज्ञ पंडित से ऊँचा मानता था। 'अहम् ब्रह्मास्मि' की आड़ में अहंकार और पाखंड पुष्ट हो रहे थे। इस प्रकार के साधुओं द्वारा निम्नस्तर के व्यक्तियों में शास्त्रज्ञ एवं उच्चस्तर के व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा और घृणा का भावना जाग्रत की जारही थी। तुलसीदासजी समाज की इस अवस्था को देखकर बहुत ही क्षुब्ध हुए। समाज की ऐसी दुर्दशा ने बाल्मीकि की तरह तुलसी के हृदय में भी करुणा और मंगल की भावना जाग्रत हो गई और उनका हृदय द्रवित हो गया। यही द्रवित हृदय कविता के रूप में बह पड़ा। सच्ची कविता ऐसे ही महान् मंगलमय एवं शीलवान् के हृदय का सहज उद्रेक होता है। तुलसीदासजी ने एक तरफ समाज की इस दुरवस्था का अनुभव किया तो दूसरी तरफ उन्होंने विशेषतः तीर्थ-स्थानों और दक्षिण में बहते हुए भक्ति के पावन स्रोत का भी साक्षात्कार किया। भक्ति के इस स्रोत ने उनके हृदय में आत्मविश्वास उत्पन्न कर दिया। उन्हें इसी में लोकमंगल के स्पष्ट दर्शन हुए। उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया कि भक्ति ही समाज में सुव्यवस्था और मंगल की स्थापना कर सकती है; इसी के द्वारा वेद-मर्यादा की रक्षा और समन्वय की स्थापना हो सकती है। यही कारण है कि तीर्थाटन से वापिस लौटकर गोस्वामीजी ने २ वर्ष में रामचरित-मानस का सृजन किया तथा देश को जीवन का एक व्यापक आदर्श और चेतना प्रदान की। यह चेतना नूतन होते हुए भी अत्यन्त

प्रचीन एवं देश की संस्कृति के अनुरूप थी, इसमें सम्पूर्ण देश को पुनः जीवित कर देने की अमोघ शक्ति थी।

तुलसीदासजी को जीवन में घृणा, भर्त्सना और अवहेलना सहनी पड़ी थी। उन्हें दरदर भटकना पड़ा, पर भगवान् ने उन्हें इन सबके सहने की अमोघ शक्ति प्रदान की थी। वे सारे विष को अपने गले में ही रखकर मंगलमय हो गये। उनके हृदय में ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास और श्रद्धा जाग गई। उनका हृदय अत्यन्त नम्रता, सरलता और विनम्रता से परिपूर्ण हो गया। उनमें लोकसंग्रह और मंगल की आकांक्षा तीव्रतर होकर जाग उठी। समाज के निम्नस्तर के व्यक्तियों में भक्ति का जो आन्दोलन चल रहा था, उसमें उन्होंने सम्पूर्ण देश और जाति के कल्याण की क्षमता के दर्शन कर लिये थे। उनके गुरु ने उनको जो रामकथा सुनाई थी, उससे उनको उपयुक्त आदर्श प्राप्त हो गया। शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन ने उनको समन्वय-बुद्धि प्रदान कर दी। इस प्रकार तुलसी जिन संस्कारों के साथ उत्पन्न हुए थे जीवन की परिस्थितियों ने उन्हीं संस्कारों से उनके पुष्ट और महान् व्यक्तित्व का निर्माण कर दिया। परिस्थितियों ने उनके हृदय में सुप्त लोकमंगल की भावना को प्रबुद्ध कर दिया तथा उसके उपयुक्त आदर्श एवं समन्वय बुद्धि भी प्रदान कर दी। तुलसी अन्य सभी प्रतिभाओं की तरह अपने युग से ही निर्मित हुए थे, पर भगवान् की ओर से उन्हें ऐसा महान व्यक्तित्व प्राप्त हुआ था कि उन्होंने नवीन युग का ही निर्माण कर दिया। युग के भावी विकास एवं निर्माण की आकांक्षा तुलसी का आश्रय पाकर ही साकार हो सकी। यह तुलसी जैसे महान् प्रतिभा की ही शक्ति थी कि देश, जाति और सम्पूर्ण युग एक नवीन दिशा और आदर्श को अपना सके। तुलसी केवल परिस्थितियों का सामान्य परिणाम मात्र नहीं थे, वह युग निर्माता प्रतिभा थी। भगवान बुद्ध और भगवान् शंकराचार्य के

बाद तुलसी ही ऐसी महान् शक्ति थी जिसने देश को नवीन जीवन दिया था।

तुलसीदासजी द्वारा अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे, ऐसा माना जाता है। पर अब तक शोध के आधार पर उनके केवल १२ ग्रन्थ ही प्रामाणिक माने जाते हैं। इनमें से छः छोटे और छः बड़े ग्रन्थ हैं। बड़े ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—रामचरित-मानस, कवितावली, दोहावली, विनयपत्रिका गीतावली और श्रीकृष्ण-गीतावली है। रामलला नहछू, जानकी मंगल, पार्वती-मंगल, बरवै-रामायण, रामाज्ञा-प्रश्न, तथा वैराग्य-संदीपनी छोटे छः ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त तुलसीदासजी के नाम से अन्य जितने भी ग्रन्थ प्रचलित हैं, उन सबकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

समन्वय की भावना तुलसी के काव्य की प्रधान विशेषता है। उन्होंने केवल विचार के क्षेत्र में ही समन्वय नहीं स्थापित किया है। अपितु काव्य की सभी प्रचलित शैलियों को अपनाकर काव्य-पद्धति में भी समन्वय स्थापित कर दिया है। उन्होंने लोक-साहित्य की शैलियों को शास्त्रीय रूप और साहित्यिक प्रौढ़ता प्रदान की। इन सभी पद्धतियों में कवि की निपुणता और साहित्यिक सौष्ठव के दर्शन होते हैं। सब पर तुलसी के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। इन्होंने निम्नलिखित पद्धतियों में रचना की है:—

(१) तुलसीदासजी ने सूर और विद्यापति की गीत-पद्धति में विनय-पत्रिका और गीतावली की रचना की है। गीतावली में मार्मिक स्थलों एवं हृदय की विभिन्न भाव-दशाओं की बहुत सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। इसमें अनेक रसों के समावेश तथा उन्हीं के अनुकूल भाषा एवं शैली की मधुरता और कर्कशता के कारण सूर की सी एक रसता नहीं है, अपितु विविधता है। गीतावली में सूर के बालवर्णन का अनुकरण सा है, पर रामचरित की अनेक-रूपता के भी दर्शन होते हैं। कृष्ण की तरह राम की लीला का वर्णन तो

है पर राम के हृदय में सीता की सखियों एवं पुर की नारियों के प्रति पूज्यभाव का चित्रण कर के मर्यादा की रक्षा की गई है। विनय-पत्रिका भक्ति का बहुत उत्कृष्ट ग्रन्थ है। देवस्तुति में संस्कृत का पदविन्यास भावानुकूल है। जयदेव के 'गीतगोविद' से तुलसी में यही विशेषता है। संस्कृत पदावली के प्रयोग द्वारा भाषा को भावानुकूल और प्रौढ़ बनाने की क्षमता तुलसी की भाषा की प्रधान विशेषता है।

(२) कवितावलीभाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति में लिखी गई है। इसमें भी प्रसंगों और रसों की अनेकता के कारण भाषा की विविधता के दर्शन होते हैं। कवि ने इन छन्दों को कोमल और कठोर दोनों प्रकार के प्रसंगों के उपयुक्त सिद्ध कर दिया है। जहाँ मधुर प्रसंगों में भाषा कोमल है वहाँ भयानक, रौद्र और वीर रसों के स्थलों में भाषा का ओज और कठोरता भी दर्शनीय है।

(३) नीति के उपदेश की पद्धति पर भी तुलसी ने दोहावली तथा मानस में अनेक दोहों की रचना की है। प्रसिद्ध रामचरित-मानस दोहे चौपाई की शैली में लिखा गया है। यह प्रबन्ध-काव्य जायसी की काव्य-पद्धति में लिखा गया है। जायसी ने ठेठ अवधी का प्रयोग किया है, पर तुलसीदास जी की भाषा संस्कृत गर्भित है। इस प्रकार तुलसीदासजी ने परम्परा से प्राप्त काव्य की सभी शैलियों को रामचरित से सम्बद्ध कर दिया तथा उन्हें शास्त्रीयता एवं साहित्यिक प्रौढ़ता प्रदान कर दी।

तुलसीदासजी का काव्य-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों की तरह किसी एक ही भाव को नहीं अपनाया है उनके काव्य में जीवन के सम्पूर्ण स्वरूप का चित्रण हुआ है। जीवन की सभी स्थितियों के दृश्य हैं। जीवन एवं भारतीय संस्कृति की सम्पूर्णता के कारण ही तुलसीदास प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। उनमें विरागपूर्ण भगवद्भक्ति तथा लोकसंग्रह की

भावना का सामंजस्य है। उन्होंने दर्शन और जीवन के क्षेत्र में पूर्ण समन्वय स्थापित किया है। निर्गुण और सगुण, कर्म, ज्ञान और भक्ति, वैराग्य और आसक्ति, शैव और वैष्णव आदि सभी विरोधों में सामंजस्य स्थापित हो गया है। उनकी दास्यभाव की भक्ति सामाजिक मर्यादा के उपयुक्त है लेकिन वे सूर के माधुर्यभाव और कबीर की निर्गुण-भक्ति की उपेक्षा नहीं कर सके हैं। वे इन सभी को स्वीकार करते हैं तथा इनमें भी समन्वय स्थापित कर देते हैं। उन्होंने भगवान् राम की नर-लीला का वर्णन किया है और सभी उस नर-लीला का रसास्वाद करते हैं। फिर भी तुलसी भगवान के अलौकिक रूप को कभी नहीं भूलते हैं। उसकी निरन्तर याद दिलाते रहते हैं। नर और नारायण के पूर्ण समन्वय से उनके काव्य में अलौकिक और अनिवर्चनीय आह्लाद की क्षमता आ जाती है। भगवान् निर्गुण और निराकार होते हुए भी परम प्रेममय, भक्तों पर परम अनुग्रह करने वाले तथा परम शान्ति प्रदान करने वाले हैं। वे लोकसंग्रह के लिए सगुण रूप धारण करके नर-लीला करते हैं।

तुलसी के रामचरित-मानस में भक्ति और काव्य का पूर्ण सामंजस्य है। कहीं-कहीं कथा-प्रवाह की दृष्टि से कुछ बाधा भी पड़ती प्रतीत होती है, पर तुलसीदास जी ने इन दोनों के सामंजस्य में बहुत ही कुशलता से कार्य किया है। जैसे तुलसीदासजी उच्च कोटि की भक्ति की व्यंजना में सफल हुए हैं वैसे ही वे प्रबन्ध-पटुता का भी निर्वाह कर सके हैं।

तुलसी के चरित्र अलौकिक पुरुष हैं, उन सभी में कोई न कोई दैवी शक्ति है। राम-सीता तो साक्षात् ब्रह्म और आदिशक्ति के स्वरूप ही हैं। इनके अतिरिक्त लक्ष्मण, भरत, हनुमान, अँगद आदि भी किसी न किसी दैवी शक्ति के अवतार हैं। ये सब भगवान की नरलीला के साधन बनने के लिए अवतीर्ण हुए हैं। उनमें साधारण मानव से कहीं अधिक सामर्थ्य का चित्रण हुआ है, पर फिर भी वे

हमें अपने जीवन में घुलेमिले प्रतीत होते हैं। उनमें हमें अपनी जीवन की समवेदना के दर्शन होते हैं। उनमें मानव की स्वाभाविकता का निर्वाह है। सब से बड़ी विशेषता तो इन चरित्रों की यह है कि वे जीवन के किसी न किसी क्षेत्र में हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं। वे जीवन और धर्म के संकटापन्न क्षणों में आशा और उत्साह का संदेश देते हैं, और कर्त्तव्य-पथ का निर्देश करके हमें स्फूर्त्ति प्रदान करते हैं।

तुलसीदासजी का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। उनकी भाषा भावानुकूल झट बदल जाती है। उसमें एक अद्भुत लचक है। तुलसीदासजी ने भाषा में शास्त्रीयता और काव्योपयोगिता का सामंजस्य कर दिया है। उनके अलंकार भी भावको हृदयस्पर्शी कर ने के लिये ही आये हैं। उन्होंने नवीन उपमाओं की भी कल्पना की है पर उनकी अलंकार योजना भाव प्रेरित ही है।

तुलसीदासजी हिन्दी-साहित्य के महान् कवि हैं। उनमें भक्त-कवि, पंडित, ज्ञानी, लोकसंग्रहकारी, वैरागी आदि अनेक रूपों का बहुत सुन्दर सम्मिश्रण हो गया है। इन सभी रूपों का समान महत्व प्रतीत होता है। यही कारण है कि तुलसीदासजी इतनी व्यापक और चिरस्थायी प्रेरणा प्रदान कर सके हैं।

तुलसीदास जी रामभक्ति शाखा के सब से प्रधान कवि हैं। उन्होंने इतने विशाल साहित्य का सृजन किया है कि अन्य सभी कवियों का यश फीका पड़ गया है। इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से कवि हुए हैं। इनमें से अग्रदास जी, नाभादास जी, प्राणचन्दजी, हृदयरामजी आदि हैं। केशवदासजी भी रामभक्ति शाखा के ही कवि माने जाते हैं, पर इनका विवेचन 'रीतिकाल' में किया जायेगा। राम-भक्ति के साथ ही हनुमान जी की भक्ति भी प्रारम्भ होगई थी। 'हनुमान-बाहुक', 'संकटमोचन' आदि रचनायें इसी कोटि की

है। रींवा के रघुनाथसिंह और विश्वनाथसिंह ने भी रामकाव्य का प्रणयन किया है।

नाभादासजी ने 'भक्तमाल' की रचना की है। इसमें भक्तों का जीवनचरित है। इसके जीवन चरित संक्षिप्त है। यह ग्रन्थ प्रायः सूत्रशैली में है। प्रियादास ने इसकी विस्तृत टीका करदी है। उसमें भक्तों का जीवनचरित कुछ अधिक विशद है। यह ग्रन्थ भक्ति-साहित्य के अध्ययन के लिए बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका बंगला में भी अनुवाद हुआ है।

प्राणचन्द जी ने 'रामायण महानाटक' तथा हृदयराम ने 'हनुमान नाटक' का सृजन किया है। ये दोनों ग्रन्थ संवाद की शैली में ही हैं। इसीलिए इनको नाटक के नाम से पुकारा जाता है। वैसे भी इनमें नाटकीय तत्वों का प्रायः अभाव सा है।

———

कृष्णभक्ति-शाखा

श्री महाप्रभु बल्लभाचार्य जी के शुभागमन से उत्तरी भारतवर्ष में कृष्ण-भक्ति एवं भक्ति-सामान्य के आन्दोलन को नवीन स्फूर्ति प्राप्त होगई थी। ऐकान्तिक प्रेम-साधना की कृष्ण-भक्ति तत्कालीन एवं उसके परवर्ती कम से कम दो शताब्दी के जीवन एवं साहित्य की प्रमुख प्रेरणा बन गई। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इसके पूर्व कृष्ण-भक्ति की परम्परा ही नहीं थी। जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास आदि की गेय रचनायें इसकी प्राचीनता के प्रमाण हैं। ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्णलीला का गान करने की परम्परा थी, ऐसा ऐतिहासिकों का अनुमान है। जयदेव का 'गीत-गोविन्द' उसी परम्परा का विकास है। पूर्वी भारत में ही इस प्रकार की परम्परा के उदाहरण उपलब्ध नहीं होते हैं अपितु सम्पूर्ण उत्तरी भारत में ही यह परम्परा ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास वर्तमान रही होगी। काश्मीर के उसी काल के कुछ कवियों के रचे हुए कृष्णलीला के गीत आज भी उपलब्ध होते हैं। सूरदास जी के पद ब्रजभाषा के लिखित-साहित्य की परम्परा में सर्व प्रथम माने जा सकते हैं। पर उनके प्रौढ़, परिमार्जित एवं इतने उत्कृष्ट साहित्यिक स्वरूप को देख कर शुक्लजी भी यह मानना चाहते हैं कि ये किसी पूर्ववर्ती लम्बी परम्परा के विकास हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कृष्ण-भक्ति जो हिन्दी में कई शताब्दियों तक साहित्य का प्रमुख वर्ण्य-विषय एवं प्रधान चेतना रही है, वह कोई मुस्लिम काल की देन नहीं है। वह तो एक लम्बी परम्परा का विकसित रूप मात्र है, जिसका सम्बन्ध भारत की मूलभूत संस्कृति ही से है। सामयिक परिस्थितियों ने इस साहित्य के विकास के उपयुक्त वातावरण अवश्य तैयार कर दिया था।

श्रीकृष्ण के लीला-पुरुषोत्तम-रूप के आश्रय से प्रेम-लक्षणा-भक्ति के प्रचार में सामयिक परिस्थितियों ने ही बहुत अधिक सहयोग दिया है। स्वयं वल्लभाचार्यजी ने 'कृष्णाश्रय' नामक प्रकरण-ग्रन्थ में उन परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिनके कारण कृष्ण की प्रेम-लक्षणा भक्ति का आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक हो गया था। मुसलमानों की शक्ति की सुदृढ़ता के कारण जनता पर इस्लामी संस्कार बराबर बढ़ते जारहे थे। निर्गुण सन्तों के बढ़ते हुए प्रभाव से वैदिक मर्यादा के प्रति लोगों की आस्था दिन प्रतिदिन कम होती जा रही थी। सूफियों के प्रेम की पीर जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी। ऐसी अवस्था में हिन्दू अपने आपको निराश्रित सा अनुभव करता था। हिन्दू-जीवन में नैराश्य की मात्रा बढ़ती जा रही थी। रामभक्ति-शाखा की वैधी भक्ति ने वैदिक मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उसने भारतीय संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्त समन्वय का पुनः प्रतिपादन किया। जनता की बुद्धि में समन्वय-वाद का सिद्धान्त एक बार फिर बैठ गया। वैदिक-मर्यादा उन्हें तर्क-सम्मत प्रतीत होने लगी, उसमें उनका विश्वास दृढ़तर तो होने लगा। पर इससे उनके हृदय में छाई हुई निराशा कम नहीं हो सकी। वैदिक मर्यादा की शृंखलायें भी उन्हें बहुत कठोर प्रतीत हुई। भगवान के प्रति महत्व बुद्धि से प्रेरित दास्य-भाव की भक्ति उनके हृदय में पूर्ण आशा का संचार नहीं कर सकी। उसके लिए प्रेम-लक्षणा भक्ति की आवश्यकता थी। कृष्ण-भक्ति की ऐकान्तिक प्रेम-साधना में वैदिक एवं लौकिक मर्यादा का पालन आवश्यक नहीं है। उसमें भक्त भगवान् को अपना पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता है। यह भक्ति इन मर्यादाओं का अतिक्रमण करने से ही प्राप्त हो सकती है। भगवान् के परम अनुग्रह से ही जीव में यह भावना जाग्रत हो सकती है। इसीलिए बल्लभाचार्य जी के भक्तिमार्ग को 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं।

[बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद एवं पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों से ही प्रमुख रूप में कृष्ण-भक्ति का स्वरूप-संघटन हुआ है। उसमें भगवान् कृष्ण के लीला-पुरुषोत्तम-रूप का ग्रहण हुआ है। भगवान् का यह स्वरूप सगुण और निर्गुण दोनों से अतिक्रान्त पूर्ण परब्रह्म है। यह जगत् भगवान् की लीला है। भगवान् कृष्ण गोलोक में नित्य रास करते रहते हैं। वहां पर नित्य रूप में यमुना वृन्दावन आदि सब कुछ हैं। पुष्टिमार्ग की दृष्टि से इसी लीला का आनन्द लेना और इस शाश्वत रास में भाग लेना ही जीव का परम कल्याण है। कृष्णभक्त कवियों ने इसी लीला का गुणगान किया है।|वह इस रास का एक अंश बन कर ही इसका आनन्द लेता है, अपने ऊपर राधा, सखी अथवा सखा का आरोप करके इसका रसास्वाद करता है। कृष्ण-भक्ति के विकास एवं स्वरूप-संघटन में अनेक दार्शनिक एवं भक्ति-सम्प्रदायों ने सहयोग दिया है। पर सभी प्रकार के भक्ति-सम्प्रदायों में कृष्ण के मधुर रूप का ही ग्रहण हुआ है। उसमें भगवान की ब्रजलीला को ही महत्व दिया गया है। उनके कर्मयोगी अथवा लोकरक्षक-स्वरूप की ओर कृष्णभक्त कवियों का ध्यान बहुत कम गया है। यही कारण है कि कृष्ण के आश्रय से जिस भक्ति का विकास हुआ उसमें माधुर्य-भाव की भक्ति का ही प्राधान्य रहा। सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने राधाकृष्ण की प्रेम-लीला का ही वर्णन किया है जो गीतिकाव्य के लिए ही उपयुक्त रहा। इसीसे भगवान कृष्ण की लीला को लेकर जीवन की सर्वाङ्गीण चेतना प्रदान करने वाला कोई महाकाव्य नहीं लिखा गया। वस्तुतः इन भक्त कवियों को कर्त्तव्य-पालन, धर्म मोक्ष आदि की सर्वाङ्गीण चेतना प्रदान करना अभीप्सित भी नही था। वे तो कृष्ण की लीला के रसास्वाद में इन सब के पर्यावसान में ही भक्त हृदय की उत्कृष्टता मानते थे। वास्तव में भक्ति की इस चरम अवस्था में इस प्रकार के विधि-विधानों की मर्यादा रह भी नहीं जाती है। लेकिन इस

अवस्था तक सबका पहुँच जाना सम्भव नहीं। उच्चकोटि के कृष्ण-भक्तों ने लौकिक वासनाओं और रसों को अलौकिक कर दिया। इस भक्ति में किसी भी वासना के त्याग और शमन की आवश्यकता नहीं, उन्हें भगवान को समर्पित करने से उनका कल्मष दूर हो जाता है और वह अलौकिक आनन्द का हेतु बन जाती है। इससे मानव की प्रधान भूख की तृप्ति हुई। मानव को अपनी अनुराग-लालसा की तृप्ति अलौकिक रसास्वाद द्वारा करने का अवसर मिल गया। इसमें कर्त्तव्य-बुद्धि की रचना अनन्य प्रेम तथा जीव की साधना का स्थान भगवान् के परम अनुग्रह ने ले लिया। तमाम लौकिक वासनाओं को अलौकिक स्वरूप प्रदान करनेवाले इस अनन्य प्रेम तथा भगवान् के परम अनुग्रह के प्रति असीम श्रद्धा ने ही उस काल के जीवन में आशा का संचार किया। यह भक्ति उस काल के जीवन के अनुरूप थी, इसीलिए कई शताब्दियों तक वह जीवन और साहित्य की प्रमुख चेतना और प्रेरणा-शक्ति के पद पर अधिष्ठित रही। इससे जीवन में सरसता आई। नीति, कर्त्तव्य आदि की कठोरता एवं संयमशीलता तथा तत्व-चिंतन से जन्य शुष्कता को दूर करके उसमें रस का संचार कर देने का श्रेय इसी भक्ति मार्ग को है। पर यह मार्ग जहाँ उच्चकोटि के भक्तों के लिए अलौकिक आह्लाद प्रदान करने वाला था, वहाँ पर निम्नकोटि के व्यक्तियों के लिए केवल विलास-वासना की जागृति का साधन मात्र बन गया। इसमें राम-भक्ति की तरह जीवन के सब स्तरों और क्षेत्रों में चेतना प्रदान करने की क्षमता नहीं थी। यही इस भक्ति के ह्रास का कारण था। पन्द्रहवीं शताब्दी में जिस अमोघ जीवनी शक्ति के साथ भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, वह चार शताब्दियों तक जीवन का संबल बना रहा। पर धीरे-धीरे क्षीण बल भी होता गया। उसमें मोहकता और सरसता तो रही पर जीवन को बदलती हुई परिस्थितियों

में मानव चेतना प्रदान करने तथा पथप्रदर्शन की सामर्थ्य नहीं रही।

कृष्ण-भक्ति के आश्रय से हिन्दी को शृङ्गार, वात्सल्य और भक्ति की जो अनुपम पदावली प्राप्त हुई वह अपने कोटि की अद्वितीय वस्तु है। उसमें माधुर्य और सरसता का स्रोत ही उमड़ पड़ा है। उसमें हृदय को रसान्वित करने की विचित्र शक्ति है। कृष्ण-भक्त कवियों की उत्कृष्ट प्रतिभा का आश्रय पाकर ब्रजभाषा धीरे-धीरे परिमार्जित होती गई और एक प्रौढ़ साहित्यिक भाषा में विकसित हो गई। उसमें विचित्र व्यंजना-शक्ति की सामर्थ्य आ गई। सूर के पदों में इसके दर्शन होते हैं। बाद में रीतिकाल में तो भाषा का सामर्थ्य और भी अधिक प्रकट हुआ। यह साहित्य प्रधानतया मधुर एवं कोमल रसों तक ही रहा। ब्रजभाषा गेय पदों का अक्षय भण्डार बन गई। ब्रजभाषा कृष्ण की लीला का आश्रय प्राप्त करके कृष्ण के मधुर रूप से ओतप्रोत होकर जैसे मानो कृष्णमय ही हो गई। कृष्ण का माधुर्य जैसे मानो उसकी अपनी निजी सम्पत्ति ही हो गई। जिस प्रकार जीवन और साहित्य संकीर्ण होकर कुछ मधुर लीलाओं तक ही सीमित हो गया उसी प्रकार भाषा में लालित्य और माधुर्य का इतना प्राधान्य हो गया कि वह जीवन की कठोरता एवं दार्शनिक गम्भीरता की व्यंजना के उपयुक्त नहीं रह गई। फिर भी कृष्ण-भक्त कवियों ने लोक-साहित्य के गेय पदों की परम्परा को विकसित करके उत्कृष्ट साहित्यिक परम्परा का स्वरूप प्रदान कर दिया। इसी लोक-साहित्य की परम्परा को अपनाने के कारण ही हिन्दी अपभ्रंश से पृथक साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो सकी। अपभ्रंश की अपेक्षा यही उसकी प्रगतिशीलता है। इसी जीवनी शक्ति से अनुप्राणित होकर ही वह विकास कर सकी और इस विकास में कृष्ण-भक्ति शाखा ने महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

ऊपर कहा जा चुका है कि कृष्ण-भक्ति शाखा को अनेक सम्प्रदायों ने प्रभावित किया है। यही कारण है कि कृष्णोपासक कवियों में कृष्ण की आराधना में सूक्ष्म भेद अवश्य हैं। अष्टछाप के सूरदास आदि तथा विद्यापति और मीरा में स्पष्ट अन्तर है। अष्टछाप के कवि बल्लभ सम्प्रदाय के हैं और विद्यापति आदि पर विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क मत का अधिक प्रभाव है। निम्बार्क सम्प्रदाय में रागानुगा भक्ति की अपेक्षा वैधी-भक्ति को अधिक मान्यता दी गई। लेकिन बाद में धीरे-धीरे यह भक्ति भी रसोपासना की ओर अग्रसर होती गई है और इसमें भी माधुर्य-भाव और रसोपासना की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गई। गोसाईं हितहरिवंश की उपासनापद्धति इन दोनों से भी कुछ भिन्न थी। उसमें राधाचरण की प्रधानता हो गई। उसमें सखी भाव का प्राधान्य हो गया। राधा-कृष्ण की रसकेलि का सखी-भाव से आस्वाद करने के कारण विधि-निषेध का सर्वथा त्याग आवश्यक हो गया। इससे यह स्पष्ट है कि यह अष्टछाप की भक्ति से भी कुछ भिन्न उपासना-पद्धति थी। इन दो सम्प्रदायों के अतिरिक्त कृष्णोपासकों का तीसरा प्रमुख सम्प्रदाय अष्टछाप के कवियों का है। श्री बल्लभाचार्यजी के सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने भगवान के गुणगान करने वाले आठ सर्वोत्तम कवियों से अष्टछाप का संघटन किया। इसमें सूरदास कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास हैं। इनमें से प्रथम चार वल्लभाचार्य तथा अन्तिम चार उनके पुत्र के शिष्य थे। यही अष्टछाप है। इन कवियों की भक्ति पुष्टमार्गी भक्ति है। बल्लभाचार्य के सिद्धान्तों के अनुरूप भक्ति के सरल एवं मधुर रूप को इन्होंने ग्रहण किया है। इन्होंने सीमित क्षेत्र को ही लीलागान की मधुर धारा से अभिसंचित किया है। कृष्ण-भक्ति कवियों का यही सबसे प्रमुख सम्प्रदाय रहा है। अधिकांश कृष्ण-भक्त इसी भक्ति-पद्धति को अपनाकर चले हैं।

दूसरे सम्प्रदायों पर इसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। ये तीनों सम्प्रदाय एक दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं। अष्टछाप के कवियों को परवर्ती रचनाओं एवं उनसे प्रभावित परवर्ती कवियों में राधा की उपासना और सखी-भाव का प्राधान्य अपेक्षाकृत बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। वैधी-भक्ति के निम्बार्क-सम्प्रदाय में रसोपासना की ओर प्रवृत्ति बढ़ती गई, यह हम पहले देख चुके हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इन सम्प्रदायों में एक दूसरे को परस्पर में पर्याप्त रूप में प्रभावित किया है। इन्हीं सम्प्रदायों के आश्रय से कृष्ण-भक्ति और साहित्य की प्रमुख चेतना में कुछ विकास का क्रम देखा जा सकता है। उसके विकास की कुछ रूपरेखाओं को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया जा सकता है। पहले इसमें भी वैधी भक्ति की प्रवृत्ति रही होगी, पर भगवान् के लीला-पुरुष के लिये रागानुगा भक्ति की अधिक उपयुक्तता के कारण कृष्ण-भक्ति धीरे-धीरे रसोपासना, माधुर्यभाव और सखी भाव की ओर अग्रसर होती गई। कृष्ण-भक्ति के विकास की अन्तिम अवस्था में तो कृष्ण की अपेक्षा राधा की भक्ति का प्राधान्य हो गया। उसमें सखी भाव की उपासना ही प्रबस्तर होती गई। यही कारण है कि उसमें विधि-निषेध की मर्यादा शिथिल ही होती गई। विकास की यह रूपरेखा कृष्ण-भक्ति का रीतिकाल में पर्यवसान स्पष्ट कर देती है।

भक्ति-आन्दोलन के विभिन्न सम्प्रदायों में जिस क्रम का हमने अनुसरण किया है, उनमें कालक्रम की अपेक्षा साहित्यिक चेतना के विकास का क्रम अधिक है। कालक्रम की दृष्टि से इसका सूत्रपात प्रायः समकालीन और विकास प्रायः सामानान्तर रहा है। पर तत्कालीन जीवन और साहित्यिक चेतना के विकास की दृष्टि से कृष्ण-भक्ति का स्थान अन्तिम है। भक्ति-आन्दोलन ने जीवन को जो शक्ति, प्रेरणा और संबल प्रदान किया, उसमें निर्गुण की अपेक्षा सगुण का, तथा राम-भक्ति की अपेक्षा कृष्ण-भक्ति का उत्तरोत्तर-स्थान

है। हिन्दू जीवन के नैराश्य को दूर करने में इनकी सफलता उत्तरोत्तर है। साहित्य के विकास में भी कृष्ण-भक्ति की चेतना अधिक लम्बी रही। परवर्ती काल के साहित्य ने भी, कृष्ण-भक्ति से ही चेतना वर्ण्य-विषय, और शैली प्राप्त की। कृष्ण-भक्ति का साहित्य ही रीतिकाल में पर्यवसित हो गया है। कृष्ण-भक्ति के साहित्य ने अपने से पूर्ववर्ती साहित्यिक प्रवृत्तियों को अपेक्षाकृत अधिक आकर्षित किया तथा दूसरी शाखाओं को अधिक प्रभावित भी किया। राम-भक्ति में सखी-भाव का प्राधान्य इसका प्रमाण है। सम्भवतः इसी कारण से शुक्लजी ने इस क्रम को अपनाना अधिक समीचीन समझा है।

प्रमुख कवि और सन्त

सूरदास—

चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार सूरदासजी का जन्म स्थान रुनकुता (आगरा के पास) या रेणुका क्षेत्र माना जाता है। पर हरिरामजी के 'भाव प्रकाश' में इनका जन्म स्थान दिल्ली के पास सीही नामक ग्राम बताया गया है। उनका कहना है कि ये जन्मान्ध थे। बचपन से ही साधु-वेश में एक पीपल के पेड़ के नीचे रहते थे तथा सगुण-भाव के भजन गाया करते थे। कुछ दिनों तक वहाँ रह कर सूरदासजी गऊघाट पर आ गये। यहाँ पर विनय के पद गाकर सुनाया करते थे। यहाँ पर इनके अनेक शिष्य हो गये। जब भगवान वल्लभाचार्य यहाँ पर पधारे थे तो सूरदासजी उनसे मिलने गये। सूरदासजी ने महाप्रभु के समक्ष "प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ" और "हौं हरि सब पतितन कौ नायक"—ये दो पद सुनाये। महाप्रभु ने इन पदों को सुनकर कहा "सूर है के ऐसो घिघियात काहे को हौ, कछु भगवत् लीला वर्णन करि"। इसके बाद महाप्रभु ने सूर को अपना शिष्य बना कर दशम स्कन्द की अनुक्रमणिका सुनाई। जब गोवर्धन का मंदिर समाप्त हो गया तो

महाप्रभु ने इनको कीर्तन, सेवा सौंपदी। उसके बाद वे वहीं रहे। सं० १५८० के आसपास सूर बल्लभाचार्य के शिष्य हुए थे। 'सूर सारावली' में इन्होंने उस समय अपनी अवस्था ६७ वर्ष की बताई है। इसके पहले वे 'सूरसागर' समाप्त कर चुके थे। इनका एक और ग्रन्थ माना जाता है। वह है 'साहित्य-लहरी'। इसमें इस ग्रन्थ का रचनाकाल बताया गया है। 'मुनिमुनि रसन के रस' आदि पद के आधार पर शुक्लजी इसका रचनाकाल सं० १६७७ मानते हैं। कुछ लोग इसका अर्थ सं० १६२७ करते हैं। पर हजारी प्रसाद द्विवेदी 'मुनि' के स्थान पर 'पुनि' पाठ मानते हैं और इस प्रकार इसका अर्थ सं० १६७७ करते हैं जो सूर की मृत्यु के बहुत बाद का समय है साहित्य लहरी को सूरकृत न मानने का यह भी एक तर्क है।

'साहित्य-लहरी' के उपर्युक्त पद के आधार पर सूर पृथ्वीराज के वंशज माने जाते हैं। इस प्रकार वे भाट जाति के थे। पर यह मत विशेष ठीक नहीं प्रतीत होता है। ब्रजेश्वर वर्मा का अनुमान है कि किसी भाट ने सूर को अपने वंश का बताने के लिए ही यह कल्पना की है। 'भावप्रकाश' के आधार पर सूर सारस्वत वंश के माने जाते हैं। सूर के जन्मान्ध होने पर भी इसी प्रकार मतभेद है। 'भावप्रकाश' में सूर को जन्मान्ध कहा गया है। सूर स्वयं अपने आपको कई पदों में जन्म का अन्धा और कर्म का अभागा कहते हैं, पर यह तो केवल आत्मग्लानि की भावना मात्र है। सूर ने बाहरी प्रकृति और जगत् का जैसा सूक्ष्म वर्णन किया है, उसके आधार पर कुछ विद्वान् इनका जन्मान्ध न होना ही ठीक मानते हैं। पर इस आधार पर किसी का जन्मान्ध होने अथवा न होने का अनुमान नहीं होता है। भगवान् की कृपा से दिव्यचक्षुओं से सब कुछ दिखाई दे सकता है। जब मंदिर में कृष्णदास अधिकारी नियुक्त हो गये तो सूरदासजी पारसोली ग्राम में रहने लगे। वहीं पर इनका स्वर्गवास हुआ था। इनकी मृत्यु का समय अनुमानतः सं० १६२० के आस-पास माना जाता है।

सूरदासजी द्वारा रचित माने जाने वाले ग्रन्थों में प्रधान और पूर्णतः प्रामाणिक ग्रन्थ तो 'सूरसागर' ही है। पर इसके अतिरिक्त 'सूरसारावली' और 'साहित्य-लहरी' नामक दो और ग्रन्थ इनके द्वारा रचित माने जाते हैं। इनमें से 'साहित्य-लहरी' तो स्पष्टतः ही अन्य किसी कवि का रचा हुआ प्रतीत होता है। द्विवेदीजी के अनुसार तो इसका रचनाकाल ही सूर की मृत्यु के बाद पड़ता है। यह ग्रन्थ सूर की वृद्धावस्था में रचा हुआ माना जाता है। सूर जैसे परम भक्त अपनी वृद्धावस्थामें इस अलंकार-वैचित्र्य और नायिका-भेद के निरूपण का ग्रन्थ क्यों लिखते। 'सूरसागर' से इस ग्रन्थ की शैली इतनी भिन्न है कि इन दोनों ग्रन्थों के रचयिताओं के व्यक्तित्व और स्वभाव में ही बहुत अन्तर रहा होगा। 'सूरसारावली' भी सूरसागर की अनुक्रमणिका नहीं प्रतीत होती है। यह भी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही है। इसमें सूरसागर से दर्शन, भक्ति और कथा की दृष्टि से कुछ मौलिक अन्तर है। इस प्रकार वस्तुतः पूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ तो 'सूरसागर' ही है।

सूर वल्लभाचार्य के शिष्य थे। उनकी भक्ति-पद्धति पुष्टिमार्ग कहलाती है उसमें मर्यादा और कर्त्तव्य-बुद्धि की अपेक्षा भगवान् की अनुकम्पा का अधिक महत्व है। भगवान् को पूर्ण आत्मसमर्पण तथा उनकी लीला का गुणगान ही इस पद्धति के भक्त का परम कर्त्तव्य है। सूर बालकृष्ण के उपासक थे। उनकी भक्ति सखा-भाव की थी। सूर का विनय भी तुलसी की अपेक्षा भिन्न कोटि का था। उसमें इस प्रकार गिड़गिड़ाने और निरन्तर हाथ जोड़े रहने को आवश्यकता नहीं। उसमें भगवान् को उपालम्भ भी दिया जासकता है। सूर ने अनेक स्थानों पर भगवान् को चुनौती भी दी है। पर उसमें भी उनका विनय स्पष्ट है। ऐसे स्थानों पर उनकी उच्चकोटि की आत्ममयता, अधिकार और दृढ़ विश्वास की भावना की ही व्यंजना होती है। सूर ने सखा, ग्वालबाल, उद्धव और सखियों के

साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर के भगवान् के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होने तथा उनकी लीलाओं का द्रष्टा के रूप में आनन्द लेने का प्रयत्न किया है। जहाँ पर गोपियाँ स्वयं लीला में भाग लेती हैं वहाँ पर सूर गोपियों के भाग्य को सराहते हैं। सूर ने भगवान् के मधुर रूप की भक्ति की है उसमें ऐश्वर्य, शील और शक्ति का अभाव नहीं है। पर सूर प्रमुख रूप से उनके माधुर्य का ही रसास्वाद करते हैं। उन्होंने कृष्ण को लीलापुरुष के रूप को ही अधिक तन्मयता से देखा है। कृष्ण दुष्ट संहारक भी हैं पर सूर का हृदय उनके मधुर रूप में अधिक रमता है। यही कारण है कि सूर ने दूसरे स्वरूप को गौण ही रखा है। हाँ, वे इस स्वरूप को भूले नहीं है। इन दोनों का सामंजस्य है। सूर के कृष्ण बालक हैं, किशोर हैं, अत्यन्त कोमल हैं, पर फिर भी बड़े बड़े राक्षसों और दानवों का दमन करने वाले हैं। यही उनकी अनित्य शक्ति है। जो कृष्ण देहरी उलाँघने में असमर्थ हैं, जिन्हें माता यशोदा ऊखल से बाँध देती हैं, वहीं कृष्ण उसी अवस्था में दुर्दमनीय राक्षसों का संहार करते हैं। कोमलता और कठोरता, शक्ति और सौन्दर्य सामंजस्य की ऐसी उत्कृष्ट कल्पना अन्यत्र दुर्लभ है। सूर के कृष्ण में शक्ति शील और सौन्दर्य का विचित्र समन्वय है। पर कृष्ण का सौन्दर्य ही उनकीआँखों के समक्ष नाचता रहता है, उसी में उनका मन रमा है।

एक दृष्टि से यह कहना समीचीन है कि सूर के समक्ष समाज-निर्माण का प्रश्न नहीं था। उन्होंने समाज को जीवन का आदर्श प्रदान करने के लिए काव्य-सृजन नहीं किया। वस्तुतः यह प्रत्येक प्रतिभा-सम्पन्न कवि और भक्त के लिए सत्य है। उत्कृष्ट कवियों के लिए समाज के निर्माण की भावना प्रत्यक्ष रूप में काव्य की प्रेरणा बनकर नहीं आती है। उसका परोक्ष प्रभाव ही पड़ता है। अपनी परिस्थितियों के प्रभाव से जब उनका लोक-मंगलकारी व्यक्तित्व

द्रवीभूत होकर काव्य के रूप में साकार हो जाता है, तब लोकमंगल तो उसका सहज परिणाम होता है। कवि को उसके लिए सजग नहीं रहना पड़ता। जब कवि पर समाज-निर्माण की आकांक्षा का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है और वह उसके काव्य की प्रत्यक्ष प्रेरणा बन जाती है ; कवि जब सजग रह कर यह कार्य करता है, तब वह कवि की अपेक्षा सुधारक अधिक हो जाता है और यह निश्चित है कि कवि की अपेक्षा सुधारक का स्थान निम्न है। सूर तो सच्चे कवि थे। उन्होंने समाज को जीवन का आदर्श प्रदान किया है। वह कविता के स्वाभाविक प्रवाह में अपने आप ही स्वरूप धारण कर गया है। सूर ने सब मर्यादाओं का भगवान् की अनन्य भक्ति में पर्यवसान माना है। वहाँ पर किसी प्रकार की धर्म मर्यादा के लिए स्थान नहीं है। जब तक मानव में इस प्रकार के अनन्य आत्म-समर्पण की भावना नहीं जागेगी, तब तक उसका परम कल्याण संभव नहीं। इस अनन्य प्रतिपत्ति की भावना ने समाज में जीवन और आत्म-विश्वास का पुनः संचार कर दिया। इससे नैराश्य का वातावरण प्रायः समाप्त हो गया। शास्त्र की मर्यादा के रहते हुए भी शास्त्रज्ञता के अहंकार की समाप्ति हो गई। भक्ति ने जीवन में जिस समन्वयवादी धारणा को जन्म दिया था, वही सूर द्वारा भी पुष्ट हुई। तुलसी ने इसको ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों के आधार पर पुष्ट किया, सूर ने केवल अनन्य प्रेम के आधार पर। बस, इतना ही अन्तर था। अन्यथा दोनों के कार्य एक ही प्रकार के थे। हाँ, दोनों के पात्र भिन्न-भिन्न हैं। तुलसी का जीवन-दर्शन सब कोटियों के व्यक्तियों के लिए है। पर सूर का जीवन-दर्शन सामान्य व्यक्ति के जीवन में विकार को प्रश्रय दे सकता है और उसने दिया भी है!

सूर का विषय क्षेत्र अत्यन्त सीमित ही रहा। उसने कृष्ण के बाल और किशोर रूप को ही ग्रहण किया था, इसलिए वात्सल्य और शृङ्गार की भावना से आगे उनका क्षेत्र नहीं बढ़ सका।

सूर में जीवन के बहुमुखी रूप के दर्शन नहीं होते। पर सूर ने जितना क्षेत्र अपनाया है, उसमें उनका स्थान अद्वितीय है। 'सूर-सागर' बाल-सुलभ चेष्टाओं का भण्डार बन गया है। इसमें बालक की हर एक छोटी से छोटी चेष्टा का निरूपण मिलता है, इससे सूर की अनुभूति की गहनता और निरीक्षण की सूक्ष्मता तथा व्यापकता का परिचय मिलता है। सूर का ध्यान बालक की बाहरी चेष्टाओं एवं खेल-कूद पर ही नहीं गया है, अपितु उन्होंने बालक की विभिन्न मानसिक दशाओं का भी बहुत सुन्दर वर्णन किया है। बालकों में जो पारस्परिक स्पर्द्धा, ईर्ष्या आदि की भावना होती है, जो स्वाभाविक भोलापन, कुतूहल और जिज्ञासा होती है, उन सभी का चित्रण सूर ने किया है। सूर की कविता में मातृ-हृदय के सहज एवं स्वाभाविक स्वरूप के दर्शन होते हैं। कृष्ण केवल नन्द और यशोदा के घर में सीमित रहने वाले बालक नहीं थे, उनका क्रीड़ा-क्षेत्र सारी व्रजभूमि था। वे सारे व्रजवासियों की वात्सल्य भावना के आलंबन थे। इस प्रकार सूर को गोपियों और ग्वालों के हृदय में जो वात्सल्य की सामान्य भावना थी, उसके चित्रण का भी अवसर मिला है। सूर का दूसरा भाव-क्षेत्र है शृङ्गार। कवि का यह क्षेत्र भी बहुत ही विस्तृत और व्यापक है। इसमें कवि ने भाव और विभाव दोनों ही क्षेत्रों में बहुत सुन्दर और नूतन उद्भावनायें की हैं। दानलीला, मानलीला, माखनचोरी, चीरहरण, रास आदि अनेक लीलाओं से सूर के संयोगपक्ष का सागर लहरा रहा है। संयोगपक्ष में सूर ने कृष्ण के लावण्य एवं अंगप्रत्यंगों के सौन्दर्य का भी बहुत ही विशद वर्णन किया है। सूर का विरह-वर्णन तो और भी विस्तृत है। उसमें विरह की अनेक भाव दशाओं के बड़े मार्मिक चित्र मिलते हैं। सूर में केवल उन्हीं संचारी भावों का चित्रण नहीं मिलता है, जिनका उल्लेख काव्य-शास्त्र में हुआ है, अपितु सूर ने ऐसी-ऐसी भाव-दशाओं की कल्पना की है, जिनका नामकरण करना भी कहीं-कहीं कठिन प्रतीत होता है।

सूर के साहित्य की एक बड़ी भारी विशेषता है लौकिक और अलौकिक का सामंजस्य। लौकिक अपने स्वरूप का परित्याग न करते हुए भी अलौकिक बन गया। सूर ने लौकिक वासनाओं के शमन और त्याग का उपदेश नहीं दिया परन्तु उन वासनाओं का कृष्ण से सम्बन्ध करके उनको अलौकिक रूप प्रदान कर दिया। कृष्ण के आश्रय से अभिव्यक्त सभी भावनायें कालुष्य से रहित अलौकिक और स्वर्गीय हो गई है। कृष्ण पूर्ण परब्रह्म है। वे सारी वासनाओं के आश्रय होते हुये भी तथा सब प्रकार की क्रीड़ाओं को करते हुए भी पूर्ण अनासक्त और निर्लेप हैं। सूर के शृङ्गार और वात्सल्य सामान्य पाठक को शृंगार और वात्सल्य के लौकिक स्वरूप का आनन्द प्रदान करते हैं पर भक्त उन्हीं में उत्कृष्ट भक्ति का रसास्वाद कर लेते हैं। उनके लिए ये भावनायें भक्ति रस की अभिव्यंजक है। इस दृष्टि से सूर के काव्य का प्रधान रस भक्ति ही है।

सूर की भाषा अत्यन्त सरल व्रजभाषा है। माधुर्य उसका प्रधान गुण है। ठेठ व्रजभाषा के माधुर्य के साथ सूर ने संस्कृत की कोमलकान्त पदावली का बहुत ही सुन्दर मिश्रण किया है। बोल चाल की भाषा ही सूर की प्रतिभा के स्पर्श से विद्वत्-साहित्य की प्रौढ़ता को प्राप्त हो गई है, पर फिर भी उसमें लोकभाषा की सरलता और माधुर्य अक्षुण्ण बना रहा है। सूर ने संयोग शृङ्गार में अलंकारों का खूब प्रयोग किया है। सूर अनेक स्थानों पर उत्प्रेक्षाओं, उपमाओं और रूपकों की झड़ी लगा देते हैं। जब गोपियाँ कृष्ण के बाल अथवा किशोर रूप पर मुग्ध होकर उनके अंग-प्रत्यगों का वर्णन करती हैं, तो उनके हृदय का आह्लाद शतधा होकर फूट पड़ता है। वे रूप वर्णन से अघाती नहीं हैं। अलंकारों के प्रयोग से वे अपने हृदय के आह्लाद को व्यक्त करती है। पर उन्हीं गोपियों की वाणी बिरह की अवस्था में अलंकारों का आश्रय ही नहीं लेती हैं।

उस समय विरह व्यथा से दुखित हृदय को अलंकारों के चमत्कार का आश्रय लेने का अवसर नहीं मिलता है। उस भाषा में लाक्षणिकता और व्यंजना की प्रधानता हो जाती है। शैली की यह भिन्नता संयोग और वियोग शृंगार की दृष्टि से अत्यन्त स्वाभाविक है। व्यंजना तो सूर की भाषा की प्रधान विशेषता ही है। सारा काव्य विरह की मूक व्यथा की व्यंजना करता है। सूर में अनेक भावों की मिश्रित अवस्था के भी बहुत ही प्रौढ़ चित्र मिलते हैं। सूर की उद्भावनायें नवीन और सजीव हैं। उनका वस्तु-क्षेत्र चाहे विभाग पक्ष में चाहे सीमित ही हो, पर अलंकार-विधान में बहुत ही विशद हो गया है।

नन्ददास—

इनका कोई प्रामाणिक जीवन वृत्त उपलब्ध नहीं है। 'भक्तमाल' में इनको चन्द्रहास का भाई कहा गया है। "दोसौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता" में इनको तुलसीदासजी का भाई बताया गया है। इसी वार्त्ता के आधार पर यह भी माना जाता है कि इनका किसी खत्राणी से प्रेम हो गया था, और फिर गोस्वामी विट्ठलनाथजी के सदुपदेश से इनका मोह छूट गया था। ये सूरदासजी के समकालीन थे। अष्टछाप के कवियों में इनका प्रधान स्थान है। इनका कवित्व काल सूर से कुछ पीछे तक माना जा सकता है। ये भी उच्च-कोटि के भावुक, भक्त और कवि थे।

इनकी प्रमुख रचनायें रास-पंचाध्यायी, सिद्धान्त-पंचाध्यायी, भ्रमर-गीत, रूप-मंजरी, रस-मंजरी, सुदामा-चरित आदि हैं। इन ग्रन्थों से इनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है। इन्होंने अनेक काव्य-रूपों को अपनाया है। रास-पंचाध्यायी और सिद्धान्त-पंचाध्यायी, भागवत के अनुवाद हैं। 'रस-मंजरी' नायिका भेद का ग्रन्थ है। यह रीतिकाल की परम्परा का ग्रन्थ है। 'भ्रमर-गीत' में गोपियों के विरह का वर्णन है। इन्होंने 'अनेकार्थ मंजरी' जैसे

कोश ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। 'रुक्मिणी-मंगल' 'पार्वती-मंगल' के अनुकरण पर लिखा गया विवाह-काव्य है। 'श्याम सगाई' में राधा और कृष्ण की सगाई का सरस वर्णन हुआ है। इन्होंने दोहा-चौपाइयों में भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवाद किया। पर नन्ददास के कवित्व के वास्तविक विकास के दर्शन तो उनकी पदावली में होते हैं।

नन्ददास की कविता में भावुकता के साथ ही ज्ञान की प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। इनका भक्ति सिद्धान्तों का गहरा अध्ययन था। सूर की तरह इन्होंने भी गोपियों के मुख से निर्गुण और योग का खण्डन कराया है पर ये सूर से कुछ भिन्न शैली को अपनाकर चले हैं। सूर की गोपियाँ उद्धव को अपने प्रेम की गम्भीरता से अभिभूत करती हैं, पर नन्ददास की गोपियाँ तर्क भी करती हैं। तर्क और भावुकता का जैसा मिश्रण नन्ददास में मिलता है, वैसा अन्यत्र प्रायः दुर्लभ है। इनकी रुचि अनुप्रास की छटा एवं ध्वन्यात्मकता में अधिक थी। इनका शब्द-संगठन भी बहुत ही सुन्दर है।

अष्टछाप के अन्य सब कवियों में भी भक्ति की तन्मयता और प्रेम के अनन्यता के दर्शन होते हैं। ये हृदय की अनुभूति से प्रेरित होकर कविता करते थे। इन सभी को संगीत का अच्छा ज्ञान था। अष्टछाप के कवियों का ब्रजभाषा पर अधिकार था। इन्होंने ब्रजभाषा को प्रौढ़ और परिमार्जित किया।

श्री हितहरिवंश—

ये राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे। इनका जन्म सं० १५५९ में मथुरा के पास एक ग्राम में हुआ था। पहले ये माध्वाचार्य के शिष्य थे। बाद में इनको स्वप्न में राधिकाजी के दर्शन हुए। इनको स्वप्न में ही राधिकाजी ने मंत्रोपदेश दे दिया था। इन्होंने सं० १५८२ में वृन्दाबन में राधाबल्लभ के मन्दिर की स्थापना की थी। इन्हें संस्कृत और भाषा दोनों का ही बहुत अच्छा ज्ञान था।

'राधा-सुधानिधि' 'हित चौरासी' इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं। इसमें से प्रथम संस्कृत भाषा में हैं। इनके पदों में माधुर्य का आधिक्य है, इसीलिए इनको श्रीकृष्ण की वंशी का अवतार कहा जाता है। इनकी शिष्य मंडली ने व्रजभाषा को खूब समृद्ध किया है। इनकी भक्ति-पद्धति ने कृष्ण-भक्त कवियों को बहुत अधिक प्रभावित किया। इनकी भक्ति-पद्धति में राधा रमण के प्रति अनन्य भाव की निष्ठा का ही सबसे अधिक महत्व है। इनकी भक्ति सखा-भाव की है। इसमें विधि-निषेध के लिए स्थान नहीं है।

मीरा—

ये मेडता के राजा रत्नसेन की पुत्री थीं। इनका जन्म सं० १५७३ में हुआ था। इनका विवाह उदयपुर के कुमार भोजराज से हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि विवाह के कुछ ही दिन बाद ये विधवा हो गई थीं, पर पद्मावती देवी 'शबनम' ने इनको सुहागिन ही माना है। उनकी मान्यता है कि मीराबाई पर इनके पति द्वारा ही अत्याचार हुए थे। कहा जाता है कि ये सन्तों की संगति करती थी और कई बार भावावेश में सबके सामने कृष्ण की मूर्त्ति के समक्ष नाचने लगती थीं। यह सब राजघराने की प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझा जाता है। इसीलिए इनके घरवालों ने इनको बड़े-बड़े कष्ट दिये। यहाँ तक कि एक बार इनको विष भी दिया गया, पर कृष्ण की अनुकम्पा से इनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। घरवालों के व्यवहार से दुखी होकर ये द्वारिका और वृन्दावन में ही रहने लगीं। वहाँ पर ये घूम-घूम कर भजन गाया करती थीं। इनकी मृत्यु भी सं० १६०३ में द्वारिका में ही हुई।

इनकी माधुर्य-भाव की भक्ति थी। इनमें विरह की तीव्र व्यथा के दर्शन होते हैं। तीव्रता का मुख्य कारण इनका अपना जीवन ही है। इनमें विरह की सच्ची अनभूति के दर्शन होते हैं। इन्होंने गोपियों के विरह का नहीं अपितु अपने विरह का वर्णन किया

है। कहीं कहीं इनकी कविता पर रहस्यवादी प्रभाव भी है। इनके अनेक पदों में निर्गुण-भाव की भक्ति भी मिलती है। इनके सगुण भक्ति के पदों में आत्मसमर्पण के तीव्र आवेग के दर्शन होते हैं। इनका विरह अत्यधिक मादक और प्रभावोत्पादक है। मीराने राजस्थानी और ब्रज दोनों भाषाओं में ही रचना की है। माधुर्य इनकी भाषा का प्रधान गुण है। गुजरात में इनके पद बहुत प्रचलित हैं। इनके निम्नलिखित ग्रन्थ हैं। नरसीदास जी का माहेरा, गीत गोविंद की टीका, राग-गोविंद और राग सोरठ के पद।

रसखान—

ये भी बहुत ही उत्कृष्ट कृष्ण-भक्तों में से हैं। ये दिल्ली के पठान सरदार थे। इनके बारे में यह कहा जाता है कि ये किसी बनिये के लड़के पर आसक्त हो गये थे। लोग इनके प्रेम की गम्भीरता को देख कर यह कहते थे कि ऐसा ही प्रेम भगवान् से करना चाहिए। इससे रसखान के हृदय में भगवान् के प्रति प्रेम जाग्रत हो गया। कुछ कहते हैं कि जिस स्त्री से इनका प्रेम था, वह बहुत ही मानिनी थी। उसके अनादर से ये भगवान् की ओर आकृष्ट हो गये। इनका रचनाकाल संवत् १६३० के बाद का है। इनकी दो रचनायें हैं 'प्रेम-वाटिका और सुजान-रसखान'। इनकी कविता में माधुर्य की प्रचुरता है। रसखान के हृदय में कृष्ण के प्रति अखण्ड विश्वास था। उनके हृदय की अनन्य भक्ति ही कविता के रूप में प्रस्फुटित हो गई है इन्होंने कवित्त और सवैये लिखे हैं। इनकी भाषा ब्रजभाषा है, जिसमें ठेठ और प्रचलित भाषा के माधुर्य के दर्शन होते हैं।

कृष्ण-भक्ति में इतना अधिक विश्वजनीन आकर्षण और माधुर्य था कि इसने देश, धर्म, समाज और जाति के सभी व्यवधानों को तोड़ कर भक्तों और कवियों को लुभाया है। मर्यादाओं से ऊपर उठा हुआ ऐकान्तिक और अनन्य प्रेम ही इस विश्वजनीनता का रहस्य है। यही कारण है कि जीवन की गतिविधि पर राम-भक्ति की अपेक्षा

कृष्ण-भक्ति का कई दृष्टियों से अधिक नियन्त्रण रहा। राम-भक्ति ने हिन्दू-जीवन को मर्यादा में बाँधकर रखा पर प्रेम की सरसता और भगवान् के अनुग्रह पर अडिग विश्वास पैदा करने तथा विभिन्न धर्मावलम्बियों में ऐक्य स्थापना का श्रेय कृष्ण-भक्ति को ही अधिक है।

भक्तिकाल पर्याप्त लम्बा काल है। इसमें भक्ति के मूल स्रोत के साथ ही ऐसे साहित्य का सृजन भी प्रारम्भ हो गया जिसकी धारा पहले कुछ दब-सी गई थी और शान्ति स्थापना के कारण जो फिर से प्रकट होने लगी। वीर, शृङ्गार और नीति की कवितायें प्रारम्भ हो गईं। इसी समय रीति परम्परा भी जन्म लेने लगी। यहाँ पर हम कतिपय उन कवियों का संक्षिप्त परिचय देंगे जिनका भक्तिकाल से अधिक सम्बन्ध है। ऐसे कवियों में केशवदास प्रमुख हैं, पर इनका परिचय रीतिकाल के साथ ही दिया जायेगा। क्योंकि इनका भक्ति की अपेक्षा रीतिकालीन प्रवृत्तियों से अधिक सम्बन्ध है।

रहीम—

ये बैरमखाँ के पुत्र थे। राज्य-कार्य में अत्यन्त कुशल थे। इसके साथ ही ये अच्छे साहित्यिक भी थे। इनका फारसी, अरबी, हिन्दी और संस्कृत का अच्छा अध्ययन था। इन्होंने कुछ संस्कृत वृत्त भी लिखे हैं। इनका 'मदनाष्टक' प्रसिद्ध रचना है। इनकी 'बरवै नायिका भेद' बहुत ही सरस रचना मानी जाती है। इसी से प्रभावित होकर तुलसीदासजी ने भी 'बरवै रामायण' का सृजन किया बताते हैं। ये स्वभाव से बड़े दयालु थे। धार्मिक सहिष्णुता और उदारता इनके चरित्र की विशेषतायें हैं, इनका काव्य जीवन की गम्भीर अनुभूतियों के रस से परिपूर्ण है। राजनीति के अनेक चपेटों में आने पर भी इनकी सरसता ज्यों की त्यों बनी रही। जीवन के व्यापक अनुभव ने इनको नीति के उत्कृष्ट दोहे रचने के लिए बाध्य किया है। इनकी कविता में स्थान-स्थान पर गम्भीर

व्यंजना के दर्शन होते हैं। इनकी मृत्यु तुलसीदासजी के दो वर्ष बाद हुई थी।

नरोत्तमदास—

ये सीतापुर जिले के रहने वाले थे। ये सं० १६०२ में वर्तमान थे, ऐसा अनुमान किया जाता है। इन्होंने 'सुदामा-चरित' नामक छोटा-सा ग्रन्थ लिखा है। इसमें दरिद्रता का बहुत सजीव चित्र है। यह बहुत ही सरस और मधुर रचना है। इसकी भाषा भी बहुत परिमार्जित है। छोटी होते हुए यह रचना कवि की हृदय-हारिणी भावुकता का परिचय देती है।

गंग —

ये अकबर के दरबारी कवि थे। इनके जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है। कोई इन्हें ब्राह्मण कहता है तथा कोई ब्रह्म भाट। ये बहुत निर्भीक व्यक्ति थे। इनकी कोई पुस्तक अभी नहीं मिली है। इनके बहुत से कवित्त संग्रह ग्रन्थों में मिलते हैं। शृङ्गार और वीर रस के बहुत सुन्दर कवि थे। इनमें रसात्मकता के साथ ही वाग्वैचित्र्य के भी दर्शन होते हैं। इनकी शैली में हास्यरस का भी पुट मिलता है। इनकी अन्योक्तियाँ बहुत ही सुन्दर हुई हैं। इनका विरह वर्णन अत्यधिक अतिशयोक्तिपूर्ण एवं वस्तु-व्यंजक शैली का है।

सेनापति—

ये अनूप शहर के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १६४३ के आस-पास माना जाता है। इन्हें स्वयं अपनी कविता पर गर्व था। इनको अपने जीवन के अन्तिम काल में वैराग्य हो गया था। ये राम-भक्त थे। ये वस्तुतः शृङ्गारी कवि थे। इनकी कविता में भक्त-हृदय की सरसता के भी दर्शन होते हैं। इनका प्रकृति-निरीक्षण बहुत ही प्रौढ़ और सूक्ष्म है। ऐसा अनुमान होता है कि इन्होंने 'ऋतु-वर्णन' का कोई पृथक काव्य-ग्रन्थ लिखा था। सभी ऋतुओं का इन्होंने विशद वर्णन किया है। पर उसमें उनका ध्यान अधिकतर

उपभोग और विलास की सामग्री पर ही रहा। इन्होंने प्रकृति को दरबारी और शहरी व्यक्ति की दृष्टि से देखा है। यही कारण है कि उसमें प्रकृति के कृत्रिम रूपों का अधिक वर्णन है। प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्रों में इनकी कल्पना विहार नहीं कर सकी। इसी से इनकी प्रकृति उद्दीपन का साधन अधिक है। फिर भी कहीं-कहीं प्रकृति के आलंबन रूप का भी चित्रण है। इनकी कविता बहुत ही मर्मस्पर्शिनी और भावुकतापूर्ण है। इनमें चमत्कार की प्रवृत्ति की भी कमी नहीं थी। इन्होंने अनुप्रास, यमक आदि शब्दालङ्कारों का भी बहुत प्रयोग किया है। इनके श्लेष बहुत ही उत्कृष्ट हुए हैं। श्लेष में इनकी रुचि अधिक थी। इनकी भाषा बहुत मधुर, चमत्कार-पूर्ण तथा व्यंजक है। इनका भाषा पर अच्छा अधिकार था।

रीतिकाल

ईसा की १५ वीं से १७ वीं शताब्दी तक का काल भक्तियुग था। यह काल हिन्दी-साहित्य एवं उसके क्षेत्र के गत-जीवन की एक व्यापक क्रांति का युग था। इस काल में जो महान् प्रतिभायें उत्पन्न हुई उन्होंने तत्कालीन सारी साहित्यिक विधाओं एवं लोक-साहित्य से गृहीत काव्य रूपों पर भक्ति का गहरा रंग चढ़ा दिया था। उस काल का लौकिक रस तथा ऐहिकता का सारा साहित्य भक्ति की ओर उन्मुख हो गया था। भगवान् के आश्रय से शृंगार-परक साहित्य पर भी भक्ति का गहरा रंग चढ़ गया। लोक-साहित्य की गेय पदों की परम्परा कृष्ण की लीला के गान से भक्तिमय हो गई। ग्राम-साहित्य के हिंडोला, बसन्त आदि गानों को कबीर, दादू आदि ने भक्ति के रंग में रंग दिया। प्रचलित प्रेमकथानकों को सूफी कवियों ने अध्यात्मिकता का आवरण दे दिया। ब्याह, जनेऊ आदि के अवसरों पर गाये जाने वाले गीत भी भगवान् राम के जीवन का स्पर्श प्राप्त करके अलौकिक रस की व्यंजना करने लगे। अपभ्रंश-साहित्य के नीति और श्रंगार के दोहे भी भक्ति-रस से ओतप्रोत हो गये। कहने का तात्पर्य यह है कि पहले से चलती हुई सारी साहित्यिक परम्परायें एवं तत्कालीन काव्यरूप सभी भक्तिमय हो गये। सारा ऐहिकता-परक एवं राग स्तुति का साहित्य क्षीणबल हो गया।

प्रत्येक युग का साहित्य अपने से पूर्ववर्ती युग की साहित्यिक परम्पराओं का परिणाम एवं भावी युग की प्रवृत्तियों का जन्मदाता होता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार हमें भक्तिकाल और रीति-काल का पारस्परिक सम्बन्ध देखना है। ऊपर हम देख चुके हैं कि भक्तिकाल किस प्रकार अपने से पूर्ववर्ती साहित्यिक प्रवृत्तियों

का परिणाम है। अब हमें इस बात पर विचार करना है कि किस प्रकार भक्तिकाल की प्रवृत्तियों के ह्रास ने ही रीतिकाल को जन्म दिया है। भक्तिकाल ने मानव हृदय की प्रमुख वासना—रति को पर्याप्त आश्रय प्रदान किया। इस काल के साहित्य में शृङ्गार ही प्रमुख रस रह गया। सगुण भक्तों ने तथा उनमें भी विशेषतः कृष्णभक्तों ने तो शृंगार रस को ही पूर्णतः अपना लिया था। उनके कृष्ण एकमात्र प्रेम के ही आलम्बन बन गये। उनके साहित्य में सर्वत्र प्रेम-क्रीड़ा के ही दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त राम-भक्ति तथा निर्गुण-भक्ति की दोनों शाखाओं में प्रधान वर्ण्य-विषय शृङ्गार ही हो गया। संतों की साखियों में तो वैराग्य आदि की बातें हीं थीं।। पर उनके भी शब्द तो दाम्पत्य-प्रेम की ही व्यंजना करते हैं। सूफी कवियों में तो प्रेम ही प्रधान वस्तु थी। इस प्रकार सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य ने श्राङ्गारिक भावनाओं को केवल जीवित ही नहीं रखा अपितु उनके प्रति जो विरति थी उसका भी धीरे धीरे उन्मूलन कर दिया। भक्ति के आश्रय में लौकिक-रस एवं ऐहिकता का साहित्य जीवित रहा। भक्ति-रस से अभिसिंचित होकर इस साहित्य की जड़ें बराबर हरी बनी रहीं और समय पाकर यही ऐहिकता-परक साहित्य रीतिकालीन साहित्य के विशाल वट-वृक्ष के रूप में बढ़ गया। जड़ जगत् की ओर से हटा कर जब शृङ्गार-भावना को ईश्वरोन्मुख किया गया, उस समय भक्ति का प्राबल्य हुआ। शृङ्गार ही भक्ति बन गया। शृङ्गार और भक्ति में यही अन्तर है। लेकिन जब उसे ईश्वरोन्मुख बनाये रखने की सामर्थ नहीं रही तो वही रीतिकालीन साहित्य हो गया। जब राधा और कृष्ण की प्रेम लीलाओं के वर्ण्य-विषय रूपी आवरण में कवि भक्ति रूपी आत्मा की प्रतिष्ठा करने में असफल रहा, तभी वह भक्ति के स्थान पर रीतिकालीन साहित्य का स्रष्टा बन गया। उसकी शृङ्गार भावना ईश्वरोन्मुख

न रह कर जगतोन्मुख हो गई। जीवन की प्रत्येक क्रिया को ईश्वरोन्मुख कर देने की सामर्थ तो केवल महान् एवं प्रतिभा-सम्पन्न भक्त-कवियों में ही थी। ज्यों ज्यों भक्तों में ऐसी प्रतिभाओं का अभाव होता गया त्यों त्यों भक्ति-साहित्य का ह्रास भी होता गया। भक्ति के प्रथम उन्मेष में तो प्रौढ़ भक्त और महान् कवि ही दोनों हुए पर धीरे धीरे भक्त और कवि की मिश्रित प्रतिभा का अभाव होता गया। प्रतिभा-सम्पन्न कवि तो परवर्तीकाल में भी हुए पर उनको तुलसी और सूर जैसा भक्त-हृदय नहीं प्राप्त हो सका। यही कारण है उनकी कवित्व-शक्ति ईश्वरोन्मुख न रह कर जगतोन्मुख हो गई। कविता का क्षेत्र ही बदल गया। उसकी आत्मा ही बदल गई। कविता भगवान् के स्तर से हट कर मानव के स्तर पर आगई। भक्ति इस काल के साहित्य की मूल प्रेरणा नहीं रह गई।

साहित्य का क्षेत्र एक बार पुनः राजदरबार हो गया। भक्ति ने राज-स्तुति के साहित्य पर भी भक्ति का रंग चढ़ा दिया था। "कान्हें, प्राकृत जन गुण गाना, सिर धुनि गिरा लगति पछिताना" से भक्त कवियों ने इस साहित्य की कमर तो तोड़दी, पर वह पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ। समय के प्रभाव से यह पुनः जीवित हो गया। रीतिकाल में साहित्य केवल राजाओं के मनोविनोद की वस्तु हो गई। अब उसकी प्रेरणा का स्रोत जन-जीवन नहीं रह गया। रीतिकाल के कवियों को अपने काव्य के वर्ण्य-विषय एवं प्रेरणा दोनों ही पुस्तकों से लेने पड़े। उनकी प्रेरणा के प्रधान स्रोत काम-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र और रस-शास्त्र हो गये। सहज और मार्मिक अनुभूति का स्थान चमत्कारवाद और उक्ति वैचित्र्य ने ले लिया। राजाओं और सामान्य जनता में पवित्र हृदय से निसृत प्रेम के मर्मस्पर्शी वर्णनों से रसाप्लुत होने की क्षमता नहीं रह गई थी। इसलिए साहित्य को वासनामय उत्तेजक उद्गारों एवं उक्ति

वैचित्र्य का आश्रय लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। साहित्य जैसे मानों नरपतियों की विलासिता एवं जनता की काम-वासना की तृप्ति का एक साधन मात्र हो गया। भक्ति कालीन साहित्य की उत्कृष्टता बहुत कुछ उसके वर्ण्य-विषय भगवान् की अलौकिक लीलाओं पर ही निर्भर रही। पर रीति-कालीन साहित्य की उत्कृष्टता का आधार अभिव्यंजना शैली हो गया। उसमें अलंकार एवं उक्ति-वैचित्र्य ही आनन्द तथा आकर्षण के प्रधान साधन हो गये। यही कारण है कि कुछ लोग रीतिकालीन साहित्य के आकर्षण को विशुद्ध साहित्य (Pure poetry) का आकर्षण कहना चाहते हैं। उनका कहना है कि रीति-काल का साहित्य एक प्रकार से भक्तिकाल की अलौकिकता के प्रेम के विरुद्ध ऐहिकता तथा रसोक्ति के विरुद्ध वक्रोक्ति की प्रतिक्रिया का साहित्य है। जब भक्ति जीवन और साहित्य की मूल प्रेरणा नहीं रही तब उसका स्थान शृङ्गार ने लेलिया और यह प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक ही थी।

भारतीय समाज कई शताब्दियों पूर्व से ही भोक्ता और उत्पादक नाम से दो वर्गों में बँट गया था। इनका पारस्परिक सम्बन्ध धीरे-धीरे क्षीण होता गया। भोक्ता-वर्ग को जीवन के संघर्षों का सामना नहीं करना पड़ता था। उसके लिए जीवन जैसे मानों नितान्त समस्या शून्य था। इस वर्ग के लिए केवल उपभोग ही सत्य था। इस जीवन में कर्त्तव्य और संघर्ष के सौन्दर्य के लिए स्थान नहीं था। यही कारण है कि इस वर्ग के द्वारा जिस साहित्य को प्रोत्साहन दिया गया है, उसका प्रमुख स्वर विलासिता ही रही। इसमें साहित्य का उपयोग केवल इसी वासना की परितृप्ति के लिए हुआ। रीतिकाल तक आते-आते समाज का यह वर्गवादी रूप अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। सामन्त लोग भी क्षीण-बल होते जा रहे थे। उनको अपने अस्तित्व के सुरक्षित बने रहने में दृढ़ विश्वास नहीं रह गया था। पर फिर भी उनमें जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल अपने

आप में परिवर्तन कर लेने की क्षमता भी नहीं आ पा रही थी। वे लोग विलासिता का पल्ला केवल अपने आपको भुलाये रखने के लिए ही पकड़े हुए थे। ऐसे समय में रीति-कालीन साहित्य का सृजन हो रहा था। यही कारण है कि इस साहित्य में शृङ्गार का आह्लाद तथा जीवन की मस्ती एवं उल्लास नहीं अपितु विलासिता और तद्जनित उत्तेजकता का आनन्द ही मिल पाता है। यह साहित्य जीवन को स्वस्थ प्रेरणा नहीं दे सका। इसमें चमत्कार-प्रियता के प्राधान्य का भी प्रमुख कारण जीवन के सच्चे उल्लास का अभाव ही है। इस दृष्टि से भक्ति-साहित्य निम्नस्तर अथवा उत्पादक वर्ग का माना जा सकता है। उसमें जीवन का व्यापक उल्लास और स्वस्थ स्वरूप मिलता है। जब भक्तिधारा साम्प्रदायिकता के कारण क्षीण बल हो गई तो संस्कृत-साहित्य से चली आती हुई यह शृङ्गार-रस की परम्परा रीतिकाल में पुनः प्रबल हो उठी।

रीतिकाल के प्रारम्भ होने से पूर्व तक हिन्दी-साहित्य पर्याप्त प्रौढ़ता को पहुँच चुका था। ऐसे समय में काव्य के स्वरूप एवं तत्वों को समझने-समझाने की आकांक्षा का जाग्रत होना अत्यन्त स्वाभाविक था; इसलिए कवियों का ध्यान अलंकार-शास्त्रों की ओर स्वाभाविक रूप से ही आकृष्ट हुआ। दूसरे रीति-कालीन साहित्य की मूल प्रेरणा ही चमत्कारवाद और वाग्वैदग्ध्य हो गई थी। काव्य में सहज सौन्दर्य नहीं रह गया अपितु उसमें पाण्डित्य-प्रदर्शन प्रमुख हो गया। इस काल के साहित्य के रसास्वाद के लिए भी काव्य-शास्त्र का ज्ञान अपेक्षित था। अलंकार-शास्त्र एवं नायिका-भेद की बारीकियों पर काव्य का रसास्वाद निर्भर हो गया था। अधिकांश काव्य-सृजन उदाहरण के रूप में हो होगया। यही कारण है कि काव्य-रीति का विवेचन इस काल के साहित्य की प्रमुख चेतना हो गई थी। प्रत्येक कवि किसी न किसी रूप में काव्य-शास्त्र का विवेचन अवश्य करता था। बहुत से कवियों पर समय की हवा

ने आचार्यत्व लाद दिया था। रीतिकाल कवि-प्रतिभाओं के विकास के उपयुक्त ही काल था। यही कारण है कि इतने लम्बे काल में बहुत कम ऐसे व्यक्ति हुए हैं जो वस्तुतः आचार्य-पद से विभूषित करने योग्य माने जा सकते हैं।

हिन्दी में रीति-ग्रन्थों के प्रणयन के पूर्व ही संस्कृत का अलंकार-शास्त्र अपने विकास की चरम सीमा को प्राप्त कर चुका था। उसमें काव्य के सब तत्वों पर बहुत ही विशद रूप में विवेचन हो चुका था। काव्य-शास्त्र में अनेक सम्प्रदायों की स्थापना हो चुकी थी। इतना ही नहीं अनेक शताब्दियों के अनवरत चिन्तन के उपरान्त संस्कृत में एक समन्वयवादी सम्प्रदाय की स्थापना हो चुकी थी। काव्य के विभिन्न तत्वों में सामंजस्य भी स्थापित हो चुका था। ऐसी अवस्था में हिन्दी के रीतिकारों का संस्कृत के अलंकार-शास्त्र की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। हिन्दी के रीतिकारों ने संस्कृत के अलंकार-शास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों को ही अपना उपजीव्य बनाया। कुछ लोगों ने उन ग्रन्थों के अनुवाद किये तथा कुछ ने उनके ही प्रतिपाद्य विषय का हिन्दी में निरूपण कर दिया। कहीं-कहीं कुछ लोगों ने अपनी मौलिकता के प्रदर्शन का भी प्रयास किया, पर रीतिकाल में कोई ऐसी महान् प्रतिभा नहीं हुई जो अपने मौलिक चिन्तन से काव्य-शास्त्र को कोई नया तत्व अथवा प्राचीन तत्वों की कोई नई व्याख्या दे पाती। यह बुद्धि-शैथिल्य का काल था। उस समय जीवनी-शक्ति में उद्दाम वेग का अभाव था। अतः ऐसे समय में ऐसी प्रतिभा का होना प्रायः असम्भव-सा हो गया। दूसरे हिन्दी में गद्य का पर्याप्त विकास नहीं हुआ था, इसलिए भाषा में प्रौढ़ चिन्तन के भार को संभालने की शक्ति भी नहीं थी। भाषा की प्रौढ़ता के साथ ही चिन्तन में गाम्भीर्य और प्रौढ़ता आती है। यही कारण है कि यह काल प्रायः अनुवाद एवं पिष्टपेषण का ही काल रहा। जो कुछ भी विवेचन इस काल में हुआ उससे

काव्य के तत्वों का सम्यक् एवं गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर लेना भी बहुत कम संभव था। यही कारण है कि आधुनिक काल के साहित्य-शास्त्रियों को भी संस्कृत के मूल ग्रन्थों को ही उपजीव्य बनाना पड़ा है। वे रीति-कालीन ग्रन्थों से पर्याप्त मानसिक भोजन नहीं प्राप्त कर सके।

हिन्दी में रीतिग्रन्थों की अखण्ड परम्परा तो सं० १७०० के आस पास के चिन्तामणि पाठक द्वारा दिखाये गये मार्ग पर ही चली। पर इसके पूर्व भी कई रीतिकार हुए। हिन्दी में रीति-ग्रन्थों के प्रणयन का प्रारम्भ कब हुआ यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जासकता है। सं० ७७० में पुष्य नामक किसी कवि द्वारा अलंकारों पर एक ग्रन्थ लिखे जाने की जनश्रुति प्रसिद्ध है पर पर्याप्त प्रमाण के अभाव में इसे ऐतिहासिक तथ्य नहीं माना जा सकता। सं० १५९८ में कृपाराम ने हिततरंगिणी नामक ग्रन्थ में रसनिरूपण किया था। लेकिन इस ग्रन्थ की इतनी प्राचीनता पर कई विद्वान् विश्वास नहीं करते हैं। इसके कालसूचक दोहे में 'शिवमुख' के स्थान पर 'सबमुख' की कल्पना करके पं० चंद्रवली पाण्डेय इसकी रचना काल सं० १७९८ मानना चाहते हैं। करनेस आदि द्वारा लिखे गये 'कर्ण भरण' 'श्रुतिभूषण' भूपभूषण एवं श्रृङ्गार-सागर के सम्बन्ध में भी निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जासकता है। हाँ, चिंतामणि पाठक से ५० वर्ष पूर्व केशवदास ने अलंकार शास्त्र के विभिन्न अंगों पर विशद विवेचन अवश्य कर दिया था। हिन्दी में अलंकार-शास्त्र पर इतना विशद एवं वास्तविक विवेचन करने वाले प्रथम आचार्य केशव ही है। लेकिन केशव ने संस्कृत के अलंकार-शास्त्र के विकास की चरम सीमा से सामग्री ग्रहण नहीं की। उन्होंने आनन्दवर्द्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ के द्वारा प्रतिपादित काव्य-स्वरूप को न अपनाकर भामह उद्भट आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के दृष्टिकोण को अपनाया। भामह आदि के

समय तक अलंकार और अलंकार्य का भेद स्पष्ट नहीं हो पाया था। उस समय काव्य के विभिन्न तत्व रस, अलंकार गुण आदि का उल्लेख तो होता था, पर न तो उनके वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा हो पाई थी और न उसमें किसी प्रकार का वास्तविक सामञ्जस्य ही स्थापित हो सका था। सभी तत्वों का अलंकार में ही अन्तर्भाव माना जाता था। स्वयं केशव ने भी काव्य के वर्ण्य-विषयों को अलंकार में ही अन्तर्भूत किया है। अलंकार-शास्त्र की इतनी प्राचीन अवस्था को लेकर रीति ग्रन्थों के प्रणयन की कोई लम्बी परम्परा नहीं बन सकती थी। यही कारण है कि परवर्ती आचार्यों ने केशव की परम्परा का अनुकरण नहीं किया। चिंतामणि पाठक ने मम्मट और विश्वनाथ के सिद्धान्तों को अपनाकर जिस परम्परा का सूत्रपात किया उसी में परवर्ती ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। यही कारण है कि चिन्तामणि को ही हिन्दी की रीति-परम्परा का श्रीगणेश करने वाला माना जाता है। पर हिन्दी के प्रथम आचार्य तो केशव ही माने जा सकते हैं।

(१) इस काल के रीति-ग्रन्थों को चार भागों में बाँट सकते हैं। प्रथम श्रेणी के वे ग्रन्थ हैं जिनमें काव्य के सभी तत्वों का सम्यक् विवेचन है। इन ग्रन्थों के उपजीव्य मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' तथा विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' रही है। इनमें काव्य के लक्षण प्रयोजन हेतु रस, अलंकार, रीति आदि सभी अंगों पर विशद विवेचन है। इस श्रेणी का प्रमुख ग्रन्थ भिखारीदास का 'काव्य निर्णय' है। इस श्रेणी के ग्रन्थों में प्रायः 'काव्य प्रकाश' की शैली का ही अनुकरण किया गया है। इस श्रेणी के अन्य कुछ प्रमुख ग्रन्थ हैं चिन्तामणि का 'कविकुल-कल्पतरु' श्रीपति का 'काव्य-सरोज' प्रतापसाहि काव्य-विलास देव का शब्द-रसायन आदि।

(२) द्वितीय श्रेणी उन ग्रन्थों की है जिनमें रसों का विवेचन ही प्रमुख है। ऐसे ग्रन्थों में प्रधानतया शृंगार-रस का ही निरूपण

हुआ है, पर अन्य सब रसों की भी थोड़ी-थोड़ी व्याख्या है। ऐसे ग्रन्थों में केशवदास की 'रसिक प्रिया' देव का 'भाव विलास' दास का 'रसनिर्णय' तोष का 'सुधानिधि' आदि प्रमुख हैं। इनमें से कुछ आचार्यों ने तो केवल शृंगार-रस का ही विवेचन किया है। इन ग्रन्थों की प्रधान उपजीव्य भानुदत्त की 'रस-तरंगिनी' ही रही है।

(३) तृतीय श्रेणी के वे ग्रन्थ हैं जिनमें अलंकारों का ही विशद विवेचन है। इन ग्रन्थों में दोहे अथवा अन्य छन्द में अलंकारों का लक्षण तथा बाद में उनके उदाहरणों के रूप में स्वरचित कोई छन्द रख दिया गया है। ऐसे ग्रन्थों के प्रधान उपजीव्य चन्द्रालोक और कुवलयानन्द है। जसवन्तसिंह का 'भाषा-भूषण' मतिराम का 'ललितललाम' आदि इस श्रेणी के उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

(४) चतुर्थश्रेणी नायिकाभेद का निरूपण करने वाले ग्रन्थों का है। इन ग्रन्थों का अलंकार-शास्त्र से परोक्ष सम्बन्ध है। इनमें शृंगार-रस के आलंबन के स्वरूप एवं भेदोपभेदों पर विचार हुआ है। रीतिकालीन साहित्य की यह प्रमुख प्रवृत्ति है। इस प्रकार के ग्रन्थ उस काल में बहुत ही लोकप्रिय रहे हैं।

इसके अतिरिक्त जिन कवियों में स्पष्टतः काव्यरीति के निरूपण की स्पष्ट आकांक्षा के दर्शन नहीं होते उन पर भी रीतिकाल की इस प्रवृत्ति का प्रभाव अवश्य परिलक्षित होता है। विहारी जैसे प्रतिभा-सम्पन्न कवियों ने अलंकार-शास्त्र के निरूपण की चेष्टा नहीं की है। पर उनके दोहों में अनेक अलकारों तथा विभिन्न प्रकार की नायक-नायिकाओं का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि उन पर रीति-निरूपण की आकांक्षा का प्रभाव अवश्य है। इसे भी कुछ लोग परोक्षरूप में निरूपण ही मानते हैं। इस प्रकार इस काल का सारा साहित्य ही इस प्रवृत्ति से प्रभावित रहा है।

इस काल के आचार्यों ने काव्य के तत्वों का जो कुछ विवेचन

किया है, उसका उद्देश्य केवल साधारण पाठक को काव्य-रीति का ज्ञान मात्र करा देना है, जिससे वह शास्त्र का आधार लेकर वर्णित चमत्कारों को समझ सके तथा उनका आनन्द उठा सके। यह निरूपण विद्वत्समाज के लिए नहीं है। यही कारण है कि इसमें संस्कृत-साहित्य की प्रौढ़ता का अभाव है। इस काल के आचार्यों ने काव्य के सब तत्वों पर विचार ही नहीं किया। वक्रोक्ति, रीति, औचित्य आदि तो प्रायः उपेक्षित विषय ही रहे। जिन लोगों ने काव्य-प्रकाश का अनुवाद किया, उन्होंने जरा संकेत भर भले कर दिया हो, अन्यथा रीतिकाल का आचार्य तो केवल अलंकार, नायिका-भेद और श्रृंगार-रस की ही बातें करता रहा। इन आचार्यों ने रस के विभिन्न अङ्गों पर भी विशद रूप से विचार नहीं किया है। ध्वनि जैसे विषय पर किसी न किसी ने बहुत थोड़ा सा लिखा है। नाटक का विषय तो पूर्णतः उपेक्षित ही रहा। वस्तुतः इस काल का विवेचन प्रायः सामान्य कोटि का ही रहा। रीतिकालीन आचार्यों ने कहीं कोई मौलिक चिन्तन नहीं किया। जहाँ कहीं भी उनकी मौलिकता प्रतीत होती है, वह भी प्रायः संस्कृत के ग्रन्थों की ही सामग्री है।

अब तक तो रीति का प्रमुख काव्य-धारा एवं अलंकार निरूपण-पद्धति का विवेचन हुआ। पर रीतिकाल में ऐसी रचनाओं का भी अभाव नहीं रहा है, जिसे रीतिमुक्त काव्य-धारा के नाम से पुकारा जा सकता है। ऐसे बिहारी, घनानन्द आदि रीतिकार नहीं हैं। इनकी कविता में प्रेम की स्वच्छन्द धारा का सहज प्रवाह मिलता है। इनमें से बहुतों में श्रृङ्गार-रस की मादकता के दर्शन होते हैं। यही इनके काव्य की प्रमुख विशेषता है। पर बिहारी जैसे कवियों की रचनाओं को एक प्रकार से रीतिमुक्त कविता नहीं माना जा सकता। इनका काव्य भी एक दृष्टि से रीति परम्परा में आता है, इसका निर्देश ऊपर हो चुका है। इसके अतिरिक्त देव, पद्माकर,

मतिराम आदि जो आलंकारिक हैं काव्य की दृष्टि से उसी परम्परा के कवि हैं। पर घनानन्द इनसे कुछ भिन्न हैं। इनका शृङ्गार और प्रेम वर्णन का स्वर कुछ दूसरा है। यह उनके विवेचन में स्पष्ट किया जायेगा। प्रेमोन्माद के कवि रसखान, घनानन्द आदि रीतिमुक्त काव्य-धारा के कवि हैं। रीतिमुक्त काव्य-धारा में यह सबसे महत्वपूर्ण वर्ग है। इस काल में कुछ कथा-प्रबन्ध भी लिखे गये, पर इनमें उत्कृष्ट काव्य-सौष्ठव के दर्शन बहुत कम होते हैं। जोधराज का हमीर-रासो, गुमान मिश्र का नैषध-चरित्र आदि इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। 'हमीर-रासो' में अच्छा साहित्यिक सौन्दर्य है। दान-लीला, मानलीला, आदि प्रसंगों को लेकर कथात्मक प्रबन्ध-काव्यों की भी रचना हुई। ऐसे काव्य भक्तिकाल का ही विकास है। नीति के फुटकर पदों के रचयिता की भी एक श्रेणी रीतिकाल में हुई है। इसमें से प्रमुख वृन्द गिरिधर आदि हैं। ऐसे कवि जीवन के गम्भीर अनुभवों को नीति के उपदेशों के रूप में रखते हैं। इनकी उक्तियों में विदग्धता और कौशल प्रचुर मात्रा में रहता है। कहीं कहीं इसमें हृदयस्पर्शी उक्तियाँ भी मिलती हैं। पर ये लोग वस्तुतः कवि नहीं सूक्तिकार ही माने जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त जो लोग ब्रह्मज्ञान और वैराग्य का उपदेश देते रहे हैं। वे तो केवल बुद्धि का ही भोजन दे सके, इसलिए उनकी गणना तो कवियों में की ही नहीं जासकती है। इस काल में भक्ति और विनय की पुरानी पद्धति के पद भी रचे जाते रहे। भूषण आदि ने इस काल में वीररस के साहित्य का सृजन किया। उनमें लक्षण-ग्रन्थों की शैली का तो निर्वाह हुआ है। पर ये ग्रन्थ काव्य की दृष्टि से रीतिकालीन रुग्ण मनोवृत्ति के साहित्य से नितान्त भिन्न है। इनमें विलासिता का गन्दापन नहीं है। ये तो जातीय भावना से प्रेरित उच्च वीर-काव्य हैं। इनमें कवि हृदय की सच्ची अनुभूति है, जिसमें मुगलों के अत्याचारों से पीड़ित

जनता के सच्चे क्षोभ और उत्साह का यथार्थ एवं भावमय प्रतिनिधित्व हुआ है।

सारांश यह है कि रीतिकाल में हिन्दी-साहित्य की परम्परा से चली आती हुई प्रायः सभी काव्य-धाराओं के दर्शन होते हैं। इनमें से अधिकांश प्रवृत्तियाँ धीरे धीरे क्षीणबल होती गई हैं। बहुतों का तो रीतिकाल में केवल नाम मात्र ही रह गया था। इस काल में ऐहिकता परक और रुग्ण मनोभावों के साहित्य का ही प्राधान्य होता गया, जो जातीय जीवन के पतन का परिणाम मात्र था। रीतिकाल का साहित्य धीरे धीरे जीवन से निरपेक्ष तथा केवल काल्पनिक लोक की वस्तु बन गया। जीवन की नवीन परिस्थितियों के कारण सहृदय ही बदल गये। जनता में जीवन की उलझनों के कारण भावुक साहित्य आदि के रसास्वाद की मनोवृत्ति ही कम होती गई। अन्त में ऐसी क्रान्ति हुई कि साहित्य को भी एकदम भिन्न एवं नवीन मार्ग अपनाना पड़ा।

केशवदास—

केशवदास रीतिकाल के प्रथम आचार्य माने जासकते हैं। इसके पूर्व भी अलंकार शास्त्र पर कुछ लोगों ने ग्रन्थ लिखे थे। कृपाराम की 'हिततरंगिनी' इनके पूर्व की मानी जाती है, पर उसका रचना-काल अनिश्चित है। कुछ लोग इसे इतनी पुरानी नहीं मानना चाहते हैं, यह मत कुछ ठीक भी प्रतीत होता है, इस प्रकार केशव ही प्रथम आचार्य ठहरते हैं। इनके पूर्व के रीतिकार आचार्य की कोटि में भी नहीं आ पाते हैं। ये सनाढ्य जाति के ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १६१२ में तथा मृत्यु सं० १६७४ के आस पास मानी जाती है। ये ओरछा नरेश के भाई इन्द्रजीतसिंह के पास रहते थे। इनका सारा घर ही संस्कृत का ज्ञाता था। इनके समय में अलंकार-शास्त्र के प्रणयन की भावना जाग्रत हो चुकी थी। कुछ लिखा भी जा चुका था। पर वह बहुत ही सामान्य स्तर का था।

संस्कृत के अच्छे विद्वान् होने के कारण अलंकार-शास्त्र का प्रौढ़ और प्रामाणिक विवेचन इनके लिये अधिक सहज था।

केशव की प्रधान रचनायें रसिक-प्रिया, कविप्रिया और रामचन्द्रिका हैं। प्रथम दोनों पुस्तकें अलंकार-शास्त्र की हैं। 'रसिकप्रिया' में इन्होंने रस का निरुपण किया है और 'कवि-प्रिया' में अलंकारों का। केशव ने संस्कृत के साहित्य-शास्त्र की अत्यन्त प्राचीन परम्परा का अनुसरण किया है। भामह, उद्भट आदि काव्य के सभी तत्वों का समावेश अलंकार में ही कर देते थे। यही केशव ने किया है। इन्होंने अलंकारों के दो भेद किये हैं, एक सामान्य और दूसरा विशेष। वस्तुतः अलंकारों का निरुपण तो विशेष में ही है। 'सामान्य' में काव्य के वर्ण्य-विषयों का निर्देश है, जो परवर्ती परम्परा के अनुसार वस्तुतः अलंकार्य है अलंकार नहीं। केशव ने अलंकार और अलंकार्य में अन्तर नहीं माना। रीतिकाल के परवर्ती आचार्यों ने मम्मट, विश्वनाथ और जयदेव का अनुकरण किया तथा अलंकार्य को अलंकारों से पृथक सत्ता स्वीकार करके ही विवेचन किया। यही कारण है कि शुक्लजी केशव की अपेक्षा चिन्तामणि से रीति परम्परा का प्रारम्भ मानना अधिक समीचीन समझते हैं। केशव चमत्कारवादी हैं। वे काव्य में अलंकरों को ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। इनका सारा विवेचन संस्कृत-साहित्य का अनुकरण ही है। कहीं-कहीं इन्होंने मौलिकता के प्रदर्शन का प्रयत्न भी किया है, पर उसमें अधिक सफल नहीं हो सके। कहीं लक्षण ठीक नहीं हुए तो कहीं उदाहरणों में कुछ कमी रह गई। फिर भी केशव का आचार्यत्व की दृष्टि से महत्व कम नहीं है। अलंकारों पर इतना विशद और प्रामाणिक विवेचन हिन्दी में इनसे पूर्व नहीं हुआ था, ऐसा ही मानना पड़ता है। बहुत दिनों तक तो इनके ग्रन्थों के अध्ययन के बिना हिन्दी में रीति-शास्त्र का अध्ययन अधूरा ही माना जाता था। देव

आदि परवर्ती आचार्यों पर इनका प्रभाव भी स्पष्ट प्रतीत होता है।

केशव में महाकवि के उपयुक्त भावुकता और सहृदयता का अभाव है। इनकी 'रामचन्द्रिका' राम के चरित पर एक महाकाव्य है। पर इसमें प्रबन्ध के प्रवाह का अभाव है। यह फुटकर छन्दों का संग्रह अधिक हो गया है। केशव रामकथा के मार्मिक स्थलों को नहीं पहचान सके। राम के बन जाते समय इन्होंने लोगों के हृदय में राम लक्ष्मण के ठग होने के संदेह की कल्पना की है। ऐसे अलौकिक सौन्दर्य से तुलसी का मन मुग्ध हो गया और उनका हृदय अनेक भाव-धाराओं में बह उठा, पर केशव को तो टग कहलाने की ही सूझी। अन्य स्थानों पर भी उन्होंने ऐसी ही असहृदयता का परिचय दिया है। केशव के हृदय में प्रकृति के प्रति आकर्षण नहीं था इसलिए इनमें ऐसे चित्रों का अभाव ही है। ऐसे स्थलों में वे व्यर्थ के अलंकारों के चमत्कार में उलझ जाते हैं। केशव की शब्द-साम्य के आधार पर जो चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ हैं, वे केवल कुतूहल मात्र उत्पन्न करती हैं उनमें रमणीयता का आह्लाद नहीं होता। इस प्रकार केशव में प्रबन्ध-काव्योचित प्रतिभा का अभाव ही प्रतीत होता है। वे वर्णन करते समय अवसर के औचित्य का ध्यान नहीं रख पाते हैं।

केशव सम्वाद लिखने में बहुत सफल हुए हैं। इनके संवादों में पात्रानुकूलता है। अवसर के अनुसार क्रोध उत्साह आदि भावों की सफल अभिव्यक्ति हुई है। शृङ्गार-रस के फुटकर छन्दों में भी केशव की सहृदयता के दर्शन होते हैं। इनकी 'रसिकप्रिया' में उदाहरण अधिक उत्कृष्ट है। भाषा भी अधिक प्रांजल है। शृंगार के स्थलों में अनुभूति की मांसलता और रसिकता के स्पष्ट दर्शन होते हैं। केशव को ऐसे ही प्रसंगों की सच्ची अनुभूति थी। यही कारण है कि ये स्थल अधिक हृदयस्पर्शी हुए हैं। यद्यपि

इन्होंने राधा और कृष्ण की लीला का वर्णन किया है, पर इन स्थलों में भक्ति की पवित्रता का निर्वाह नहीं हो पाया है। इन्होंने राधा और कृष्ण को अत्यन्त सामान्य नायक और नायिका के रूप में ही चित्रित किया है, जो रीतिकालीन प्रवृत्ति की प्रमुख विशेषता है। केशव में भक्त-हृदय की सी सहृदयता नहीं है। उनकी कविता में भक्तकवियों की सी सरसता, तन्मयता और हृदय-स्पर्शिता का अभाव और चमत्कार का प्राधान्य है। यही कारण है कि इनको रीतिकाल में ही गिनना अधिक समीचीन है।

चिंतामणि त्रिपाठी—

इनका जन्म सं० १६६६ माना जाता है। ये भूषण और मतिराम के भाई थे। कुछ लोग इसमें संदेह करते हैं, पर किसी प्रौढ़ प्रमाण के आधार पर नहीं। इन्होंने 'कवि-कुल-कल्पतरु' नामक ग्रन्थ सं० १७०७ में लिखा था। इनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'काव्य-विवेक'। इन्होंने काव्य के सभी अंगों पर पर्याप्त प्रौढ़ता से विचार किया है। इस विवेचन का आधार मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' है। इनकी रची हुई 'रामायण' इनकी उत्कृष्ट कवित्व-प्रतिभा का परिचय देती है। इनकी ब्रजभाषा विशुद्ध और ललित है। इसमें अनुप्रास की प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं।

महाराज जसवंत सिंह—

ये मारवाड़ के प्रसिद्ध प्रतापी हिन्दू नरेश थे। इनका जन्म सं० १६८३ में हुआ था। शाहजहाँ के समय में इन्होंने अनेक युद्ध किये। ये बहुत अच्छे साहित्य मर्मज्ञ थे। इनके यहाँ विद्वानों और कवियों का बराबर जमघट रहता था। इन्होंने स्वयं भी ग्रन्थ लिखे तथा अनेक विद्वानों से भी लिखाये। 'भाषा-भूषण' इनका बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने जयदेव के 'चन्द्रालोक' का अनुकरण किया है। इसमें एक ही छन्द में अलंकार का लक्षण और उदाहरण दोनों हैं।। यह ग्रन्थ आचार्यत्व की दृष्टि

से लिखा गया है। इसमें विवेचन की प्रौढ़ता और प्रामाणिकता के दर्शन होते हैं। रीतिकाल के अन्य ग्रन्थ कवित्व की दृष्टि से लिखे गये, इसलिये उनमें शास्त्रीय प्रौढ़ता का निर्वाह प्रायः नहीं हो सका। 'भाषा-भूषण' में यह दोष नहीं है, क्योंकि इसमें कवित्व का मोह नहीं है। यह ग्रन्थ बहुत लोक-प्रिय रहा है। यह अत्यन्त सुगम और सरल ग्रन्थ है। जसवंत सिंह रीतिकाल के अलंकार-सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य हैं जिन्होंने काव्य के सब अंगों पर न लिखकर केवल अलंकारों का ही विवेचन किया है। महाराज जसवंत सिंह तत्वज्ञानी भी माने जाते हैं। इन्होंने अपरोक्ष-सिद्धान्त 'अनुभव-प्रकाश' आदि अनेक ग्रन्थ भी लिखे हैं।

बिहारीलाल—

इनका जन्म सं० १६६० माना जाता है। ये मिर्जा राजा जयसिंह के दरबारी कवि थे। जब ये जयपुर पहुँचे, उस समय राजा अपनी छोटी रानी के प्रेम में इतना लीन हो गया था कि सारा राज-काज छोड़कर अन्तः पुर में रहा करता था। बिहारी ने निम्नलिखित दोहा लिखकर भेजा।

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥

इसी से प्रभावित होकर राजा बाहर आगये। तब से बिहारी उनके दरबार के कवि हो गये। बिहारी ने केवल 'सतसई' का ही निर्माण किया है, पर इसी एक रचना के आधार पर ये बड़े भारी कवि माने जाते हैं। इनकी हिन्दी के उत्कृष्ट महाकवियों में गणना है। ये बहुत ही स्वतन्त्र प्रकृति के व्यक्ति थे। इन्होंने अपने आश्रय-दाता को भी हिन्दुओं के विरुद्ध न लड़ने का उपदेश दिया है। उनको संभवतः उतनी अशर्फियाँ नहीं मिली जितनी देने का बचन दिया गया था। पर ये बहुत संतोषी व्यक्ति थे। उन्होंने राजा को केवल मृदुल उपालम्भ मात्र दिया।

बिहारी रीतिकाल के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि हैं। रीतिकालीन काव्य की प्रमुख विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके काव्य में नायिका भेद का अत्यन्त सूक्ष्म निरूपण है। प्रायः प्रत्येक दोहे में किसी न किसी नायिका के स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख अथवा कम से कम संकेत अवश्य है। अलंकार, हाव, भाव, अनुभाव आदि का भी बहुत ही सूक्ष्म निरूपण है। इसी आधार पर कुछ लोगों का अनुमान है कि बिहारी की रचना भी रीति ग्रन्थों की कोटि में आती है। कुछ टीकाकारों ने इनके दोहों का संकलन भी नायिका भेद के विभाजन के आधार पर किया है। इतना सब होते हुए भी 'बिहारी-सतसई' रीति ग्रन्थों की परम्परा में नहीं आती। बिहारी का उद्देश्य रीति-ग्रन्थ का प्रणयन नहीं प्रतीत होता है। आचार्यत्व उनका उद्देश्य नहीं था। ये विशुद्ध कवि ही हैं। हां उनके काव्य की प्रेरणायें रीतिकाल के काव्य की प्रमुख चेतनाओं से भिन्न नहीं हैं। इसीलिए नायिका-भेद और चमत्कार-प्रियता उनके काव्य की विशेषतायें हैं। संस्कृत-साहित्य की जिस परम्परा का अनुकरण बिहारी ने किया है उसकी भी यही विशेषतायें थीं।

'बिहारी सतसई' अपने से पूर्ववर्ती लम्बी परम्परा का विकास मात्र है। शतक, सप्तशती आदि लिखने की परम्परा बहुत प्राचीन है। केवल शृंगार रस की रचनाओं में ही शतक की परम्परा नहीं थी, अन्य वर्ण्य-विषयों का निरूपण भी इस शैली में होता था। दुर्गा-सप्तशती, श्रीमद्भागवद्गीता आदि इसके प्रमाण हैं। भर्तृहरि ने शृंगार-शतक के साथ ही नीति और वैराग्य पर भी शतक लिखे हैं। बिहारी की सतसई पर जिन ग्रन्थों का सबसे अधिक प्रभाव प्रतीत होता है वे हैं गाथा-सप्तशती और आर्या-सप्तशती। बिहारी के अधिकाँश दोहों के संस्कृत अथवा प्राकृत रूपान्तर उपलब्ध हो जाते हैं। बिहारी के काव्य-सौष्ठव के

अध्ययन का एक आधार इन ग्रन्थों से तुलना भी रही है। संस्कृत और अपभ्रंश के ऐसे ग्रन्थों में नायिकाओं के शील और शृंगारमय शारीरिक चेष्टाओं का ही अधिकव र्णन हुआ है। इनमें प्रेम के सहज रूप के दर्शन कम होते हैं। नायिकाओं के शारीरिक सौन्दर्य के रसवस्वाद का ही आधिक्य रहा। ये सभी विशेषतायें बिहारी की सतसई में भी उपलब्ध होती है। बिहारी ने अनेक प्रकार के हावों, हेलाओं और अनुभावों के सजीव चित्र दिये हैं। उन्होंने प्रियतमा की शोभा, माधुर्य, दीप्ति आदि के चित्रण के लिए बाह्य चेष्टाओं का ही आधार लिया है।

बिहारी शृंगार-रस के कवि हैं। उनकी सतसई में संयोग और वियोग दोनों पक्षों का बहुत ही सुन्दर वर्णन है। इनके वर्णन में बहुत सजीवता है। रसव्यंजना और भावव्यंजना के सुन्दर वैभव के दर्शन होते हैं। बिहारी ने अनुभावों और हावों का बहुत सजीव वर्णन किया है। बिहारी ने शृंगाररस के सभी संचारी भावों और मानसिक अवस्थाओं का चित्रण किया है। विरहताप विरहजनित-क्षीणता; आदि की वस्तु-व्यंजना में बिहारी की वृत्ति खूब रमी है। उसमें अनेक स्थल बहुत ही प्रभावाभिव्यञ्जक हैं। लेकिन अनेक स्थलों पर अतिशयोक्ति के आधार पर केवल वस्तु-व्यंजना हुई है। ये स्थल ऊहोक्ति मात्र हैं। विरहताप से शीशी के गुलाबजल का सूख जाना, विरहिणी का छः सात हाथ इधर उधर डोल जाना, जाड़े में भी गीले वस्त्रों का प्रयोग आदि ऐसे स्थल हैं जो औचित्य की सीमा का उलंघन कर जाते हैं। रसव्यंजना के अतिरिक्त बिहारी की सूक्तियाँ भी अत्यन्त सुन्दर हुई हैं। इन सूक्तियों में बिहारी की बहुज्ञता का परिचय मिलता है। बिहारी की मुक्तक कविता में रस के छींटे हैं जो पाठक को क्षण भर के लिए रस मग्न करते हैं। उनकी कविता में भाव की अत्यन्त स्वच्छ गहरी और विशद धारा नहीं है, जिसमें पाठक अवगाहन करके

बहुत देर तक अलौकिक आह्लाद प्राप्त कर सके। बिहारी की कविता में चमत्कार-जनित आनन्द ही उपलब्ध होता है। उनकी कविता में प्रेम की उच्च भूमि नहीं है। भावों का बहुत उत्कृष्ट रूप उनमें नहीं है।

रीतिकाल की कविता में अलंकारों के चमत्कार की ही अधिक प्रधानता रही है। बिहारी का मन भी अलंकार-योजना में बहुत अधिक रमा है। उन्होंने प्रत्येक छन्द में अनेक अलंकारों की योजना की है। बिहारी के अलंकार अधिकाँश क्षणिक आवेग उत्पन्न करके चमत्कार का आनन्द प्रदान करते हैं। उनकी व्यंजित वस्तु वाह्य-सत्ता से मेल नहीं खाते। काल्पनिक स्थिति की व्यंजना-मात्र होती है। ओठों के माधुर्य से दतुन का मीठा हो जाना, ऐसी ही वस्तु-व्यंजना है। अलंकारों से भाव और वस्तु की अनुभूति जाग्रत कराने की क्षमता बिहारी में कम है। बिहारी के शब्दालंकारों में खिलवाड़ की अत्यधिक प्रवृत्ति नहीं है। उसमें रमणीयता के निर्वाह का ध्यान अधिक है। ये रस के सहायक भी हुए हैं। बिहारी की भाषा बहुत ही सजीव है। वह चलती हुई होते हुए भी उसमें साहित्यिक प्रौढ़ता है। बिहारी की भाषा में शब्दों का प्रयोग अत्यन्त व्यवस्थित है। रीतिकाल के अन्य कवियों में इस गुण का अभाव है।

मतिराम:—

इनका जन्म तिकवांपुर नामक ग्राम में सं० १६७४ के लगभग हुआ था। ये बूँदी के महाराज भावसिंह के आश्रय में बहुत दिन तक रहे। वहीं पर उन्होंने 'ललितललाम' नामक अलंकार-ग्रन्थ लिखा। 'ललितललाम' और 'रसराज' नामक दो प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त मतिराम ने 'लक्षण-शृंगार' साहित्य-सार' 'छोदसार' आदि और भी ग्रन्थ लिखे हैं। 'मतिराम सतसई' नामक इनका एक और ग्रन्थ मिला है।

'ललित ललाम' और 'रसराज' इनके अलंकार और रस-निरूपण के ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ अपनी सरसता के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये हैं। इनके लक्षण सर्वथा निर्दुष्ट तो नहीं है, पर उदाहरणों की सरसता देखने लायक है। मतिराम के काव्य में भावों के सहज सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। उनकी भाव-व्यञ्जना में कृत्रिमता नहीं हैं। बिहारी की तरह इनकी प्रवृत्ति विचित्र भावों और वस्तु-व्यंजना से पाठक के हृदय को चमत्कृत करने की नहीं रही। इनके काव्य में अनुभूति की स्वाभाविक रमणीयता ही मिलती है। भावों की तरह इन्होंने भाषा के भी सहज और सरल रूप को ही ग्रहण किया है। उसमें कहीं भी शब्द-बारीकी और व्यर्थ के अलंकार चमत्कार की प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते हैं। वे भाषा के चक्करदार रूप को ग्रहण करके नहीं चले हैं। जैसे इन्होंने भारतीय-जीवन के मर्मस्पर्शी प्रसंगों को ग्रहण करके उनका अनुभूतिव्यंजक चित्रण किया है उसी के अनुरूप इनकी भाषा रही है। उसमें भाव-व्यञ्जना के स्वाभाविक स्वरूप के दर्शन होते हैं।

भूषण—

इनका जन्म सं १६७० में हुआ था। ये प्रसिद्ध शृंगारी कवि मतिराम के भाई थे। इनके असली नाम का पता नहीं है। सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हें 'कविभूषण' की उपाधि दी थी। तभी से ये भूषण नाम से प्रसिद्ध हो गये। ये अनेक राजाओं के आश्रय में रहे; पर अन्त में ये छत्रपति महाराजा शिवाजी के आश्रय में आ गये। महाराज छत्रसाल ने भी इनका बहुत सम्मान किया था।

भूषण के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं 'शिवराज भूषण' 'शिवा बावनी' और 'छत्रसाल दशक'। इसके अतिरिक्त 'भूषण उल्लास', 'भूषण-हजारा' और 'दूषण उल्लास' इन्हीं के द्वारा रचे हुए माने जाते हैं। भूषण

शिवाजी के पहले अन्य राजाओं के आश्रय में भी रहे थे। इन्होंने उनकी प्रशंसा में भी ग्रन्थ लिखे थे, पर उन रचनाओं में कवि हृदय की सच्चाई न रहने के कारण वे लुप्त हो गई होंगी। अलंकार-निरूपण की परम्परा का प्रभाव भूषण पर भी पड़ा। उन्होंने भी अपने प्रधान ग्रन्थ 'शिवराज भूषण' की रचना अलंकार-निरूपण की पद्धति में ही की। इसमें अलंकारों के लक्षण दिये गये हैं और उदाहरण के रूप में शिवाजी की वीरता की प्रशंसा है, पर यह ग्रन्थ अलंकार-निरूपण की दृष्टि से सफल नहीं हुआ है।

रीतिकाल शृङ्गार रस का काल था। उस काल के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में वीर-रस की कवितायें भी की हैं, पर सच्ची अनुभूति और उपयुक्त आलम्बन के अभाव में अधिकांश कवियों की वीररस प्रधान कविता हृदयस्पर्शी नहीं हो सकी। भूषण इस नियम के अपवाद थे। उनके हृदय में शृङ्गार की अपेक्षा वीर-भावना की ही सच्ची अनुभूति थी। मुगलों के अत्याचारों से पीड़ित हिन्दू-जनता के हृदय के क्षोभ एवं उनके विरोध में उत्साह से भूषण का हृदय कूट-कूट कर भरा हुआ था। शिवाजी जैसे चरितनायक के आश्रय से उनके हृदय का क्षोभ भी उत्साह बन कर अभिव्यक्त हुआ। अन्याय का दमन तथा हिन्दुत्व की संरक्षा करने वाले शिवाजी के प्रति प्रत्येक सच्चे मानव हृदय में उस समय भी श्रद्धा और आदर की भावना थी और वह हमेशा रहेगी। ऐसे व्यक्ति के वीर कृत्यों का वर्णन प्रत्येक सहृदय के गले का हार बन जाना स्वाभाविक था। भूषण की कीर्ति का यही आधार है। इनकी कविता में राष्ट्रीय भावना कूट-कूट कर भरी है। इन्होंने अत्याचार-पीड़ित जनता के क्षोभ का चित्रण नहीं किया है; बल्कि अत्याचारी के दमन, उसके भय और शिवाजी की वीरता का ही अधिक वर्णन किया है। शिवाजी के कृत्यों तथा भूषण की कविता में साम्प्रदायिकता की गन्ध लेने वाले व्यक्तियों में

सच्ची सहृदयता का अभाव है। इसमें मुगलों की धर्मान्धता से प्रेरित अत्याचारों का विरोध है, इसमें किसी भी धर्म व जाति के विरुद्ध घृणा का प्रचार नहीं है। एक धर्म और जाति विशेष पर होने वाले अत्याचारों का विरोध निश्चय ही राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार भूषण राष्ट्रीय भावना के ही कवि हैं।

ओज भूषण की भाषा का प्रधान गुण है। प्रायः कवि ने कठोर ध्वनि वाले शब्दों का अधिक प्रयोग किया है। इनकी भाषा अव्यवस्थित और व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करने वाली है। कवि ने शब्दों को बहुत तोड़ मरोड़ दिया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने अपने मन से नये शब्द गढ़ भी लिये हैं।

देव—

इनका जन्म सं० १७३० माना जाता है। इन्होंने स्वयं अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भावविलास' का रचनाकाल सं० १७४६ बताया है। उस समय इनकी उम्र १६ वर्ष की थी। इस प्रकार इनका यह जन्म सम्वत् ठीक प्रतीत होता है। देव को कोई उपयुक्त आश्रयदाता नहीं प्राप्त हुआ, इसलिए ये आजन्म किसी एक के पास नहीं रह सके। ये बराबर नये-नये आश्रय ढूँढ़ते रहे। इन्होंने देश-भ्रमण भी किया था। इसी भ्रमण के उपरान्त इन्होंने 'जातिविलास' नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें विभिन्न देशों की स्त्रियों का वर्णन है।

रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में से सबसे अधिक ग्रन्थों का प्रणयन देव ने ही किया है। इनके ग्रन्थों की संख्या ५२ बताई जाती है। कुछ का तो अनुमान ७२ तक पहुँच जाता है। इनके ग्रन्थों की संख्या का इतनी वृद्धि का एक कारण तो आश्रयदाताओं की अनेकता है। दूसरे देव अपने पुराने छन्दों का संकलन करके नवीन ग्रन्थ बना देते थे। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ निम्न-लिखित हैं :—

(१) भाव-विलास, (२) शब्द-रसायन, (३) रस-विलास, (४) भवानी-विलास, (५) अष्टयाम।

इनके प्रारम्भिक ग्रन्थों में शृङ्गार भावना और यौवन के उन्माद का चित्र है, पर बाद की रचनाओं का विषय वैराग्य और तत्त्वदर्शन हो गया है। इससे इनके मानसिक विकास का क्रम स्पष्ट है। ये ग्रन्थ इनके मानसिक विकास का इतिहास प्रस्तुत करते हैं।

देव कवि और आचार्य दोनों थे। उनका 'काव्य-प्रकाश' का अच्छा अध्ययन था। उनका 'शब्द-रसायन' 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर ही लिखा गया है। उसमें काव्य के सभी तत्त्वों का निरूपण है। गद्य के अभाव में अपेक्षित इसमें भी प्रौढ़ता और स्पष्टता नहीं आ पाई है। देव ने एक-आध स्थान पर मौलिकता भी दिखाई है। वे रस को अभिधेय मानते हैं। उन्होंने 'छल' संचारी और तात्पर्य-वृत्ति का उल्लेख किया है। इनको कुछ लोग देव की मौलिकता मानते हैं, पर ये सभी संस्कृत आचार्यों से ली गई हैं। प्राचीन आचार्यों ने रस को अभिधेय कहा है। रसतरंगिणी में छल संचारी का उल्लेख है। रीति काल में केवल रस-निरूपण तथा सभी काव्यांगों का विवेचन करने वाले दोनों प्रकार के आचार्य थे। देव ने दोनों प्रकार के ग्रन्थ लिखे हैं। उनको 'शब्द रसायन' में काव्यांगों का सर्वाङ्गीण विवेचन है, पर 'रस-विलास' में केवल रस का निरूपण है।

देव गार्हस्थ्य-प्रेम के उत्कृष्ट और सरस कवि हैं। उन्होंने दाम्पत्य-प्रेम के मादक चित्र खींचे हैं। उनके चित्रों में मर्मस्पर्शिता है। देव अनेक स्थानों पर बहुत ही ऊँची भाव-स्थिति की कल्पना करते हैं। पर उसके चित्रण में कई स्थानों पर सफल नहीं हो सके। उसका कारण उनका अनुप्रास का मोह है। वे अक्षर-मैत्री के लोभ से भाव-सौन्दर्य के निर्वाह में असफल हो जाते हैं। कहीं-कहीं

पर अर्थ भी धूमिल हो जाता है । अनेक स्थानों पर अनुप्रास के लिए अशक्त शब्दों का प्रयोग कर देते हैं। जहाँ कवि ऐसे बाहरी आडम्बर में नहीं फंसे हैं, वहाँ पर उनकी भाषा में प्रवाह और सरसता है। देव का सा भाव-सौष्ठव और नूतन कल्पनायें बहुत कम कवियों में मिलती हैं। वे सप्रयास अलंकार-योजना, प्रेम की शारीरिक चेष्टाओं के वर्णन में जितने सफल हुए हैं उतने ही प्रयासहीन अलंकारों की योजना और प्रेमजनित मनोविकारों के चित्रण में भी। देव निस्संदेह ही प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे।

भिखारी दास—

ये जाति के कायस्थ थे। इन्होंने अपना विस्तृत वंश-परिचय दिया है। ये प्रतापगढ़ के राजा के भाई के आश्रय में रहते थे। इनका रचनाकाल सं० १७९५ से १८०७ तक माना जाता है। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-निर्णय', 'शृङ्गार-निर्णय', 'रस-सारांश' आदि हैं। रीतिकाल के अलंकार-शास्त्रियों में इनका प्रमुख स्थान है। इनसे पूर्व हिन्दी में काव्यांगों का सर्वाङ्गीण और प्रौढ़ विवेचन केवल श्रीपति और कुलपति का ही था। श्रीपति के 'काव्य-सरोज' और 'कवि-कल्पद्रुम' का उपभोग दास ने भी किया था। दास के काव्य-निर्णय का आधार मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' ही है। इन्होंने काव्य-रस, अलंकार, गुण आदि सभी तत्वों का निरूपण किया है। दास रीतिकाल के उन आचार्यों में से थे जिन्होंने शब्द-शक्ति पर भी लिखा है। दास के लक्षण अधिक स्पष्ट हैं। पर व्याख्या के अभाव से इसमें भी पर्याप्त प्रौढ़ता नहीं आ पाई है। कुलपति का 'रस-रहस्य' भी काव्य-प्रकाश का छायानुवाद ही है। इन्होंने गद्य में वार्तिक का भी प्रयोग किया है। पर गद्य के अविकसित रहने के कारण विषय का पूरा स्पष्ट विवेचन ये भी नहीं कर सके। रीतिकाल के प्रायः सभी आचार्यों के लिए यह असुविधा रही है।

यही कारण है कि उनको आचार्य कहते हुए आज का आलोचक कभी-कभी हिचकता है। दास में विवेचन की शक्ति है। इन्होंने हिन्दी के कवियों की भाषा आदि पर भी विचार किया है।

दासजी अच्छे कवि भी थे। शृङ्गार-रस में ही इनकी अधिक रुचि थी। इन्होंने 'रससारांश' का प्रणयन देव के जातिविलास के अनुकरण पर ही किया प्रतीत होता है। इसमें विभिन्न जातियों और देशों की नायिकाओं का वर्णन है। इसका शृङ्गार-निर्णय' भी बहुत ही सुन्दर रचना है। इसके उदाहरण सरस और मर्म-स्पर्शी है। दास में शब्द-चमत्कार की प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते हैं। इन्होंने कविता की ऊँची उड़ान लेने का भी व्यर्थ प्रयास नहीं किया है। इसलिये इनकी काव्य-शैली सरल है। इनकी शैली और भाषा में भावों की अभिव्यक्ति की अनुकूलता और सामर्थ्य है।

"पद्माकर भट्ट'—

ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता सौ वर्ष के थे। ये अच्छे पंडित और उत्कृष्ट कवि थे। विहारी के बाद रीतिकालीन लोकप्रिय कवियों में इनका स्थान प्रथम माना जाता है। अपने गुणों के कारण इन्हें कई एक राजाओं का आश्रय प्राप्त हुआ। इनके रचना-काल का अधिकांश भाग जयपुर में व्यतीत हुआ। वहाँ पर ये राजा प्रतापसिंह तथा उसके पुत्र के आश्रय में रहे। वहाँ पर इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की। 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' की रचना वहीं हुई थी। पहला ग्रन्थ शृङ्गार-रस का तथा दूसरा अलंकार-निरूपण का है। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'हिम्मत बहादुर बिरदावली' और प्रबोध-पचासा की भी रचना की। ये दोनों ग्रन्थ क्रमशः वीर और भक्ति रस के हैं। पर इनको जितनी सफलता शृङ्गार रस में मिली उतनी भक्ति और वीर रस में नहीं मिल सकी। 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' दोनों ही ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुए।

पद्माकर रीतिकाल के परमोत्कृष्ट कवि थे। इनकी शृङ्गार रस की भावयोजना सरस, सहज और अनुभूतिपूर्ण है। इसमें भावों का आडम्बर नहीं मिलता है। इनका अनुभावों और हावों का चित्रण मर्मस्पर्शी है। इस क्षेत्र में वे बिहारी के समकक्ष प्रतीत होते हैं। इनमें बिहारी का सा बागवैदग्ध्य भी मिलता है, तथा मतिराम के समान भाषा का स्वाभाविक प्रवाह भी। इनकी सूक्तियाँ भी बहुत उत्तम कोटि की हैं, पर इस क्षेत्र में वे बिहारी की समता नहीं कर सके हैं। इनकी भाषा में लाक्षणिकता का बहुत ही सुन्दर पुट मिलता है। इससे ये उत्कृष्ट एवं गहन भावों को भी साकार रूप प्रदान कर सके हैं। इसी गुण से ये रीतिकाल के बहुत उत्कृष्ट कवि माने जाते हैं।

गिरधर कविराय—

ये नीति के बहुत ही लोकप्रिय कवि हुए हैं। ये नीति के क्षेत्र में जनता का पथ-प्रदर्शन करते हैं। जैसे समय-समय पर जनता तुलसी की कविता से उपदेश और प्रेरणा ग्रहण करती है, वैसे ही 'गिरधरराय' से भी नीति का उपदेश लेती है। इनकी कविता में कवित्व की मात्रा बहुत कम है, सूक्तियाँ ही अधिक हैं। इनकी ये सूक्तियाँ जीवन की गम्भीर अनुभूति का परिचय देती हैं। 'साईं' नाम से लिखी हुई कुण्डलियाँ इनकी स्त्री की लिखी हुई बताई जाती हैं। ये बहुत मार्मिक हैं।

लाल कवि—

हिन्दी साहित्य के वीर-रस के उत्कृष्ट कवियों में इनकी गणना है। इनका नाम गोरेलाल पुरोहित था। ये भट्ट जाति के तैलंग ब्राह्मण थे। इन्होंने बुन्देलखण्ड के महाराज छत्रसाल की वीरता का गुण गान किया है। इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, पर इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'छत्रसाल-प्रकाश' ही है। इनके काव्य में ऐतिहासिकता का भी अच्छा निर्वाह है। इन्होंने युद्ध का

बहुत ही सजीव वर्णन किया है। इनकी भाषा ओजपूर्ण और मार्मिक है।

घनानन्द—

ये दिल्ली के मुहम्मदशाह के दरबार में रहते थे। एक बार उन्होंने बादशाह के आदेश से दरबार में गाना गाया। इनकी एक प्रेमिका वेश्या 'सुजान' थी। घनानन्द ने उसकी ओर मुँह करके गाना गाया। बादशाह ने इनको इस बेअदबी पर रुष्ट होकर इनको निकाल दिया। उस समय इन्होंने 'सुजान' को अपने साथ चलने के लिए कहा, पर उसने मना कर दिया। उसके व्यवहार से इनमें विरक्ति जाग्रत हो गई। ये वृन्दावन चले गये। जब मथुरा पर नादिरशाह का आक्रमण हुआ और उसके सैनिकों ने इनसे कर माँगा तो उन्होंने रज, रज कह कर वृन्दावन की धूल फेंकी। इससे वे सैनिक रुष्ट हो गये और उन्होंने इनकी हत्या करदी।

घनानन्द ने कई ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें 'सुजान-सागर', 'विरह-लीला', 'रस केलिवल्ली' आदि प्रसिद्ध हैं। इन्होंने कृष्ण भक्ति पर भी एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखा है। इनका एक 'विरह लीला' नामक ग्रन्थ फारसी छन्दों में है। इसके अतिरिक्त इन्होंने बहुत से फुटकर कवित्त और सवैये भी लिखे हैं।

शुक्लजी इनको साक्षात् रसमूर्ति कहते हैं। ये रीतिकाल की रीति मुक्त धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जा सकते हैं। सम्पूर्ण रीति-काल में भी इनकी बहुत उत्कृष्ट कवियों में गणना है। लाक्षणिकता की दृष्टि से ये हिन्दी के परमोच्च सिद्ध-हस्त कवियों में से हैं। इनकी कविता का प्रमुख विषय वियोग-शृङ्गार है। इनको जीवन में प्रेम की पीर का अनुभव हुआ था। वही इनकी कविता का प्रमुख स्वर बन गया था। यद्यपि ये भक्त हो गये थे और इनकी कविताओं में भक्ति का पुट भी है पर इनकी कविता पर शृङ्गार का रंग ही अधिक गहरा और स्फुट हो पाया है। इन्होंने अपनी

कविताओं में 'सुजान' शब्द का प्रयोग किया है, जो कृष्ण और प्रेयसी दोनों का बोध करा देता है। इस प्रकार भक्ति और शृङ्गार का मिश्रण है। यह रीतिकाल के काव्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है। घनानन्द की कविता में भी अन्य रीतिकालीन कवियों की तरह प्रेम की बाह्य चेष्टाओं के वर्णन का बाहुल्य है। पर इन्होंने प्रेम की गहरी अन्तर्वृत्तियों की भी मर्मस्पर्शी व्यंजना की है। इनकी कविता में वियोग की अन्तर्दशाओं का बहुत मर्मस्पर्शी चित्रण है। इन्होंने विरह की आभ्यन्तर परन्तु मौन व्यथा का चित्रण बहुत अधिक किया है। संयोग शृंगार में कहीं-कहीं बाह्य चेष्टाओं का वर्णन अधिक है। इन्होंने बिहारी आदि की तरह विचित्र वस्तुओं की कल्पना नहीं की अपितु हृदय के मर्म को स्पर्श करने वाले भावों की व्यंजना की है। विरह की गूढ़ अन्तर्दशाओं के चित्रण से मानव हृदय के मनोवैज्ञानिक ज्ञान का जैसा परिचय घनानन्द ने दिया है, वैसा उस काल के हिन्दी के अन्य बहुत ही कम कवि दे सके हैं।

इनका भाषा पर पूर्ण अधिकार था। ऐसा प्रतीत होता है कि ये भाषा को बुद्धि से नहीं अपितु हृदय से ग्रहण करते थे। इन्होंने शब्दों की भाव-प्रेषणीयता का अनुभव किया था। यही कारण है कि इनकी भाषा हृदय की अनुभूति की पूर्णतः अनुगामिनी है। उसमें साधारण अलंकारों का प्रयोग मात्र नहीं है, परन्तु अनूठी भावभंगी की रमणीयता भी है। घनानन्द ने व्रज-भाषा को नवीन शक्ति प्रदान की और उसे नवीन मार्गों में प्रेरित किया। इनको भाषा की लाक्षणिक और व्यंजक शक्ति की मर्यादाओं का बहुत अच्छा ज्ञान था। वचन-वक्रता और प्रयोग-वैचित्र्य के बहुत ही उत्कृष्ट उदाहरण इनकी कविता में मिलते हैं। इनका यह उक्ति-वैचित्र्य आजकल के छायावादी कवियों की टक्कर का है। रत्नाकर जी के नये वैचित्र्य से तो इसका बहुत ही साम्य प्रतीत होता है। इनकी भाषा में विशेषण विषमय और विरोध

मूलक चमत्कार के बहुत सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। शुक्लजी ने इसके कई एक उदाहरण दिये हैं। नीचे उनमें से दो उदाहरण क्रमशः इन दोनों के दिये जाते ।

(१) **ह्वै है सोऊ घरी भाग- उघरी आनंदघन सुरस बरसि, लाल ! देखिहौ हरी हमैं।**

(२) **झूठ सचाई छाक्यो, त्यों हित-कचाई पाक्यो, ताके गुनगन घनआनन्द कहा गनौ।**

इनकी भाषा में केवल वक्रोक्ति के ही दर्शन नहीं होते हैं। अनेक स्थानों पर इसमें सरलता, प्रवाह की सहज स्निग्धता भी है। घनानंद की भाषा में सर्वत्र ही हृदयस्पर्शिता है। इस प्रकार घनानंद की प्रौढ़ प्रतिभा और उत्कृष्ट कवित्व शक्ति अत्यन्त स्पष्ट है।

———

आधुनिक काल

(सं० १९०० से आज तक)

सामान्य परिचय—

साहित्य के किसी भी काल की निश्चित तिथि का निर्देश सरल नहीं है। एक काल की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ निश्चित स्वरूप धारण करने मे पूर्व बहुत समय तक आकलित होती रहती हैं, तथा अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त करके साकार हो उठती हैं। आधुनिक काल का प्रारम्भ प्रायः १८५० ई० से माना जाता है यही भारतेन्दुजी का जन्मकाल है। पर वस्तुतः आधुनिक युग का प्रारम्भ सन् १८५७ के बाद ही माना जाना चाहिए। इसके पूर्व इस युग की निर्मायक सामग्री अवश्य एकत्र होती गई है और अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण भी होता गया है। पर देश की राजनीतिक स्थिति की अव्यवस्था के कारण उस समय साहित्य अपना मार्ग निश्चित नहीं कर पा रहा था। अंग्रेजों का सम्पर्क बहुत पहले से प्रारम्भ हो गया था। भारतीय जनता पाश्चात्य विचार-धारा से परिचित भी होने लगी थी। पश्चिम की नई क्रान्तियों, औद्योगिक आन्दोलन आदि का बहुत कुछ प्रभाव यहाँ की जनता पर भी पड़ने लगा था। यहाँ पर भी नवीन युग के सूत्रपात की आकांक्षा प्रबल होने लगी थी। साहित्य और जीवन में नवीन चेतना के आभास स्पष्ट होने लगे थे। पर सन् १८५७ के बाद ही अंग्रेजों की सत्ता सारे देश पर खूब अच्छी तरह से जम गई। सन् १८६० में देश की सारी विरोधी शक्तियाँ समाप्त हो गई और सारे भारत पर अंग्रजों का एकछत्र राज्य स्थापित हो गया। देश भर में यातायात के साधन अत्यन्त सुलभ हो गये। सर्वत्र एक प्रकार से शान्ति की स्थापना हो गई। अंग्रेजी शिक्षा

का सूत्र-पात तो इससे बहुत पहले ही हो चुका था और यह शिक्षा धीरे धीरे लोक प्रिय भी होती गई। इस प्रकार ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही नवीन युग के निर्माण की आकांक्षा के स्पष्ट दर्शन होने लगे और ५०-६० वर्ष में इसने उपयुक्त सामग्री भी एकत्र करली।

इससे पूर्व का युग सामन्तकालीन युग था। भक्ति काल के अन्तिम वर्षों में सामन्तकालीन प्रवृत्तियाँ प्रबलतर होने लगी। रीति-काल तो पूरा ही सामन्त युग है। इस काल का साहित्य जनता का साहित्य नहीं था। इसका क्षेत्र सामन्तों के दरबार थे। सारा साहित्य उन्हीं सामन्तों की विलास भावना की परितृप्ति का साधन मात्र था। यही कारण है कि उसमें जीवन की सच्ची अनुभूति के सहज उद्रेक का स्थान क्लिष्ट एवं कल्पनाजनित चमत्कार-प्रियता ने ले लिया। वह साहित्य जीवन से पराङ्मुख हो गया था। जीवन-निरपेक्ष साहित्य चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकता है क्योंकि उसके पोषक रस-तत्व का स्रोत समाप्त हो जाता है। जड़ कटे हुए वृक्ष की तरह वह धीरे धीरे सूख जाता है। रीतिकालीन सहित्य की यही अवस्था हुई। जीवन का अजस्त्र स्रोत एक तरफ प्रवाहमान रहा तथा साहित्य उससे विच्छिन्न होकर चलता रहा। जीवन में नवीन चेतना जागने लगी, नये मान-मूल्य अपनाये जाने लगे और नवीन युग के निर्माण की आकांक्षा बढ़ी। इसी ने रीतिकाल को समाप्त किया और नवीन युग को जन्म दिया। भारत में सामान्त-युग का अन्त तो अवश्यम्भावी था और अपनी स्वाभाविक गति से हो रहा था। पर अंग्रेजों के सम्पर्क से यह और भी अधिक तीव्रगति से आगे बढ़ा। नवीन औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। सामन्त समाप्त हुए और उसके साथ साहित्य के लिए उसका आश्रय भी समाप्त हुआ। अब साहित्य दरबारों तक ही सीमित नहीं रह सकता था, वह प्रेस के माध्यम से सम्पूर्ण जन-समुदाय में फैल गया।

वही उसका आश्रयदाता थी इसलिए उसी की मनोभावनाओं का चित्रण उसमें हो सकता था। किसी एक व्यक्ति-विशेष अथवा सम्प्रदाय-विशेष के आर्थिक एवं अन्य किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण के न होने के कारण साहित्य में एक विशेष स्वच्छन्दता का तत्व प्रधान हो गया था। इस काल के प्रारम्भ से ही साहित्य और जीवन की प्राचीन रूढ़ियों, पद्धतियों और शैलियों को चुनौती दी जाने लगी। प्राचीनता के इस आवरण को भंग करके रूढ़िवादिता की शृङ्खलाओं को तोड़ कर नवीन चेतना विकसित हुई। नये विचार आये, नई शैलियाँ अपनाई गईं, नये प्रयोग हुए। यही स्वच्छन्दवादिता है तथा यही आधुनिक हिन्दी-साहित्य की प्रमुख चेतना है।

आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही देश की नई परिस्थितियों में पाश्चात्य संस्कृति के गहरे सम्पर्क और अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से एक नया वर्ग ही बनने लगा। यह जीवन के नूतन और पाश्चात्य मान-मूल्यों से अवगत हो गया। उसने जीवन की सभी प्राचीन रूढ़ियों मान्यताओं और मूल्यों पर एक बृहद् प्रश्न सूचक चिन्ह लगा दिया। वह हर वस्तु को तर्क की नई कसौटी पर आँकना चाहता था। पश्चिम ही उनके लिए प्रमाण हो गया। इस प्रकार उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष घृणा जाग्रत होने लगी। ऐसे वर्ग के हृदय में अंग्रेजियत बैठ गई। आज भी ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं है। देश के स्वतन्त्र होने के बाद भी प्रत्येक क्षेत्र में पाश्चात्य पद्धति का अत्यधिक नियन्त्रण है। अंग्रेजी के प्रभाव से उत्पन्न इस वर्ग ने साहित्य में पाश्चात्य विचार-धारा और शैली को अत्यधिक आश्रय प्रदान किया। इसी प्रवृत्ति के परवर्ती विकास के फलस्वरूप ऐसे साहित्य का भी सृजन हुआ जो भारतीय नैतिक धारणाओं के विरुद्ध है। पर पाश्चात्य संस्कृति के निकट

सम्पर्क से एक ऐसा और वर्ग भी उत्पन्न हुआ जिसके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति घृणा नहीं है। वह भारतीय संस्कृति का पुजारी है। उसके हृदय में अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति एक गहरी निष्ठा है। पर वह साथ ही अपनी प्राचीन रूढ़ियों का अन्ध भक्त भी नहीं है। उसमें अपनी संस्कृति को फिर से समझने तथा उसका पुनः मूल्यांकन करने की स्वतन्त्र मनोवृत्ति भी है। ऐसे वर्ग ने पाश्चात्य मान-मूल्यों को अपनाया और उन्हीं के आधार पर उसने अपनी सांस्कृतिक निधि की महत्ता को आँकने का प्रयत्न किया। उसमें वैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति जाग गई, इसी से उसने अपनी प्राचीन निधि को नये रूप में सजाने की चेष्टा की। उनमें से बहुतों ने इन मान-मूल्यों को भी तर्क की कसौटी पर कसा। इस प्रकार इस वर्ग ने विचार-स्वातन्त्र्य के साथ ही प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम को केवल पुनः जाग्रत ही नहीं किया अपितु उसे अधिक दृढ़ भी कर दिया। यह भी सत्य है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर इसी दूसरे वर्ग का ही अधिक नियन्त्रण रहा है और यह कहना भी असमीचीन नहीं है कि प्रथम वर्ग की मनोभावना की प्रतिक्रिया ने इस वर्ग को शक्ति प्रदान की। आधुनिक साहित्य इन्हीं के प्रयास का फल है, इसलिए उन्हीं की विचार-धारा और मनोभावनाओं का उसमें प्राधान्य भी है। ऊपर जिन वर्गों का संकेत हुआ है वे अब धीरे-धीरे दो भिन्न मनोवृत्तियाँ मात्र रह गई हैं। पहला वर्ग दूसरे में पर्यवसित होता जा रहा है।

ऊपर के विवेचन से आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध में कतिपय सामान्य तत्वों की उद्भावना हो जाती है। जीवन की नूतन विचार-धारा और मान-मूल्य प्रदान करना था। रीतिकाल में चिन्तन की जो प्रवृत्ति समाप्त हो गई थी, उसे फिर जाग्रत करना था। यह सब विचारों के द्वारा ही सम्भव था। इसी कारण से आधु-

निक हिन्दी-साहित्य में बुद्धितत्व की प्रधानता हो गई। काव्य की प्रत्येक विधा के अन्तस्तल में विचारों का एक स्रोत स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा। इस युग का सारा साहित्य ही किसी न किसी विचार-धारा की व्यंजना के लिए रचा गया। उसका रूप-संघटन प्रमुख रूप से विचार तत्व के आधार पर ही हुआ। इस काल के प्रारम्भ से लेकर अब तक के साहित्य के लिए यह सत्य है। साहित्य में बुद्धि-तत्व का प्राधान्य क्रमशः बढ़ता ही गया है। भारतेन्दु काल की अपेक्षा आज के साहित्य में यह आधार अधिक प्रबल, प्रौढ़ और जटिल होता गया है। यही कारण है कि साहित्य को समझने के लिए विचार-धाराओं का विश्लेषणात्मक ज्ञान नितान्त अपेक्षित समझा जाने लगा है। इस प्रकार अधिकांश आधुनिक साहित्य बुद्धि-ग्राह्य होता गया है। आज का साहित्य भक्तिकालीन साहित्य की तरह रसाक्षिप्त हृदय का उद्रेक न रह कर बुद्धि का विषय अधिक हो गया है। भाव-संवेदना उस पर क्षीण आवरण का ही कार्य कर रही है। उसकी प्रधान व्यंजना तो बौद्धिक की ही है। कुछ ऐसी विधाओं का सूत्रपात हुआ जो प्रमुखतः विचार-क्षेत्र की वस्तु है। जैसे निबन्ध, उपन्यास, कहानी आदि की कविता की अपेक्षा अधिक लोकप्रियता का एक प्रमुख कारण भी बौद्धिकता की प्रधानता ही है। गीति-काव्य ने बुद्धित्व का आश्रय लेकर ही 'गद्य-काव्य' नामक नवीन विद्या में अपने एक और स्वरूप को प्रतिष्ठा करली है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह सारा युग बौद्धिक युग है और इसके साहित्य में भावतत्व की अपेक्षा बुद्धितत्व का प्राधान्य है। आज का साहित्य भी रस की चरम कोटि तक कम पहुँच पाता है। वह प्रायः भाव की कोटि तक ही रह जाता है। आज के साहित्य का आदर्श बुद्धि और हृदय का सामञ्जस्य है। वह उसी की ओर प्रगतिशील है।

यह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का युग है। इस काल के साहित्य में व्यक्तित्व का तत्व क्रमशः प्रधान होता गया है। गीतिकाव्य की इतनी अधिक लोकप्रियता का भी कारण यही है। व्यक्तित्व की प्रधानता तथा पाश्चात्य अनुकरण के कारण आधुनिक साहित्य में अनेक नवीन काव्य-रूपों की उद्भावना हुई। लेखकों के स्वच्छन्द व्यक्तित्व ने स्वतः नई-नई विधाओं को कल्पना करली। इस काल के साहित्य का विषय क्षेत्र अत्यन्त विस्तीर्ण हो गया। भक्ति और रीति काल के कतिपय वर्ण्य-विषय तो रहे ही। इनके अतिरिक्त जीवन के व्यापक क्षेत्र से भी साहित्य ने अनेक विषय ग्रहण किये। सम्पूर्ण जीवन ही साहित्य का विषय बन गया। काव्य के रूपों की अनेकता का एक यह भी प्रमुख कारण है। विषयों की विविधता ने भी विधाओं को अनेकरूपता को जन्म दिया। इस काल में साहित्य का स्रोत प्रमुखतः कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध और गद्य-काव्य की धाराओं में बहा। आज साहित्य की ये ही प्रमुख विधायें हैं। इनके कुछ आभ्यान्तर भेदों का भी विकास होता जारहा है।

आज का साहित्य बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग का साहित्य है। उसमें उन्हीं की भावनाओं और बिचारों का चित्रण हुआ है वह साहित्य इसी वर्ग की सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित है। पिछली करीब एक शताब्दी का भारतीय इतिहास राष्ट्रीय जागरण का इतिहास है। इसमें देश स्वातन्त्र्य और प्रजातन्त्रवाद की ओर अग्रसर हुआ है। इस जन-जागृति का अधिकांश श्रेय मध्यमवर्ग को ही है। देश के राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक आन्दोलनों में मध्यमवर्ग ने सबसे अधिक बलिदान किया है, इसलिए यही वर्ग देश की प्रगति का नियामक रहा है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य इसी वर्ग की विचार-धारा का मूर्तिमान रूप है। इस काल के प्रारम्भिक लेखकों में तो बहुत से राष्ट्रीय और सामाजिक आन्दोलन के सक्रिय कार्यकर्त्ता भी रहे हैं। परवर्तीकाल के लेखक प्रायः

सक्रिय आन्दोलनों से तो दूर रहे, पर उनकी विचार-धारा में राष्ट्रप्रेम की भावना का प्राधान्य है। इस काल के साहित्य के प्रमुख विषय हैं प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम, देशभक्ति एवं प्रजातन्त्रवादी मनोवृत्ति। नवीन मान-मूल्यों की उद्भावना तथा उन्हीं के आधार पर जीवन-दर्शन का निर्माण भी इस काल के साहित्य की प्रमुख चेतना है।

बौद्धिकता एवं विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के आधिक्य के कारण साहित्य गद्य के माध्यम की ओर अधिक उन्मुख हुआ। हिन्दी को शिक्षा-प्रणाली में स्थान प्राप्त हो गया। प्राचीन साहित्य की शोध भी प्रारम्भ हुई, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी प्रारम्भ हुआ। धर्म के प्रचार कार्य में भी इस भाषा का प्रयोग होने लगा। इन सभी कारणों से गद्य का महत्व बढ़ गया। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन एवं बदलती हुई परिस्थितियों ने साहित्य में ऐसे कुछ नवीन विषयों के समावेश की आकाँक्षा जाग्रत कर दी जिनमें चिन्तन और विश्लेषण की प्रधानता थी। ऐसे विषयों के लिए गद्य ही अधिक उपयुक्त रह सकता था। पाश्चात्य प्रभाव के फल-स्वरूप साहित्य रसोद्रेक की अपेक्षा जीवन की व्याख्या वाले सिद्धान्त को अधिक तेजी से अपनाता जा रहा था। इससे उपन्यास, कहानी आदि जैसी विद्यायें लोकप्रिय होती गईं और साहित्य में जीवन की यथार्थता की माँग बढ़ती गई। इन सब शक्तियों ने मिलकर गद्य को आधुनिक साहित्य के महत्वपूर्ण माध्यम के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। गद्य-साहित्य आधुनिक युग की बहुत ही महत्वपूर्ण वस्तु है। आधुनिक युग के साहित्य की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का सम्यक् विकास गद्य में ही अधिक हुआ है। इस युग के विकास का सम्पूर्ण इतिहास गद्य-साहित्य में सुरक्षित है। इससे स्पष्ट है कि आधुनिक काल में गद्य का महत्व पद्य की अपेक्षा अधिक होता जा रहा है। गद्य पद्य का स्थान लेता जा रहा है। आज का

जीवन समस्याओं में इतना अधिक उलझ गया है कि उसमें अतीत के समान भावसंवेदना-जनित आत्म-विभोरता के लिए विशेष स्थान ही नहीं रह गया है। आज के मानव की भावात्मकता भी चिन्तन के भार से बोझिल ही है, इससे उसमें आनन्दातिरेक से आत्मविभोर कर देने की क्षमता नहीं है। वह मानव के हृदय को कुछ क्षण के लिये केवल झनझना देता है। ऐसी परिस्थितियों में गद्य ही मानव की यथार्थ अभिव्यक्ति का समीचीन साधन हो सकता है। आधुनिक काल में गद्य के प्राधान्य तथा उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि की लोकप्रियता जीवन की इसी मूलभूत प्रवृत्ति का परिणाम है। गद्य-काव्य जैसी विद्या इस बात को प्रमाणित करती है कि कभी-कभी चिन्तन की शृङ्खलाओं के कारण भावुकता और संगीत का अवलम्ब लेकर द्रवित होते हुए भी कवि-हृदय पद्य के रूप में साकार नहीं हो पाता है; उसे बाध्य होकर गद्य का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इन्हीं सब कारणों से आधुनिक काव्य गद्य का युग कहलाता है।

हिन्दी गद्य का विकास

व्रज का गद्य—

आधुनिक काल से पूर्व गद्य के प्रयोग का नितान्त अभाव तो नहीं था, पर साहित्य का प्रधान बाहन पद्य ही था। विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ की गोरख-सम्प्रदाय की कुछ रचनायें उपलब्ध हैं। इन्हीं में व्रजभाषा के प्राचीन गद्य के उदाहरण सुरक्षित हैं। इनमें अनेक भाषाओं के शब्दों का मिश्रण भी प्रतीत होता है। यही कारण है कि शुक्लजी इस पर राजस्थानी भाषा का प्रभाव मानते हैं तथा कुछ विद्वान् बंगाली का। इस ग्रन्थ के इतने अधिक प्राचीन होने में भी संदेह है। 'शृङ्गार-रस-मंडन' नामक एक और पुस्तक प्राप्त होती है। यह विट्ठलनाथजी द्वारा लिखी गई बतलाते हैं। इसकी भाषा अव्यवस्थित है। 'चौरासी वैष्णवन

की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवनों की वार्ता' में ब्रजभाषा गद्य का बहुत अच्छा रूप मिलता है। इनमें प्रतिपाद्य विषय का बहुत अच्छा निरूपण हुआ है। वाक्य छोटे-छोटे तथा प्रशस्त हैं। ये दोनों ग्रन्थ गोकुलदासजी द्वारा लिखे गये कहे जाते हैं, पर 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में गोकुलदास का नाम भक्ति और श्रद्धा से लिया गया है इससे उनके लेखक होने में संदेह होता है। इसके बाद ब्रजभाषा में दो प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये। कुछ प्राचीन ग्रन्थों की टीकायें लिखी गईं तथा कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ। टीकाओं में प्रमुख निम्नलिखित हैं। हरिचरनदास की 'बिहारी सतसई की टीका', कविप्रिया की टीका, महन्त बाबा की 'रामचरित मानस की टीका', जानकीप्रसाद की 'रामचन्द्रिका की टीका', प्रतापसिंह की 'मतिराम के रसराज की' टीका आदि हैं। स्वतन्त्र ग्रन्थों में 'आईने अकबरी की भाषा बचनिका' लल्लूलाल का हितोपदेश का अनुवाद आदि हैं। इसके अतिरिक्त रीतिकाल के आचार्यों ने अलंकार-शास्त्र के ग्रन्थों में भी गद्य का प्रयोग किया है। प्रतापसाहि रसिकगोविंद आदि के द्वारा प्रयुक्त गद्य सुन्दर हैं। ब्रजभाषा में गद्य का अधिक स्वतन्त्र विकास नहीं हो सका। वह पद्य का ही अनुकरण करता रहा। उस पर संस्कृत की 'कथंभूतम्' वाली तद्धति का अत्यधिक प्रभाव था। इस प्रकार ब्रजभाषा के गद्य में इतनी शक्ति नहीं थी कि आधुनिक काल के बहुरंगी साहित्य का बाहन बन पाता।

राजस्थानी गद्य—

राजस्थानी भाषा में गद्य का कुछ विकास हुआ है। उसमें ख्यात, बात आदि का साहित्य प्राप्त है। इनका गद्य कहीं-कहीं अच्छा परिमार्जित और प्रौढ़ है। उनमें प्राचीन संस्कृत के गद्य-काव्यों की तरह आलंकारिकता का भी समावेश है। भाषा में प्रवाह है, तथा छोटे-छोटे वाक्यों की चुस्ती है। पदों में भी राजस्थानी

गद्य के उदाहरण उपलब्ध हैं। चौदहवीं शताब्दी का लिखा हुआ 'वर्ण-रत्नाकर' नामक कवि शिक्षा के ग्रन्थ में मैथिली गद्य का नमूना प्राप्त है। विद्यापीठ की कीर्तिलता में भी गद्य का प्रयोग है।

खड़ी बोली का प्रारम्भ—

अब इस भ्रम के निवारण की आवश्यकता नहीं है कि खड़ी बोली का जन्म मुसलमानों द्वारा हुआ तथा आधुनिक साहित्यिक हिन्दी का निर्माण अरबी फारसी के शब्दों को हटाकर उर्दू से ही किया गया। खड़ी बोली का अस्तित्व मुसलमानों के आगमन से पूर्व था, यह प्राचीन ग्रन्थों की शोध से सिद्ध हो गया है। अपभ्रंश साहित्य में ऐसे प्रयोग मिलते हैं जिनमें खड़ी बोली के बीज अत्यन्त स्पष्ट हैं। शुक्लजी निम्नलिखित पंक्तियों में खड़ी बोली के प्राचीन रूप के स्पष्ट आभास मानते हैं।

भल्ला हुआ जु मारियाँ बहिणी। म्हारा कंतु
सोउ जुहिट्ठिर संकट पाआ देवक लेखिऊ कोण मिटाआ।

निर्गुण सम्प्रदाय के संतों की वाणी में भी खड़ी बोली का एक स्वरूप विकसित हुआ है। इन संतों द्वारा खड़ी बोली को अपनाना इस बात का संकेत कर रहा है कि इस भाषा में देश-व्यापी आदान-प्रदान के माध्यम की क्षमता है। इसकी मूल प्रकृति में ऐसी क्षमता है कि यह संस्कृत के अधिकतम शब्दों को अपना सकती है और इसकी यह विशेषता इसको राष्ट्रभाषा-पद पर प्रतिष्ठित होने की योग्यता प्रदान करती है। मुसलमानों और दरबारी लोगों ने इस भाषा को शिष्ट-समुदाय की भाषा बन जाने में पर्याप्त सहयोग प्रदान किया। जब दिल्ली और आगरे का वैभव कुछ कम होने लगा और यहाँ के व्यापारियों को देश के सब भागों में फैल जाने के लिये बाध्य होना पड़ा तो वे अपने साथ दिल्ली की खड़ी बोली को भी ले गये। वहाँ पर जाकर

भी वे इसी भाषा का प्रयोग करते रहे और इस भाषा का प्रचार प्रायः सारे उत्तरी भारत में खूब हो गया।

खड़ी बोली का गद्य—

अमीर खुसरो ने विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में खड़ी बोली में पद्य-रचना प्रारम्भ करदी थी। औरङ्गजेब के समय में जो खड़ी बोली में शायरी प्रारम्भ हुई थीं वही परवर्ती काल में उर्दू साहित्य में विकसित हो गई। अन्य बोलियों की तरह खड़ी बोली में भी गद्य का प्रारम्भ देर से ही हुआ। आधुनिक काल से पहले हिन्दी-क्षेत्र की मान्य साहित्यिक भाषायें व्रज और अवधी ही थीं। इससे खड़ी बोली के साहित्यिक रूप का विकास बहुत बाद में ही हुआ। अकबर के समय में गंग ने 'चंद-छंद-

प्रतीत होता है। इन दो एक वाक्यों के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा। "इतना सुन अगस्त मुनि बोले कि हे ब्राह्मण! केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, मोक्ष दोनों से प्राप्त होता है।...हे रामजी! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट अनिष्ट में रागद्वेष नहीं करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। मलीन वासना जन्मों का कारण है।"

इसके बाद भी खड़ी बोली के गद्य में रचनायें होती रहीं। पर बहुत दिनों तक उसका प्रयोग बोल-चाल की भाषा के रूप में ही अधिक हुआ। मुसलमानों ने इस भाषा को अपना लिया था, इसलिये अरबी,-फारसी के शब्दों से बहुल भाषा शैली का ही

अधिक विकास हुआ। हिन्दू भी इसे मुसलमानों की भाषा उर्दू के नाम से अभिदित करते रहे। लेकिन साधु-सन्त अपने उपदेशों में इसके वास्तविक मूल स्वरूप का ही प्रयोग करते रहे, इसलिए इसका यह स्वरूप जन साधारण में अधिक प्रिय होता गया। इस भाषा के राष्ट्रभाषा बनने का यह भी एक प्रकार से पूर्वाभास है। जब अंग्रेज लोग आये और उनको इस देश की भाषा के अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत हुई तो इस भाषा की ओर उनका ध्यान जाना स्वाभाविक था। इसीलिए सं० १८६० में जब फोर्ट विलियम कॉलेज (कलकत्ता) में जॉन गिलक्राइस्ट ने देशी भाषा में खड़ी बोली के इस स्वरूप को भी आश्रय दिया। इसे वे उर्दू की तरह शिष्ट जनसमुदाय की भाषा तो नहीं मानते थे। इनकी प्रेरणा से लल्लूलालजी ने 'प्रेम सागर' तथा सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। इनके दो वर्ष पूर्व मुंशी सदासुखलाल और सैयद इंशा अल्लाखाँ ने अपना साहित्य-सृजन प्रारंभ कर दिया। ये चारों लेखक समकालीन ही रहे हैं। कॉलेज की नीति हिन्दी के बहुत अधिक अनुकूल न होने पर भी इसका जो विकास हुआ, उसका एक मात्र कारण इसकी मूलभूत प्राण शक्ति ही है।

मुंशी सदासुख—

ये दिल्ली के रहने वाले थे। इनका जन्म सं० १८०३ में तथा मृत्यु सं० १८८१ में हुई। ये इस्ट इण्डिया कम्पनी में उच्च पद पर नियुक्त थे तथा उर्दू और फारसी के अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने 'सुखसागर' के अतिरिक्त एक और पुस्तक की रचना की थी, पर वह अधूरी ही उपलब्ध है। इनकी भाषा बहुत ही व्यवस्थित और परिमार्जित है। इन्होंने खड़ी बोली के उस स्वरूप को अपनाया जिसको साधु-सन्तों ने अपने उपदेशों द्वारा देश के विस्तृत क्षेत्र में जनप्रिय बना दिया था। मुंशीजी ने संस्कृत के

तत्सम शब्दों को अपनाकर भाषा की मूल प्रकृति के ज्ञान का परिचय ही नहीं दिया अपितु भावी साहित्यिक भाषा का आभास भी दिया है। इनकी भाषा में वैसा ही प्रवाह है जैसा 'योग वा सिष्ट' की भाषा में था। नीचे एक छोटा अंश उद्धत किया जाता है।

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रवाह नहीं ; आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ही ब्राह्मण से चांडाल होता है।"

इंशाअल्लाखां—

ये उर्दू के बहुत ही अच्छे कवि थे। इनका जन्म मुर्शिदाबाद में हुआ था। इनके पिता शाही हकीम थे। मुगल सम्राट की अवस्था गिर जाने पर ये दिल्ली से आकर मुर्शिदाबाद में बस गये थे। इन्शाअल्लाखां भी दिल्ली के शाहआलम के दरबार में शायर हो गये थे। पर बाद में जब दिल्ली का वैभव नष्ट हो गया तो ये लखनऊ चले आये। ये उर्दू फारसी के अच्छे विद्वान् थे। सं० १८५५ तथा सं० १८६० के बीच में इन्होंने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। इस कहानी के लिखने में इनका उद्देश्य शुद्ध हिंदवी का प्रयोग था। इन्होंने स्वयं इसका उद्देश्य स्पष्ट किया है। "कोई ऐसी कहानी कहिए कि जिसमें हिंदवी छूट और किसी बोली का पुट न हो···हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। जैसे भले लोग—अच्छे से अच्छे—आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँव किसी को न हो।" इस उद्धरण से लेखक का भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है। वे अपने ग्रन्थ में शिष्ट जनों की भाषा का ही प्रयोग करना चाहते थे, पर उसे उर्दू फारसी तथा संस्कृत के प्रभाव से सर्वथा मुक्त भी रखना चाहते थे। उस काल में मुसलमान लोग संस्कृत-गर्भित साहित्यिक हिन्दी को 'भाखा' कहते थे तथा

उर्दू को ही शिष्टसमुदाय के व्यवहार की भाषा मानते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति की आकांक्षा के कारण इन्शाअल्लाखां की भाषा प्रयास-साध्य हो गई है। उसमें भाषा के सहज प्रवाह के दर्शन नहीं होते हैं। उन्होंने संस्कृत, उर्दू-फारसी तथा गँवारु अर्थात् ब्रज अवधी आदि के शब्दों को दूर रखने की प्रतिज्ञा की थी। इसके लिए वे बराबर प्रयत्न करते रहे, पर वे उर्दू-फारसी के प्रभाव को नहीं रोक सके। उनकी वाक्यावली कहीं-कहीं फारसी की शैली की हो गई है। इनकी भाषा मुहावरेदार और चटकीली है। इसमें अनुप्रास की प्रवृत्ति भी अत्यन्त स्पष्ट है। ये 'होने लगी' रोने लगी, बरसने लगा, तरसने लगा' से तुकबन्दी करते ही चले जाते हैं। इनकी भाषा का रूप घरेलू व्यवहार और बोलचाल का है।

लल्लूलालजी—

ये आगरे के गुजराती ब्राह्मण थे। इनको फोर्टविलियम कॉलेज में स्थान मिल गया था। वहाँ पर उन्होंने जॉन-गिल क्राइस्ट की प्रेरणा से 'प्रेम सागर' लिखा था। इसमें भागवत के दशम स्कंध की कथा है। यह ब्रजभाषा के एक काव्य के आधार पर लिखा गया है। इसमें विदेशी भाषा के पुट को बचाने का प्रयत्न अत्यन्त स्पष्ट है। इनकी भाषा ब्रजरंजित है। इसमें भाषा के सहज प्रवाह के दर्शन नहीं होते हैं। यह कथा-वार्ता के उपयुक्त गद्य है, जिस पर काव्य भाषा का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। इसमें गम्भीर एवं सम्बद्ध बिचारों की बहन करने की शक्ति नहीं है। यह भाषा नित्य के व्यवहार की भी नहीं है। इनकी भाषा का एक उद्धरण नीचे दिया जाता है।

"तिस समय घन जो गरजता था सोई तौ धौंसा बजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आई थी सोई शूर वीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमक थी, बगपाँत

ठौर ठौर ध्वजा फहराय रही थी···।" इन्होंने उर्दू हिन्दी और ब्रज भाषा तीनों में ही रचनायें की हैं। 'प्रेमसागर' के पूर्व की रचनायें उर्दू में ही हैं।

पं० सदल मिश्र—

ये बिहार के आरा जिले के रहने वाले थे। इन्होंने भी लल्लूलालजी की तरह फोर्ट विलियम कॉलेज में रह कर वहीं की प्रेरणा से 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की थी। इनकी भाषा व्यवहारोपयोगी है, इसमें ब्रजभाषा के प्रयोगों तथा कविता के उपयुक्त पदों की भरमार नहीं है। कहीं कहीं पूरबी बोली के शब्द अवश्य आ गये हैं जैसे 'फूलन्ह के बिछौने', 'सोनन्ह के खम्भे' आदि। इनकी भाषा का एक नमूना यह है "इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे···।'

ये चारों लेखक समकालीन ही हुए हैं। इनकी गद्य शैली परस्पर में एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न रही है। परवर्तीकाल में जिस भाषा का साहित्य के लिए ग्रहण हुआ और जिस शैली का विकास हुआ उसका पूर्वाभास सदल मिश्र की भाषा में मिलता है। इस भाषा को कॉलेज के अधिकारियों द्वारा सम्मान प्राप्त नहीं हुआ, पर जनता ने इसी को अपनाया। लल्लूलालजी की भाषा ब्रजभाषा तथा उसकी काव्य शैली से बहुत अधिक आक्रान्त थी। इन्शा-अल्लाखाँ की भाषा में विशुद्ध खड़ी बोली के स्वरूप के दर्शन होते हैं, पर फारसी के प्रभाव तथा कृत्रिमता के कारण इसमें भाषा के सहज सौन्दर्य के दर्शन नहीं हो पाते हैं। यही कारण है कि इन दोनों लेखकों की शैली परवर्तीकाल में नहीं अपनाई जासकी। मुन्शी सदासुखलाल तथा सदल मिश्र की भाषा ही परिमार्जित होकर हिन्दी के गद्य-साहित्य के लिए उपयुक्त वाहन बन सकी।

धीरे धीरे परिमार्जित एवं साहित्यिक गद्य के विकास की आकांक्षा प्रबलतर होती गई। कॉलेजों के पाठ्यक्रम में हिन्दी को विशेष स्थान प्राप्त हुआ। १८२३ ई० में आगरा कॉलेज का हिन्दी-शिक्षा की विशेष व्यवस्था करने के लिए पुर्नसंगठन हुआ। इसके पूर्व ही 'कलकत्ता स्कूल आफ बुक सोसाइटी' की स्थापना हो चुकी थी। आगरा कॉलेज की वर्तमान स्वरूप में स्थापना के दस वर्ष उपरान्त 'आगरा बुक स्कूल सोसाइटी' की भी स्थापना हुई। इस प्रकार हिन्दी के उच्च ग्रन्थों का अध्ययन एवं प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। हिन्दी में नवीन शिक्षा के पाठ्यक्रम के उपयुक्त भूगोल इतिहास आदि नूतन विषयों पर भी पुस्तकें तैयार होने लगी। इसके अतिरिक्त ईसाई मिशनरियों ने हिन्दी के प्रचार में पर्याप्त सहयोग दिया। धर्म-प्रचार के लिए जो पादरी प्रारम्भ में भारत-वर्ष में आये थे। उनमें से अधिकांश बहुत ही योग्य और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। उनमें से बहुतों ने सारे भारतवर्ष का भ्रमण किया। उन्होंने हिन्दू-जीवन का अध्ययन किया। सारे देश के पर्यटन से उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि हिन्दी ही इस देश की जनता की भाषा है; इसलिए उन्होंने अपने धर्म प्रचार के लिए इसी भाषा को अपनाया। बाइबिल के अनुवादों के अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न विषयों पर सुन्दर पाठ्य पुस्तकें भी तैयार कराई। इस प्रकार इन ईसाई मिशनरियों ने हिन्दी-गद्य की समृद्धि एवं उसके साहित्यिक स्वरूप के निर्माण में बहुत अधिक सहयोग दिया।

हिन्दी की सरकार द्वारा बराबर उपेक्षा हुई। पहले सरकारी दफ्तरों और कचहरियों की भाषा फारसी थी। बाद में १८३७ ई० उसका स्थान उर्दू ने ले लिया। इस भाषा में फारसी के बहुत अधिक शब्द थे। अदालतों में नागरी अक्षरों को भी स्थान नहीं मिला। सरकारी नौकरियों के लिए हिन्दुओं को भी बाध्य होकर

उर्दू-फारसी का अध्ययन करना पड़ा। हिन्दुओं को भी हिन्दी हीन भाषा लगने लगी। उर्दू के राजकीय आश्रय ने देश में भाषा सम्बन्धी एक विकट समस्या को जन्म दे दिया, जिसके बुरे परिणामों को आज भी देश भोग रहा है। आज भी देश की जनता की वास्तविक भाषा हिन्दी को केन्द्रीय शासन में उपयुक्त स्थान नहीं मिल पा रहा है। उर्दू और अंग्रेजी भाषा की दासता में देश के अग्रगण्य राष्ट्रीय नेता और कर्णधार ऐसे फंस गये हैं कि वे किसी न किसी रूप में हिन्दी का विरोध आज भी कर रहे हैं। आज भी अधिकांश काम अंग्रेजी में ही होता है। अदालती कागजों की भाषा आज भी उर्दू ही अधिक है। भाषा की प्रौढ़ता की आड़ में काश्मीरी भाषा की निर्मम हत्या के प्रयत्न भी दासता और साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के परिचायक हैं। पर फिर भी हिन्दी में अपनी शक्ति है। वह जनता की भाषा है। उसे सरकार और अन्य विरोधी शक्तियाँ कुचलने में हमेशा असमर्थ रही हैं। जब आधुनिक हिन्दी गद्य का जन्म हुआ था, तब भी सरकार की ओर से इसका विरोध ही हुआ। पर जनता के प्रतिनिधियों से इस भाषा की भी वृद्धि बराबर होती रही। सरकार ने पाठ्य पुस्तकें नहीं लिखवाईं। पर जनता द्वारा साहित्य-सृजन बराबर होता रहा। हिन्दी में समाचार पत्र भी प्रकाशित हुए। कुछ सरकारी अफसरों ने भी इसको प्रोत्साहन दिया।

पंडित युगलकिशोर शुक्ल का 'उदन्त मार्तण्ड' हिन्दी का सर्व प्रथम समाचार पत्र है। यह साप्ताहिक पत्र था। कुछ दिन कलकत्ते से प्रकाशित होने के बाद यह बन्द हो गया। यह नवीन युग की प्रेरणा लेकर आया था। इसके बाद कलकत्ते से ही 'बंगदूत' नामक दूसरा पत्र प्रकाशित हुआ। यह हिन्दी, अंग्रेजी बंगला और फारसी में निकलता था। 'प्रजामित्र' हिन्दी का तीसरा पत्र है यह भी कलकत्ते से ही निकला। हिन्दी भाषा

भाषी क्षेत्र से सबसे प्रथम राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द ने 'बनारस' नामक पत्र निकाला। इस प्रकार ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी पत्रकारिकता का जन्म हुआ और वह धीरे धीरे विकसित होती रही। हिन्दी पत्रों ने हिन्दी के प्रचार तथा उसके साहित्यिक गद्य के निर्माण में पर्याप्त सहयोग दिया। इन पत्रों ने एक ओर भाषा के निर्माण और प्रचार का कार्य किया तथा दूसरी ओर इनके द्वारा हिन्दी-साहित्य में नवीन युग का प्रवर्तन हुआ।

इन परिस्थितियों में जिन व्यक्तियों ने हिन्दी को प्रोत्साहन दिया था, उनमें से अग्रगण्य राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द हैं। आप शिक्षा-विभाग में थे, इसलिए सरकार द्वारा स्वीकृत भाषा उर्दू का स्पष्ट विरोध नहीं कर पाते थे। पर वस्तुतः ये हिन्दी और देवनागरी लिपि के पक्षपाती थे। इन्होंने 'मानव-धर्मसार' 'भूगोल-हस्तामलक' 'राजा भोज का सपना' आदि पुस्तकें शुद्ध एवं संस्कृत-प्रधान हिन्दी में लिखी हैं। कहीं कहीं व्रज भाषा का साधारण सा पुट होते हुए भी इनकी भाषा सुलझी हुई है। धीरे-धीरे राजा साहब का झुकाव उर्दू की ओर होने लगा। बाद में तो इनकी भाषा देवनागरी अक्षरों में लिखी हुई उर्दू ही हो गई। इस परिवर्तन का कारण सम्भवतः इनका सरकारी कर्मचारी होना ही है। वे उर्दू को देश की मुख्य भाषा भी मानते थे तथा अपनी भाषा को 'गंवारपन' से बचा कर 'फैशनेबुल' बनाना चाहते थे। स्पष्टतः सरकारी प्रभाव का ही परिणाम है। इनके 'बनारस' नामक अखबार की भाषा उर्दू से आक्रान्त थी। राजा साहब के भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण का विरोध हुआ। 'सुधाकर और बुद्धि प्रकाश' नामक पत्र इसी प्रतिक्रिया के फल थे। उनकी भाषा शुद्ध और संस्कृत-गर्भित थी। सितारे-हिंद के समकालीन ही राजा लक्ष्मण-सिंह थे। उनकी भाषा-सम्बन्धी नीति शुद्ध एवं संस्कृतमय भाषा

का ही समर्थन करती है। वे उर्दू को अलग भाषा मानते हैं तथा हिन्दी में अरबी फारसी के शब्दों के भरमार के विरोधी हैं। उन्होंने कालिदास के ग्रन्थों के अनुवाद में जिस भाषा का प्रयोग किया है वह काव्य के उपयुक्त है। उसमें व्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग भी है। उसमें तद्भव शब्दों की कमी नहीं है। पर इनकी भाषा वैज्ञानिक विषयों के तर्कपूर्ण विवेचन के उपयुक्त नहीं है। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से लेखकों ने विभिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखकर हिन्दी-भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की। बहुतों ने अंग्रेजी से अनुवाद भी किये।

इस काल की धार्मिक संस्थाओं ने भी हिन्दी के प्रचार कार्य में बहुत ही महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। इनमें से प्रमुख हैं 'आर्य समाज' और 'ब्रह्म समाज'! 'ब्रह्म समाज' का क्षेत्र प्रायः बंगाल तक ही अधिक सीमित रहा। पर आर्यसमाज का कार्य-क्षेत्र प्रायः समस्त उत्तरी भारत तो था ही; इसके अतिरिक्त सुदूर दक्षिण भी इसके प्रभाव से वंचित नहीं था! इन दोनों संस्थाओं ने हिन्दी के प्रचार कार्य में बहुत अधिक सहयोग दिया। बंगाल से हिन्दी-भाषा में निकलने वाले प्रारंभिक पत्रों को ब्रह्म समाज से प्रेरणा मिली। कुछ पत्रों को स्वयं राजा राममोहन राय से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। 'आर्य समाज' ने हिन्दी-भाषा का प्रचार पंजाब जैसे हिन्दी-विरोधी उर्दू-प्रधान प्रान्त में भी खूब कर दिया। सारे देश में धार्मिक बाद-विवादों का माध्यम हिन्दी ही हो गई। स्वामी दयानन्द ने हिन्दी-भाषा के प्रति सच्चा प्रेम और आत्मीयता की भावना जाग्रत कर दी। आर्य समाज की नीति से हिन्दी को वास्तविक शक्ति प्राप्त हो गई। उसकी जड़ें जन-जीवन की गहराई में पैठ गईं, आर्य समाज ने स्वयं तो हिन्दी को प्रश्रय दिया ही, पर उसके विरोध में सनातनियों ने भी हिन्दी में ही साहित्य सृजन प्रारम्भ किया। उन्होंने

धर्म के विभिन्न ग्रन्थों के हिन्दी-रूपान्तर प्रकाशित किये तथा अनेक विषयों पर मौलिक ग्रन्थ भी लिखे। इस प्रकार उस काल की सारी शक्तियाँ हिन्दी को प्रोत्साहन दे रही थीं। यही कारण है कि सरकार की विरोधी नीति के होते हुये भी हिन्दी का विकास होता रहा।

यह नवीन युग के जन्म का काल है। पाश्चात्य शिक्षा एवं यूरोप के निकट संपर्क के कारण देश एक नवीन दिशा की ओर बढ़ने लगा। यूरोप में जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रबल होता जा रहा था, उसका प्रभाव भारत पर भी बहुत अधिक पड़ा। भारतीयों के जीवन में प्राचीन संस्कार थे, पर उन्होंने नवीन परिस्थितियों में नूतन स्वरूप धारण करना प्रारम्भ किया। समाज और व्यक्ति के नवीन सम्बन्धों की कल्पना प्रारंभ हो गई। जीवन के नवीन मान-मूल्यों को अपनाने की आकांक्षा ने देश के सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक सभी क्षेत्रों में व्यापक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। ईसाई धर्म के प्रचार ने हिन्दू-जीवन की पुरातन धारणाओं पर जो प्रबल आघात किये, उससे देश में ऐसी सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं का जन्म हो गया, जिसने देश की संस्कृति की संरक्षा में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगादी। ऐसी संस्थाओं ने अपनी प्रतिगामी रूढ़ियों का भी निर्मम खण्डन किया। ऐसी संस्थाओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण आर्य-समाज है। इसने केवल हिन्दी के गद्य-निर्माण में सहयोग प्रदान नहीं किया अपितु सम्पूर्ण सांस्कृतिक क्षेत्र को ही प्रभावित किया। आधुनिक काल की साहित्यिक चेतना की प्रधान निर्मायक शक्तियों में से आर्यसमाज भी एक प्रमुख शक्ति है। अगर आधुनिक काल के प्रारम्भ में ही इन सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं का उद्भव नहीं हो जाता तो इस काल का सम्पूर्ण साहित्य पाश्चात्य साहित्य का अनुकरण मात्र रह जाता। उसमें भारतीय स्वर को प्रमुख बनाये रखने का श्रेय इन्हीं संस्थाओं को है।

आधुनिक गद्य-साहित्य का विकास

(प्रथम उत्थान)

विक्रम की बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही नवीन युग के निर्माण के उपयुक्त परिस्थितियाँ प्रस्तुत हो गई थीं। ऊपर उन्हीं परिस्थितियों के सम्बन्ध में विचार हुआ है। युग की नवीन चेतना और आकांक्षा के विद्यमान रहते हुए भी ऐसी कोई प्रतिभा नहीं उत्पन्न हुई थी जो इसे साकार कर पाती। ऐसी सर्व प्रथम प्रतिभा भारतेन्दुजी ही थी। भारतेन्दुजी का जन्म सं० १९०७ में हुआ था। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ये जगन्नाथ-धाम की यात्रा के लिये गये थे। वहाँ पर उनका बंगला-साहित्य से परिचय हुआ। देश में जो नवीन जागृति प्रारंभ हुई थी, पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से जो एक नूतन राष्ट्रीय भावना का विकास हो रहा था, उसको बंगला-साहित्य में स्थान प्राप्त हो गया था। उस साहित्य में उपन्यास, कहानी आदि नवीन साहित्यिक विद्याओं का सूत्रपात हो गया था। भारतेन्दुजी अत्यन्त जागरुक एवं प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। उन्हें हिन्दी-जगत् का समीचीन ज्ञान था। हिन्दी में नवीन चेतना को अभी स्वर नहीं प्राप्त हो सका था। हिन्दी का साहित्य जन-जीवन से नितान्त निरपेक्ष अलग ही स्रोत में बह रहा था। बंगला-साहित्य के परिचय से भारतेन्दुजी को हिन्दी की यह अवस्था अत्यन्त स्पष्ट भासित होने लगी। यात्रा से वापिस आकर उन्होंने 'कवि-वचन सुधा' नामक पत्रिका निकाली। कुछ दिन उपरान्त उन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' नाम से एक और पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। बाद में इसी का नाम 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका'

कर दिया गया। इन पत्रिकाओं द्वारा परिमार्जित साहित्यिक भाषा तथा नूतन साहित्यिक चेतना का श्री गणेश हुआ। इसी उद्देश्य से इनका प्रकाशन प्रारम्भ किया गया था।

यूरोप में **नवीन औद्योगिक क्रान्ति** के फल-स्वरूप प्रजातन्त्रवाद की स्थापना हो गई थी। वहाँ पर धीरे-धीरे राजतन्त्र समाप्त हो गया। राज-सत्ता भी क्रमशः राज परिवारों के हाथ से निकल कर जनता के हाथ में आगई। सामन्तों का स्थान पूँजीपतियों ने ग्रहण कर लिया। वे ही वास्तविक शासक बन गये। प्रजातंत्र वाद के इस विकास के साथ ही 'राष्ट्रीय भावना' का भी जन्म हुआ। इस भावना के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का अभिन्न अंश है। त्याग और तपस्या द्वारा राष्ट्र को समृद्ध करना प्रत्येक का कर्त्तव्य हो गया। इसी राष्ट्रीय भावना के सहज एवं स्वाभाविक परिणामों में से एक साम्राज्यवादी भावना भी थी। उसमें दूसरे देश का शोषण भी निहित हो गया। भारतवर्ष में देश प्रेम एवं सफल की भावना तो अत्यन्त प्राचीन काल में भी थी। यहाँ धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से एक राष्ट्र की भावना तो हमेशा से ही रही है। विदेशी आक्रान्ताओं के प्रति घृणा और रोष भी साधारण जनता में था। पर देश की संरक्षा का भार राजाओं पर होने तथा पारमार्थिकता का ही सबसे अधिक महत्व होने के कारण यूरोप के जैसी राष्ट्रीय भावना का विकास इस देश में नहीं हो सका। सम्पूर्ण जनता में त्यास रोष और घृणा की अभिव्यक्ति के उपयुक्त साधन नहीं थे। जनता के संगठित होकर कार्य करने के लिए प्रेरणा प्रदान करने वाली संस्थायें नहीं थीं। इस प्रकार प्राचीन भारत में आधुनिक ढंग की राष्ट्रीय भावना का विकास नहीं हो सका। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आकर ही इस भावना का सूत्रपात इस देश में हुआ था। भारतेन्द्रजी से कुछ पूर्व के साहित्य में ही इसके अस्पष्ट दर्शन होने लगे थे।

बंगला-साहित्य में तो इस चेतना को पहले ही स्थान प्राप्त हो चुका था। भारतेन्दुजी की प्रेरणा से हिन्दी के तत्कालीन साहित्य का प्रमुख स्वर भी राष्ट्रीय भावना ही हो गया। अनुकूल परिस्थितियों तथा भारतेन्दु जैसी प्रतिभा को प्राप्त करके अस्पष्ट चेतना स्पष्ट एवं मूर्त हो गई। उस काल के साहित्य में देश-प्रेम, अतीत सभ्यता के प्रति श्रद्धा, वर्तमान पतन के कारण व्यथा, विदेशी पराधीनता एवं शोषण के प्रति रोष आदि की भावनाओं का चित्रण प्रारम्भ हो गया था। नाटक, उपन्यास निबन्ध आदि सभी के ये ही प्रमुख विषय थे। एक प्रकार से इस काल का साहित्य राजनीतिक व्यंग्य हो गया था। आधुनिक काल के परवर्ती साहित्य की भी यही प्रमुख विचारधारा रही। हाँ, इसका स्वरूप प्रगतिशील रहा है।

रीतिकाल में साहित्य जीवन से पराङ्मुख हो गया था। भारतेन्दुजी ने उसका पुनः जनजीवन से सम्बन्ध स्थापित कर दिया। उसमें फिर से जीवन की प्रमुख विचार और भाव-धारा को स्थान प्राप्त हो गया। अब उसके लिए विषय जीवन से ग्रहण किये जाने लगे। भारतेन्दुजी ने कविता में भक्तिकालीन सरसता को फिर से स्थान दे दिया। इस प्रकार इस काल का साहित्य तत्कालीन लोक-जीवन की यर्थाथता तथा भक्ति की सरसता का सुन्दर सम्मिश्रण हो गया। विषय-क्षेत्र की व्यापकता तथा पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप अनेक नवीन विधाओं का प्रारम्भ इसी काल में हुआ। उपन्यास, कहानी और निबन्ध ऐसी ही विधायें हैं। नाटक काव्य की अत्यन्त प्राचीन विधा है। संस्कृत-साहित्य में इसका पर्याप्त विकास भी हुआ। हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल में भी नाटक लिखने के कुछ प्रयास हुए, पर वे वास्तव में कथोपकथन मात्र थे। उनमें नाटकत्व का प्रायः अभाव ही रहा। रीतिकाल तो इस विधा के उपयुक्त ही नहीं था। इस प्रकार हिन्दी में नाटकों का वास्तविक प्रारम्भ भी भारतेन्दुजी के

समय से माना जाना चाहिए। भारतेन्दुजी की प्रेरणा से ही हिन्दी-साहित्य का अनेकमुखी विकास हुआ।

भारतेन्दुजी ने सं० १९२५ में बंगला के 'विद्यासुन्दर' नामक नाटक का अनुवाद किया। आधुनिक काल का यही सर्वप्रथम नाटक है। इसके बाद भारतेन्दुजी अपने जीवन काल में बराबर नाटकों का प्रणयन करते रहे। उस काल के अन्य लेखकों ने भी भारतेन्दुजी की प्रेरणा से अनेक नाटक लिखे। नाटकों का प्रारम्भ इसी काल में हुआ था, पर थोड़े से ही समय में इस विधा की अनेकमुखी प्रगति हुई। नाट्यकला का अच्छा विकास हुआ। पौराणिक, ऐतिहासिक यथार्थवादी एवं स्वच्छन्दतावादी, सभी प्रकार के नाटक इस काल में लिखे गये। भारतेन्दुजी के साहित्य की प्रधान विशेषता राष्ट्रीय भावना का प्रचार है। उनके नाटकों में सबसे अधिक इसी विचारधारा को स्थान प्राप्त हुआ है। इस काल के लेखकों ने राष्ट्रीय भावना के नाटक खूब लिखे। भारतेन्दुजी का 'भारत दुर्दशा', बदरीनारायण चौधरी का 'भारत सौभाग्य', अम्बिकाप्रसाद व्यास का 'गौ संकट' गोपालराम गहमरी का 'देशदशा' आदि इस काल की प्रधान रचनायें राष्ट्रवादी विचार धारा से ओतप्रोत है।

इस काल के नाट्य साहित्य की दूसरी तथा सबसे प्रधान प्रवृत्ति प्रहसन लिखने की है। इस काल में नाटक के इसी स्वरूप की अधिक प्रचुरता रही। इस काल के प्रायः सभी प्रमुख लेखकों ने प्रहसन लिखे हैं। इन प्रहसनों का विषय समाज-सुधार रहता था। समाज की अनेक समस्याओं को लेकर प्रहसन लिखे गये। इस काल के लेखकों में आश्चर्यजनक सजीवता एवं जीवन के उच्छलवेग के दर्शन होते हैं। व्यंग और विनोदप्रियता उनके जीवन और स्वभाव के अभिन्न अंश हो गये थे। यही कारण है कि उनको प्रहसन और व्यंग लिखने में इतनी सफलता प्राप्त हुई है।

भारतेन्दुजी का "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' 'विषस्य विषमौषधम्', और 'अंधेर नगरी', प्रतापनारायण मिश्र का 'कलि-कौतुक', राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुहासे' आदि इस काल की अत्यन्त प्रसिद्ध एवं सफल रचनायें हैं।

यथार्थवादी नाटकों का प्रणयन भी इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति है। लाला श्रीनिवासदास का 'दुखिनी बाला', अम्बिकादत्त व्यास का 'ललिता' किशोरीलाल गोस्वामी का 'मयंकमञ्जरी' राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रतापसिंह' आदि नाटक इसी कोटि के हैं। इनमें से अन्तिम नाटक तो अभिनय की दृष्टि से बहुत ही सफल है। इसका प्रचार भी खूब रहा। इस काल में पहले पहले पौराणिक कथानक को अपनाने की प्रवृत्ति अधिक थी। पर काल के उत्तरार्द्ध में ऐतिहासिक कथाओं को भी नाटकों का रूप प्रदान किया गया। श्रीनिवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर,' राधा चरण गोस्वामी का 'अमरसिंह राठौर' आदि इस काल की बहुत ही प्रसिद्ध रचनायें हैं। इनमें से प्रथम तो इस काल के प्रमुख आलोचकों का प्रधान आलोच्य विषय रही है। ये नाटक आदर्शवादी कहे जा सकते हैं। यथार्थवादी नाटकों के विषय तो वर्तमान जीवन एवं समाज से भी ग्रहण किये जाते थे, पर आदर्शवादी नाटक प्रधानतः पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर ही रचे जाते थे। ऊपर प्रमुख आदर्शवादी ऐतिहासिक नाटकों का उल्लेख हुआ है। लाला श्री निवासदास का 'प्रहलाद चरित्र', विश्वेश्वर प्रसाद त्रिपाठी का 'मिथिलेश-कुमारी, बालकृष्ण भट्ट का 'दमयन्ती स्वयंवर' आदि इस काल के प्रमुख पौराणिक नाटक है।

आधुनिक ढंग के निबन्धों की रचना का सूत्र-पात भी इसी काल में हुआ। भारतेन्दुजी से कुछ पहले 'राजा भोज का सपना' नामक निबन्ध लिखा गया था। पर वस्तुतः भारतेन्दुजी से ही निबन्ध की अक्षुण्ण परम्परा का प्रारंभ होता है। इस काल के

निबन्धों का विषय-क्षेत्र बहुत ही व्यापक रहा है। छोटे से छोटे एवं साधारण से साधारण तथा गंभीर से गंभीर विषयों पर इस काल में निबन्ध लिखे गये। इस काल के निबन्ध विचारों की गहनता से बोझिल तो नहीं हे, पर उनमें सजीवता, स्वच्छन्दता तथा आत्मीयता का अभाव भी नहीं है। सामाजिक चेतना और राष्ट्रीयता इस काल के निबन्धों में कूट-कूट कर भरी हुई हैं। इस काल का लेखक बिना किसी संकोच के हरेक को डाँट फटकार बताता है; व्यंग करता है। ये निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखे गये, इसलिये इनमें विषय की विविधता, तथा संक्षिप्तता है। इस काल के लेखक को समाज सुधार करना था, शिक्षा का प्रसार करना था, साहित्य के सब अंगों को पुष्ट करना था। इस प्रकार उसका अनेक मुखी व्यक्तित्व था और उस व्यक्तित्व के लिए निबन्ध ही सबसे अच्छा साधन था। इन निबन्धों में सामाजिक एवं राजनीतिक जागरूकता के साथ ही शैली की रोचकता का भी सुन्दर संयोग है। निबन्ध के क्षेत्र में भारतेन्दुजी के प्रयास तो प्रारंभिक हैं, पर प्रतापनारायण मिश्र एवं बालकृष्ण के निबन्ध हिन्दी की स्थायी निधि है। उनमें पर्याप्त प्रौढ़ता है। मिश्रजी के निबन्धों में वैयक्तिकता की गहरी छाप है। प्रत्येक विषय के आवरण में इनका व्यक्तित्व ही अभिव्यक्त होता है। उनमें विनोद और व्यंग का सुन्दर पुट है। भट्टजी के निबन्धों में अपेक्षाकृत गम्भीरता के दर्शन होते हैं। वे गम्भीर चिंतक हैं, पर उनमें रूढ़िवादिता नहीं हैं।

निबन्ध और नाटक तो इस काल की प्रधान विधायें हैं। इनका तो इस काल में पर्याप्त विकास हुआ ही, पर अन्य विधायें भी उपेक्षित नहीं रहीं। बंगला के अनुकरण पर उपन्यासों का सृजन भी प्रारम्भ हुआ। बंगला-साहित्य में उपन्यासों की प्रचुरता बढ़ रही थी, इसलिए तत्कालीन लेखकों का ध्यान उनके अनुवाद

की ओर गया। भारतेन्दुजी ने भी एक उपन्यास का अनुवाद प्रारंभ किया था; पर वह अधूरा ही रह गया। प्रतापनारायण मिश्र तथा राधाचरण गोस्वामी ने कई एक उपन्यासों के अनुवाद किये। गदाधर सिंह के 'बंगबिजेता' और 'दुर्गेश-नंदिनी' के अनुवाद बहुत ही सुन्दर हैं। अनुवादों की यह परम्परा बढ़ती ही गई। इस कार्य से हिन्दी में मौलिक उपन्यासों के लिए बहुत सुन्दर क्षेत्र तैयार हो गया। यही कारण है कि परवर्तीकाल में साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास का अधिक विकास हुआ। हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास इसी काल के श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' हैं। राधाकृष्णदास तथा बालकृष्ण भट्ट ने भी कुछ छोटे-छोटे मौलिक उपन्यास लिखे। पर यह काल मौलिक उपन्यासों की अपेक्षा अनुवादों का ही अधिक रहा।

भारतेन्दु काल में ही पचासों पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा था। इनमें सब प्रकार की पत्र-पत्रिकायें थी। पत्रिकाओं का विषय-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। सामाजिक व राजनैतिक निबन्ध, जीवन-चरित, ऐतिहासिक इतिवृत्त, कविता, नाटक, आलोचना आदि सभी कुछ इन पत्रों में रहता था। इन पत्रों में अधिकांश को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता था। 'हिन्दी-प्रदीप' को इसी अभाव के कारण कई बार बंद तक होना पड़ा है। प्रतापनारायण मिश्र के 'ब्राह्मण' नामक पत्र को भी कई बार आर्थिक संकट का सामाना करना पड़ा। इन संकटों में भी इन पत्रों के सम्पादक लग्न के पक्के एवं अध्यवसायी थे। जनता में पत्रों के पढ़ने की रुचि जाग्रत करने के लिए पाठकों के घर पर जाकर पत्र पढ़ भी आते थे। ऐसे ही तपस्वी एवं अध्यवसायी लेखकों द्वारा हिन्दी के आधुनिक युग का श्रीगणेश हुआ था। यही कारण है कि इसकी अनेकमुखी तथा इतनी अधिक प्रगति थोड़े ही समय में हो सकी है।

भारतेन्दु जी के पूर्व राजा लक्ष्मणसिंह, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द आदि ने खड़ी बोली के साहित्य स्वरूप को स्थिरता प्रदान करने की चेष्टा की थी। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा सुन्दर एवं मधुर अवश्य थी, पर उस पर व्रजभाषा का प्रभाव भी स्पष्ट था। इसी प्रकार अन्य लेखकों की भाषा भी कुछ प्रान्तीय अथवा उर्दू आदि भिन्न प्रकृति वाली भाषाओं के प्रभाव से इतनी अधिक आक्रान्त थी कि खड़ी बोली के विशुद्ध एवं समर्थ साहित्यिक स्वरूप का विकास नहीं हो पा रहा था। भारतेन्दु जी ने ही सर्व प्रथम भाषा के निखरे हुए शिष्ट स्वरूप का प्रयोग प्रारम्भ किया। यह भाषा का अत्यन्त विशुद्ध स्वरूप था। इसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता एवं अस्वाभाविक बन्धन नहीं रह गये थे। यही कारण है कि इसका खड़ी बोली के साहित्यिक रूप में ग्रहण हो सका। राजा लक्ष्मणसिंह आदि ने खड़ी बोली के जिस साहित्यक स्वरूप की प्रस्तावना की थी, उसको भारतेन्दु जी ने क्रियात्मक स्वरूप प्रदान कर दिया। उन्होंने भाषा की मूल प्रकृति को पहचान कर उसके सहज एवं स्वाभाविक स्वरूप की प्रतिष्ठा की। भाषा का यही स्वरूप परवर्ती काल में विकसित हुआ तथा आज की अवस्था को प्राप्त हो गया है। साहित्य को नवीन विषय, विद्या एवं शैली प्रदान करने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य भाषा के साहित्यिक स्वरूप की प्रतिष्ठा करना है। भाषा का अपना अलग स्वतन्त्र सांस्कृतिक महत्त्व है। विकास की क्षमता रखने वाले तथा संस्कृति एवं देश के अनुरूप भाषा के स्वरूप की प्रतिष्ठा होने से ही साहित्य और संस्कृति की प्रगति सम्भव है। ऐसे ही महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन का श्रेय भारतेन्दु जी को है। इन्होंने केवल गद्य के लिए ही भाषा नहीं दी, अपितु पद्य की भाषा का भी परिमार्जन किया। उन्होंने पुराने शब्दों को निकाल कर तथा संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग करने की शैली को अपना कर व्रजभाषा को समया-

नुकूल स्वरूप प्रदान किया। इस परिवर्तन के कारण वृजभाषा अधिक सुबोध हो गई तथा उसमें नवीन विषयों की अभिव्यक्ति की क्षमता आ गई। आधुनिक काल में वृजभाषा की इसी शैली का विकास हुआ है।

भारतेन्दु ने भावावेश तथा तथ्य-निरूपण के लिये दो भिन्न शैलियों को अपनाया। प्रथम प्रकार की शैली में छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग होता है। कहीं-कहीं उर्दू के शब्दों का प्रयोग हो जाता है। चिंतन-प्रधान स्थलों में वाक्य कुछ गम्भीर तथा लंबे हो जाते हैं। तथ्य-निरूपण के लिए संस्कृत पदावली का प्रयोग भी अधिक उपयुक्त होता है। भारतेन्दु जी ने भी ऐसा ही किया है। इन दोनों प्रकार की शैलियों को भारतेन्दु के समकालीन लेखकों ने भी अपनाया तथा इनका परवर्ती काल में भी विकास हुआ। इस काल के सभी लेखकों की शैली में सजीवता, और व्यंग का सुन्दर पुट है तथा शैली पर लेखकों के व्यक्तित्व की भी स्पष्ट छाप है। इस काल के प्रत्येक लेखक को भाषा पर भी अच्छा अधिकार है। वे भाषा की प्रकृति को पहचानते हैं इसलिये उसको विषयानुकूल बनाने में सफल हुए हैं। इन लेखकों की भाषा में न तो बंगला पदावली का ज्यों का त्यों प्रयोग मिलता है और न अंग्रेजी के अविकल अनुवाद का आग्रह ही। इनमें से प्रायः सभी ने हिन्दी के प्रकृत स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखने का भरसक प्रयत्न किया है और उसी का विकास किया है।

प्रमुख लेखक

बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—

इनका जन्म सं० १९०७ में तथा मृत्यु सं १९४१ में हुई। इतने थोड़े से काल में उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में नवीन क्रान्ति को जन्म दे दिया। इनकी प्रेरणा से साहित्य नवीन मार्गों को अपनाकर विकसित होने लगा। आधुनिक काल का वास्तविक

प्रारंभ भारतेन्दुजी से ही माना जाना चाहिए। इस महान क्रान्ति के अग्रदूत होने की क्षमता उनके व्यक्तित्व की महत्ता को स्पष्ट कर रही है। भारतेन्दुजी के समय में देश की सामाजिक धार्मिक एवं राजनीतिक दृष्टि से बहुत ही विषम अवस्था थी। देश को नवीन प्रकार के विदेशी शासन में सांस्कृतिक अधःपतन का सामना करना पड़ा। इस पतन के वास्तविक कारणों को समझ सकने की क्षमता उस काल के बहुत कम व्यक्तियों में थी। उनमें से एक भारतेन्दुजी भी थे। उन्हें बहुत ही सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई थी। राष्ट्रीय भावना को साहित्य में स्थान देकर राष्ट्रीय आन्दोलन में उन्होंने महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। भारतेन्दुजी में जीवन में उच्छल वेग के दर्शन होते हैं। उनका जागरूक व्यक्तित्व था। यही कारण है कि वे संसार के सब प्रकार के उपादानों से जीवन-रस ग्रहण कर पाते थे। उन्होंने रूढ़ियों का खण्डन किया, पर उनकी सार वस्तु को नहीं छोड़ा। भारतेन्दुजी ने साहित्य के लिये जगत् तथा ग्रन्थों दोनों साधनों से प्रेरणा ग्रहण की। बंगला, संस्कृत, अँग्रेजी आदि भाषाओं से भी सामग्री लेकर उन्होंने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया। भारतेन्दुजी में अपूर्व आकर्षण शक्ति थी। इसी से आकृष्ट करके उन्होंने अच्छा खासा लेखक मण्डल तैयार कर दिया था, जिसने अपने हृदय के रस में सोचकर इस साहित्योद्यान को हरा भरा कर दिया। यह भारतेन्दुजी की प्रेरणा का ही परिणाम है कि आज हिन्दी-साहित्य उपादेय वस्तु को अतीत और वर्तमान भारत और यूरोप सब जगह से ग्रहण करने के लिये ज़ागरूक हो गया है। साहित्य के इस उन्मुक्त एवं स्वच्छन्द विकास का मार्ग भारतेन्दुजी ने ही खोल दिया था।

ऊपर हम यह दिखा चुके हैं कि किस प्रकार भारतेन्दुजी ने साहित्य को विषय, शैली, विचार-धारा और भाषा सभी क्षेत्रों में नवीनता के पथपर अग्रसर किया उन्होंने भाषा का जीवंत और विकासशील

रूप प्रस्तुत किया। उन्होंने स्वयं एक स्थान पर लिखा है 'हिन्दी नई चाल में ढली सन् १८७३ ई०' भाषा की यह नई चाल पहले पहल 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकट हुई थी और यह हिन्दी का सौभाग्य था कि उस समय के सभी लेखकों का भाषा की प्रकृति से परिचय था, जिसके कारण उनकी भाषा सहज, स्वाभाविक और विकासशील रही। अगर उसी समय वे हिन्दी की मूल प्रकृति की उपेक्षा करके अनुवादों द्वारा उसको समृद्ध करने की चेष्टा प्रारम्भ देते तो हिन्दी का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो जाता और फिर यह साहित्यिक प्रगति भी रुक जाती। भारतेन्दु-मण्डल के अन्य लेखकों की भाषा तो विकसित हुई है, पर भारतेन्दुजी को भाषा पर पहले से ही इतना अधिकार था कि उनके प्रारंभिक प्रयासों में ही प्रौढ़ साहित्यिक रूप के दर्शन हो जाते हैं। उनकी भाषा में कुछ विशेष महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ।

भारतेन्दुजी की सृजनात्मक प्रतिभा का विकास नाटकों में ही अधिक हुआ। भारतेन्दुजी खड़ी बोली के प्रथम मौलिक नाटककार हैं। उन्होंने अपने नाटकों के लिए जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सामग्री ग्रहण की है। उनकी रचनाओं में तत्कालीन जीवन का चित्रण है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में धर्म के नाम पर प्रचलित अनेक अनाचारों का व्यंगपूर्ण चित्र है। इसमें खुशामदियों पर भी एक कटु व्यंग है। इसको मुख्य शिकार राजा शिवप्रसाद हैं। 'विषस्य विषमौषधम्' में रजवाड़ों के कुचक्र की कथा है। 'नीलदेवी' एक हिन्दू राजा पर मुसलमानों के आक्रमण की ऐतिहासिक कथा हैं। भारतेन्दुजी ने अपने नाटकों में भारत के तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक जीवन के अनेक पहलुओं का चित्रण किया हैं। इस प्रकार उन्होंने पुनः साहित्य को जीवन निर्माण की महत्वपूर्ण एवं संजीवनी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित

कर दिया। भारतेन्दुजी ने पश्चात्य नाटकों की शैली से कुछ तत्व अवश्य अपनाये पर उन्होंने अपनी प्राचीन भारतीय शैली का एकदम त्याग नहीं किया। आधुनिक हिन्दी नाटकों की शैली की एक प्रधान विशेषता भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-पद्धतियों के मिश्रण से एक नवीन नाट्य पद्धति का विकास है। इसका सूत्रपात भारतेन्दुजी ने ही कर दिया था। भारतेन्दुजी की रचनाओं में मौलिक और अनुदित दोनों ही प्रकार के नाटक हैं। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति,' 'चंद्रावली,' 'विषस्य विषमौषधम्' 'नीलदेवी' 'भारतदुर्दशा 'प्रेमजोगिनी', 'अंधेर नगरी' ये सब मौलिक नाटक हैं। 'सती प्रताप' भी उनकी अधूरी मौलिक रचना है। 'विद्यासुंदर', 'मुद्राराक्षस' सत्यहरिश्चन्द्र, कर्पूरमंजरी, भारतजननी, धनंजय-विजय, पाखंड-विडंबन—ये सब अनुदित हैं। भारतेन्दुजी ने तीन पत्रिकायें निकालीं 'कवि-वचन-सुधा, हरिश्चन्द्र-मैगज़ीन या हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका और 'बाल-बोधिनी'। हरिश्चन्द्र मैगजीन का ही नाम बाद में 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका का हो गया था। इसी में हिन्दी के परिष्कृत रूप के प्रथम बार दर्शन हुए थे। इसी पत्रिका ने हिन्दी में एक लेखक-मण्डल तैयार कर दिया था। 'कवि-वचन-सुधा' पहले केवल पुराने कवियों की कविता का रसास्वाद कराने के लिए थी, पर बाद में उसमें लेख भी प्रकाशित होने लगे। 'बाल-बोधिनी' स्त्री शिक्षा के उद्देश्य से प्रकाशित की गई थी। इन पत्रिकाओं ने हिन्दी को सर्वतोमुखी विकास को प्रेरणा प्रदान की गई थी। इनमें जो निबन्ध रहते थे, उनका विषयक्षेत्र बहुत ही व्यापक था। 'काश्मीर-कुसुम' 'बादशाह' जैसी रचनाओं से उन्होंने हिन्दी के लेखकों को इतिहास लिखने की भी प्रेरणा दी। भारतेन्दुजी ने उपन्यास लिखना भी प्रारंभ किया, पर दुर्भाग्य से वे पहले ही चल बसे।

भारतेन्द्र जी की भावावेश और तथ्य-निरूपण वाली-दोनों

शैलियों पर ऊपर विचार हो चुका है। इन दोनों के क्रमशः एक एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

"भला क्या काम था इतना पचड़ा किया ? किसने इस उपद्रव और जाल करने की कहा था ? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते, बस चैन था, केवल आनन्द था। फिर क्यों यह विषमय संसार किया ? बखेड़िये ! और इतने बड़े कारखाने पर बेहयाई परले सिर की।"

"जब मुझे अंगरेज़ रमणी लोग भेदसिंचित केश-राशि, कृत्रिम कुन्तलजूट, मिथ्या रत्नाभरण, विविध वर्ण के वसन से भूषित, क्षीण कटि देश कसे, निज-निज पतिगण के साथ प्रसन्नबदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती है तब देश की सीधी साधी स्त्रियों की दीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुख का कारण होती है।"

भारतेन्दुजी को बहुत ही उत्कृष्ट कवि-हृदय प्राप्त हुआ था। उन्होंने अपनी बाल्यावस्था में ही रसज्ञता और भावुकता का परिचय दे दिया था। जब वे बहुत छोटे ही थे, उसी समय उन्होंने काशी-नरेश के यहाँ एक कठिन समस्या-पूर्ति द्वारा कवि-समाज में अपनी धाक जमा ली थी। जीवन के विभिन्न मार्मिक पक्षों के साक्षात्कार की जो अद्भुत क्षमता कवि के लिए आवश्यक होती है, वह इन्हें प्राप्त थी। यही कारण है इनकी कविता में स्निग्धता और सरसता का अजस्र स्रोत सा बहता है। भारतेन्दुजी ने भक्ति और शृंगार सम्बन्धी बहुत ही हृदय-स्पर्शी छन्द लिखे हैं। उनकी ये रचनाएँ उनके समय में ही बहुत प्रसिद्ध हो गई थीं।

भारतेन्दुजी में गद्य-साहित्य में युगान्तर उपस्थित करने वाली प्रतिभा थी। ऐसी महान् प्रतिभा के लिए यह संभव नहीं था कि पद्य-साहित्य के पिष्टपेषित विषयों पर पुरानी शैली में चिरप्राचीन

राग ही अलापते रहते। उन्होंने यद्यपि काव्य के अत्यन्त प्राचीन एवं चिरपरिचित विषय भक्ति और शृंगार भी अपनाये। उनके आलंबन भी पुराने ही रखे। पर आधुनिक जीवन के संस्पर्श से उन्होंने उनमें भी विचित्र सजीवता, सरसता और मार्मिकता की सृष्टि कर दी। इसके अतिरिक्त हिन्दी के पद्य-साहित्य को नूतन स्वर भी प्रदान किया। उसका समसामयिक जीवन के साथ सम्पर्क स्थापित कर दिया। रीतिकाल की तरह कविता जीवन से निरपेक्ष नहीं रखी गई। राष्ट्रीय-भावना, देश प्रेम, समाज-सुधार आदि के रूप में जिस सामाजिक चेतना को गद्य-साहित्य में स्थान मिला था, वही स्वर भारतेन्दु जी ने कविता को भी प्रदान किया। उन्होंने अपने नाटकों के अतिरिक्त भी ऐसे छन्द लिखे जिनके विषय तत्कालीन जीवन से ही उन्हें प्राप्त हुए थे। पद्य-साहित्य के प्रसंग में इस युगान्तर कारी स्वरूप पर विशद विवेचन किया जावेगा। भारतेन्दु जी ने अतीत गौरव के गर्व, वर्तमान अधोगति से जनित व्यथा एवं क्षोभ आदि नूतन विषयों को कविता में स्थान देना प्रारंभ कर दिया। उनकी अनेक कविताओं में देश की बढ़ती हुई दुर्दशा के प्रति अत्यधिक चिन्ता की भी अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रकार भारतेन्दु जी ने अपने पद्य साहित्य में भी उस क्रान्ति का सूत्रपात कर दिया जिसने आगे जाकर आधुनिक-साहित्य को वर्तमान स्वरूप प्रदान किया।

भारतेन्दु जी ने काव्य के लिए वृजभाषा को ही अपनाया। पर उसको भी नवीन स्वरूप प्रदान किया। उसमें जो शब्दों को तोड़ने मोड़ने की प्रवृत्ति आ गई थी, उसको तो भारतेन्दु जी ने समाप्त ही कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने उसमें से अत्यधिक प्राचीन और अपरिचित शब्दों को निकालकर उसको युगानुकूल सुबोध स्वरूप प्रदान किया। अगर वृजभाषा को युगानुकूल स्वरूप और विषय न प्राप्त होते तो संभवतः वृजभाषा काव्य की गति पूर्णतः

अवरूद्ध हो जाती और वह एक अतीत की वस्तु ही बन जाती।

ब्रजभाषा काव्य को प्रगति नूतन मार्ग दिखाने का श्रेय भारतेन्दुजी को ही है। हाँ, इतना अवश्य है कि भारतेन्दु जी जितनी सर्वत्तोमुखी और नूतन क्रान्ति का सूत्रपात गद्य-साहित्य में कर सके, उतना पद्य-साहित्य में नहीं कर सके। गद्य-साहित्यको उन्होंने नवीन विधायें और शैली प्रदान की; नितान्त नवीन स्वर प्रदान किया। पर पद्य-साहित्य में किसी नवीन विधा-शैली अथवा काव्य-पद्धति की उद्भावना नहीं कर सके। इसके कारण भी थे। गद्य-साहित्य की कोई प्रौढ़ परम्परा अथवा पद्धति नहीं थी। उसका नये सिरे से निर्माण करना था। इसलिए उसको नये साँचे में ढालना स्वाभाविक और सरल था। पद्य साहित्य को पुष्ट एवं लम्बी परम्परा विरासत में मिली थी। पद्य की रूढ़ियाँ गद्य की अपे। अधिक स्थायी होती है। उनका अचानक उच्छेद तथा उसके स्थान पर नवीन परम्परा की इतनी शीघ्र स्थापना उस समय सम्भव ही नहीं थी। उसके लिये उपयुक्त परिस्थितियाँ पूर्णता को नहीं पहुँची थीं।

भारतेन्दु जी की काव्य-पद्धति प्राचीनता का पल्ला पकड़े हुए ही नवीन विषयों की ओर उन्मुख हुई। इसका यह शुभ परिणाम हुआ कि कविता अपने भारतीय रूप को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए भी जीवन की नूतन परिस्थितियों के अनुरूप विकसित हो सकी।

प्रताप नारायण मिश्र—

मिश्र जी का जन्म सं० १९१३ में तथा मृत्यु सं० १९४५ में हुई थी। ये बहुत ही मस्त, मनमौजी और विनोद-रसिक स्वभाव के थे। मिश्रजी हिन्दी जगत् के प्रतिभा-सम्पन्न एवं उत्कृष्ट निबन्ध लेखक हैं। इनके निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता स्वच्छन्दता एवं वैयक्तिकता है। इनका विषय-क्षेत्र यद्यपि पर्याप्त व्यापक है, पर इनके सभी निबन्ध व्यक्तिनिष्ठ हैं। निबन्धों के विषय तो केवल बाहरी

आवरण मात्र हैं। महत्त्व तो इनकी विचार-धारा का ही है। निबन्ध के विषयों के अनुसार इनकी विचार-धारा नियंत्रित नहीं होती अपितु ये विषय को अपनी विचार धारा के अनुरूप मोड़ लेते हैं। 'दाँत, भौं, 'बात' जैसे सामान्य विषयों पर लिखे गये निबन्धों में भी ये देश-सेवा, स्वदेश-प्रेम, आदि की बातें कर लेते हैं। मनमौजी स्वछन्द प्रकृति, व्यगपूर्ण शैली एवं आत्मीयता के कारण इनके सभी लेख निबन्धों की कोटि में ही आते हैं। व्यंगपूर्ण शैली की सजीवता अकृत्रिम भाषा-प्रवाह तथा व्यक्तिनिष्ठ विचार-धारा के सहज एवं स्वाभाविक स्वरूप के कारण मिश्र जी पाठकों से सहज में ही घनिस्ठता स्थापित कर लेते हैं। स्वच्छन्द प्रकृति के कारण ये किसी भी प्रकार के बन्धनों में बँधकर नहीं चले हैं। बाहरी आवरण से इनकी कुछ रचनायें चाहे निबन्ध न प्रतीत हों; पर उनकी अन्तः प्रकृति निबन्ध की है। स्वच्छन्दता ही निबन्ध के प्राण हैं, और इस तत्त्व की मिश्र जी की रचनाओं में कुछ कमी नहीं है। व्यंग्य और विनोद तो इनकी भाषा की प्रधान विशेषतायें ही हैं। इन्होंने कहावतों और मुहावरों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। इनकी भाषा में ग्रामीण प्रयोगों का भी अभाव नहीं है। भाषा चलती हुई है। इन्होंने भारतेन्दु जी की भावावेश वाली शैली को अपनाया है। इसी लिये वाक्यावील छोटी और चुस्त है।

मिश्र जी वस्तुतः निबन्ध-लेखक रूप में ही प्रसिद्ध हैं। पर उन्होंने नाटक भी लिखे हैं। 'कलिकौतुकरूपक' संगीत शकुन्तला, हठी हमीर, 'गोसंकट नाटक' जुआरी-खुआरी आदि इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं। इनमें से अन्तिम अच्छा प्रहसन है। 'हमीर हट' ऐतिहासिक कथानक का नाटक है। 'संगीत शकुन्तला' पद्यबद्ध नाटक है। इन्होंने 'बुढ़ापा' जैसे विषयों पर पद्यात्मक निबन्ध भी लिखे। यह मुक्तक की नई-धारा थी। मिश्र जी वृजभाषा-काव्य की नई-धारा के कवि थे। इन्होंने अपनी कविता में देश-प्रेम, अतीत का गौरव,

वर्तमान के प्रति क्षोभ आदि नवीन विषयों को स्थान दिया। इनकी कविता की भाषा पर अवधी और बैसवारी का प्रभाव है।

पं० बालकृष्ण भट्ट—

इनका जन्म सं० १९०१ में हुआ था।

भट्ट जी भी मिश्र जी के ही समकालीन निबन्ध लेखक हैं। इन दोनों निबन्ध लेखकों के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिये शुक्ल जी इनकी तुलना अँग्रेजी के प्रसिद्ध निबन्ध लेखक एडीसन और स्टील से करते हैं। इन्होंने सं० १९३३ में 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया था। इसमें सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक आदि सभी प्रकार के छोटे-छोटे निबन्ध प्रकाशित होते थे। भट्ट जी के अधिकांश निबन्ध विचारात्मक कोटि में आते हैं। इनमें गम्भीर विचार करने की क्षमता है। भट्ट जी ने भारतेन्दु जी की विचारात्मक या तथ्य-निरूपण करने वाली शैली का विकास किया है। इन्होंने व्याख्यात्मक, भावात्मक, और व्यंगात्मक तीनों प्रकार की शैलियों का उपयोग किया है। भट्ट जी अपने युग के प्रगतिशील एवं गम्भीर विचारक हैं। मिथ्याचरण, आडम्बर, स्वार्थ-परायणता आदि से उन्हें बहुत घृणा थी। इन्होंने अपने निबन्धों में इन पर बहुत रोष प्रगट किया है। गम्भीरता इनके निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता है। भट्ट जी की भाषा में ग्रामीण प्रयोग का तो प्रायः अभाव है, पर इनकी भाषा भी विशुद्ध खड़ी बोली नहीं है। उसमें पूरबी प्रयोगों की कमी नहीं है। भट्ट जी ने भाषा के सम्बन्ध में भी स्वच्छन्द दृष्टिकोण को अपनाया है। वे अँग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। अरबी फारसी के तो बड़े-बड़े वाक्य ही लिखकर रख देते हैं। इनकी भाषा में कहावतों और मुहावरों का प्रयोग भी है। मुहावरों के प्रयोग में तो इनकी बहुत ही रुचि थी।

इन्होंने कई एक नाटक लिखे हैं तथा बंगला से कई नाटकों के अनुवाद भी किये। इनके नाटक भी 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित होते

थे। भट्ट जी हिन्दी में ठीक ठिकाने की समालोचना करने वाले सर्व प्रथम समालोचकों में से हैं। उन्होंने लाला श्री निवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की 'सच्ची समालोचना' के नाम से सुन्दर पर कटु आलोचना की है। हिन्दी में आधुनिक ढंग की समालोचना का सूत्रपात करने वाले बदरी नारायण चौधरी और भट्टजी ही हैं।

पं० बदरीनारायण चौधरी—

ये भारतेन्दुजी के घनिष्ठ मित्रों में से थे। इनका उपनाम प्रेमधन है। इनका जन्म सं० १९१२ में हुआ था। ये 'आनन्द कादंबिनी' नाम से एक पत्रिका निकालते थे, जिसमें नाटक, समालोचना, विनोद-पूर्ण प्रहसन, गंभीर विचारात्मक लेख आदि रहते थे। हिन्दी में सम्यक् समालोचना का सूत्रपात करने का श्रेय वस्तुतः इन्हीं को है। इन्होंने पुस्तकों के गुण दोषों को गम्भीर विवेचन की प्रकृति चलाई। इनकी आलोचना केवल व्यक्तिगत रुचि का परिणाम मात्र नहीं थी, उसका एक ठोस सैद्धान्तिक आधार भी रहता था। यद्यपि इस काल की आलोचना में व्यक्तिगत कटु आक्षेप तो कहीं-कहीं हो जाते थे, पर फिर भी प्रेमघनजी ने आलोचना की सम्यक् शैली का श्रीगणेश किया भी प्रेमघनजी की इस शैली में व्याख्या विश्लेषण, और तुलना, तीनों तत्त्वों का समावेश है। अन्त में ये अपना निर्णय भी दे देते हैं। व्यक्तिगत कटु आक्षेप करने की यह प्रवृत्ति द्विवेदी-युग के प्रारम्भ में तो बहुत ही बढ़ गई थी। शुक्लजी ने ही इसको एक प्रकार से सदा के लिये समाप्त किया था। प्रेमघनजी ने 'संयोगिता स्वयंवर' की बहुत कठोर आलोचना की थी। इस प्रकार की कठोरता का उद्देश्य केवल सत्-साहित्य के निर्माण की प्रेरणा प्रदान करना ही था, किसी प्रकार के व्यक्तिगत रागद्वेष को इसमें स्थान नहीं मिला था। इन्होंने 'बंगविजेता' की भी बहुत विस्तृत समालोचना की थी।

प्रेमघनजी ने कई नाटक भी लिखे हैं। 'भारत-सौभाग्य' नामक नाटक की कथा-वस्तु गदर के बाद अँग्रेजी शासन की पुनः स्थापना तथा काँग्रेस का जन्म है। इस नाटक में पात्रों की भीड़ है। भाषा पात्रों के अनुरूप रखी गई है, इस लिए यह नाटक बंगाली, मराठी, पंजाबी, मारवाड़ी आदि कई एक भाषाओं के नमूनों का संग्रह सा हो गया है। प्रारम्भ में लक्ष्मी, सरस्वती आदि का भारत से प्रस्थान दिखाकर लेखक ने बहुत ही कलात्मक एवं मार्मिक व्यङ्ग किया है, जिसमें यथार्थता का भी सुन्दर निर्वाह हुआ है। प्रयाग रामगमन इनका एक और नाटक है। समाज के दुर्व्यसनों का चित्रण करने के लिए इन्होंने एक और नाटक लिखना प्रारंभ किया था। उसे आप अपनी पत्रिका में निकाला करते थे। यह नाटक अधूरा ही रह गया। वर्ण्यविषय का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने के लिये इसमें शेर गजल आदि भी दिये गये हैं। इसका 'नाम बारंगनारहस्य-नाटक' या 'बेश्या-विनोद भट्टा फाटक' है, जो प्रतिपाद्य विषय का व्यंजक है।

प्रेमघनजी की भाषा-शैली अपने समकालीन सभी लेखकों से भिन्न थी। वे बात को घुमा फिरा कर कहने में आनंद लेते थे। उनके वाक्य बहुत लम्बे तथा पेचीदे होते थे तथा वे अनुप्रासमय भाषा लिखने में बहुत ही कुशल थे। पर उनकी पदावली केवल आडम्बर मात्र नहीं है उसमें अर्थगाम्भीर्य भी सर्वत्र है।

प्रेमघनजी अपने समय की भावनाओं के सबसे अच्छे प्रतिनिधि कवि थे। उन्होंने अपने समय के विषयों को काव्य में स्थान दिया है। देश-प्रेम इनके समय का प्रमुख स्वर था। इनकी कविता में भी इस भावना की प्रमुखता है। खड़ी बोली का आन्दोलन इनके समय में ही शुरू हो गया था पर इनका ब्रजभाषा के प्रति अनन्य प्रेम था, इसलिए वे इसी में कविता करते रहे।

लाला श्रीनिवास दास—

अपने समकालीन लेखकों में लालाजी सबसे अधिक गंभीर प्रकृति के माने जा सकते हैं। उन्होंने जीवन की जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए ही साहित्य सृजन किया है इसीलिए उसमें विनोद और कल्पना नहीं है। 'प्रह्लाद चरित्र' 'तप्ता संवरण' 'रणधीर और प्रेममोहिनी' तथा 'संयोगिता स्वंयवर' इनके द्वारा रचित नाटक हैं। इन्होंने 'परीक्षागुरु' नाम से एक मौलिक उपन्यास भी लिखा। इन्होने नाटकों में पाश्चात्य शैली भी अपनाई है। 'रणधीर और प्रेम-मोहिनी' एक प्रकार से 'रोमियो-जूलियट' के अनुकरण पर लिखी गई प्रेमकथा है। लालाजी ने प्रस्तावना को हटाकर तथा नाटक को दुःखान्त करके पाश्चात्य नाट्य-पद्धति को भी अपनाया है। इसकी भूमिका भी अंग्रेजी नाटकों के तत्त्वों के आधार पर ही लिखी गई है। पात्रानुकूल भाषा रखने की चेष्टा में इन्होंने कई एक स्थानों पर बहुत ही क्लिष्ट उर्दू का प्रयोग कर दिया है। भाषा में कहीं कहीं उन्होंने अंग्रेजी की पदावली भी रखदी है। 'परीक्षागुरु' के कथोपकथनों में 'अमुक ने कहा' का प्रयोग इसी अनुकरण का परिणाम है।

पं० राधाचरण गोस्वामी—

ये वृन्दाबन के रहने वाले थे। संस्कृत के बहुत अच्छे विद्वान थे। समाज-सुधार की भावना से ही उन्होंने सृजन किया था। इनका भाषा पर अच्छा अधिकार था। इन्होंने बहुत से सुन्दर एवं मौलिक नाटकों तथा अनेक अनूदित उपन्यासों द्वारा हिन्दी साहित्य की वृद्धि की है। इनके प्रसिद्ध मौलिक नाटक निम्नलिखित हैं—सुदामा नाटक, सती चन्द्रावली और अमरसिंह राठौर।

ठाकुर जगमोहन सिंह—(सं० १९१४—१९५५)—

आप अपने समय के उत्कृष्ट प्रतिभा-सम्पन्न कवियों में से थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्पर्क में आने से आपकी कवि-प्रतिभा को

प्रस्फुटित होने का बहुत ही सुन्दर सुयोग प्राप्त हुआ। ठाकुर साहब नवीन प्रभावों से प्रायः मुक्त ही रहे, पर उन्होंने कविता के क्षेत्र में नवीन क्रान्ति का पूर्वाभास दिया है। आधुनिक काल के साहित्य में प्रकृति को जो स्थान प्राप्त हुआ है, उसके प्रारंभिक स्वरूप के दर्शन इन्हीं की कविता में होने लगे थे। प्रकृति-क्षेत्र की रूप-माधुरी की जितनी गहरी अनुभूति इनकी थी, उतनी उनके समसामयिक कवियों में से किसी अन्य की नहीं। प्रकृति-क्षेत्र में उनका मन खूब रमा है। विंध्याचल के प्राकृतिक सौन्दर्य के गहरे संस्कार इन पर प्रारम्भ से ही थे। वे ही बाद में कविता के रूप में अभिव्यक्त हो गये थे। इन्होंने प्रकृति और नरक्षेत्र के सौन्दर्य में सामंजस्य स्थापित किया है। ठाकुर साहब संस्कृत और अँग्रेजी के अच्छे विद्वान थे। इस विद्वत्ता के संस्कार इनकी शैली पर अत्यन्त स्पष्ट हैं। उन्होंने भारत भूमि के पवित्र चित्र उपस्थित करते हुए प्राचीनकवियों की भावधारा का उपयोग किया है। उन्होंने दृश्य चित्रण की एक प्रलाप-शैली की उद्भावना की थी। शुक्ल जी के हृदय में उस शैली के विकास की मंगल कामना थी; पर वह पूरी नहीं हुई। इन्होंने अपनी कविता के लिए दो ही विषय चुने प्रेम और प्रकृति। इनका प्रेम ईश्वरोन्मुख था। इस लिए भक्ति की कोटि में आता है। प्रकृति को उन्होंने आलंबन के रूप में ग्रहण किया। प्रकृति-चित्रण की यही परम्परा आगे चल कर श्रीधर पाठक आदि में पुष्ट हुई। इस दृष्टि से इनकी कविता का ब्रज-भाषा की नई धारा में विशेष महत्त्व है।

भारतेन्दु काल में एक अच्छा खासा लेखक मण्डल ही तैयार हो गया था, जिसने हिन्दी-साहित्य की अनेक मुखी प्रगति का सूत्रपात कर दिया। इस युग में उपन्यास, नाटक, निबन्ध, कहानी, कविता आदि अनेक नवीन और प्राचीन काव्य-विधाओं के विकास का श्री गणेश हो गया। आगे इन सब विधाओं के स्वरूप और विकास पर विचार किया जावेगा। बाबू तोताराम, पं० अम्बिका दत्त व्यास आदि इस काल के अन्य और प्रमुख लेखक हैं।

आधुनिक गद्य-साहित्य का विकास

द्वितीय उत्थान (१९५०–१९७५)

भारतेन्दुजी के प्रयत्न से हिन्दी को एक सशक्त साहित्यिक भाषा तो प्राप्त हो गई थी तथा उसमें भावों और विचारों के गहन की भी क्षमता आ गई थी। पर उस समय तक उसका रूप अव्यवस्थित ही रहा। भारतेन्दुकाल के सभी लेखक स्वच्छन्द प्रकृति के थे, इसलिए भाषा का स्वरूप भी बहुत कुछ स्वच्छन्द ही रहा। लेखक अपने जन्म-स्थान के मुहाबरों और कहावतों तथा उर्दू-फारसी के शब्दों का बेरोक टोक प्रयोग करता था। दूसरे इस काल में शब्दों के स्वरूप भी निश्चित नहीं थे। एक ही शब्द को कई तरह से लिखने की प्रवृत्तियाँ थीं। प्रथम उत्थान के अन्तिम वर्षों में अनुवादों का ताँता सा बँध गया था। उन अनुवादों की मूल ग्रन्थ की भाषा को ज्यों का त्यों उतार देने की आकांक्षा ने हिन्दी के स्वरूप को अव्यवस्था में डाल दिया। कहीं वह बंगला से आक्रान्त हो गई तो कहीं अंग्रेजी पदावली का अविकल अनुवाद मात्र। इससे हिन्दी की प्रकृति की उपेक्षा आरंभ हो गई, जो साहित्य और भाषा के सहज विकास में बाधक सिद्ध हुई। यथार्थवाद के नाम पर नाटकों और उपन्यासों में भाषा-सम्बन्धी एक और अव्यवस्था शुरू हो गई थी। जो पात्र जिस देश और धर्म का होता था, उसके कथोपकथनों में तदनुकूल भाषा का प्रयोग भी होने लगा। इससे एक ही रचना में भाषा कहीं विशुद्ध उर्दू रही तो कहीं विशुद्ध संस्कृत गर्भित हिन्दी। इतना ही नहीं किसी किसी रचना में मराठी, बंगाली आदि के प्रयोग से भाषाओं का एक अजायबघर ही तैयार हो गया। ये सब बातें भाषा की अव्यवस्था को सिद्ध करती हैं। यही कारण है कि द्वितीय उत्थान के प्रथम कुछ वर्षों में

तो भाषा को व्यवस्थित एवं व्याकरण-सम्पन्न करने के ही प्रयत्न हुए। बहुत दिनों तक इसी बात पर विचार होता रहा कि विभक्ति-चिन्हों को मिलाकर लिखा जाय या अलग। विराम चिन्हों के प्रयोग की भी व्यवस्था हुई। इसके अतिरिक्त शब्दों के शुद्ध स्वरूप निश्चित करने में भी इस काल के चिन्तकों को अपनी शक्ति को पर्याप्त व्यय करना पड़ा। 'नायका' अथवा 'नायिका' में से कौनसा ठीक है, इस प्रश्न पर पत्र-पत्रिकाओं में बहुत विचार-विमर्श हुआ। आज भी अनेक शब्दों के स्वरूप के सम्बन्ध मतभेद है।

मूल प्रश्न वस्तुतः हिन्दी की प्रकृति का है। वह तब भी था और अब भी है। हिन्दी के स्वरूप एवं विकास पर संस्कृत भाषा का कितना नियन्त्रण रहे यही मूल प्रश्न है। जीवित भाषा अपने स्वाभाविक एवं स्वतन्त्र मार्ग को अपना कर विकसित होती है, अन्य भाषा के नियन्त्रण में नहीं। वह भाषाओं से आदान-प्रदान अवश्य करती है और इससे भी उसका विकास होता है। किसी भी भाषा का दासत्व स्वीकार करने से उसकी मूल प्रकृति उपेक्षित हो जाती है और फिर उसका सहज विकास रुक जाता है। पर हिन्दी और संस्कृत का पारस्परिक सम्बन्ध तथा भारत में संस्कृत भाषा का महत्त्व ये दोनों ही बातें साधारण नियम की परिधि में ठीक-ठीक नहीं बैठ पाती हैं। संस्कृतक इस देश की संस्कृति की भाषा है। देश के चिन्तन की अमूल्य निधि उसी में सुरक्षित है। आज भी वह हमें जीवन की वास्तविक प्रेरणा देती है। इसकी उपेक्षा भारत की पृथक सांस्कृतिक सत्ता के विलमे की आशंका से मुक्त नहीं है। इस देश की प्रत्येक प्रान्तीय भाषा को संस्कृत की मुखापेक्षी रहना पड़ेगा; क्योंकि यह प्रायः उन सभी भाषाओं का आदि स्रोत है। इस देश के लिए इस भाषा का सांस्कृतिक महत्व तो है ही इसके अतिरिक्त इसमें

शब्द-निर्माण करने की भी अमोघ शक्ति है। आधुनिक वैज्ञानिक जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप नवीन शब्दों का निर्माण इसी के व्याकरण के द्वारा हो सकता है और सम्पूर्ण भारत की उपादेयता एवं भावी विकास की दृष्टि से यही ठीक भी है। पर दूसरी तरफ जनपदीय साहित्य और भाषा की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जो शब्द इन जनपदीय अथवा प्रान्तीय भाषाओं में प्रचलित हैं, उन्हें न अपनाकर उपसर्गों और प्रत्ययों की सहायता से बहुत लम्बे लम्बे नवीन शब्दों का निर्माण भी अव्यावहारिक एवं विकास में बाधक हैं। इसलिए आज जो हिन्दी के समक्ष समस्या है उसका हल बहुत सोच समझकर ही निकालना है। आज तो हिन्दी के स्वरूप को इतना व्यापक बना देने की आवश्यकता प्रस्तुत हो गई है कि वह संस्कृत, और अपनी जनपदीय भाषाओं से ही नहीं अपितु अन्य प्रान्तीय भाषाओं से भी ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त करले। द्विवेदीजी के समक्ष भाषा के इतने विशाल स्वरूप के निर्माण की समस्या नहीं थी। पर उन्होंने उसके जिस साहित्यिक स्वरूप की प्रतिष्ठा की थी, वह इतना रूढ़िवादी नहीं था कि संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाओं से ग्रहण ही न कर सके। द्विवेदीजी ने स्वंय उर्दू, फारसी, अंग्रेजी आदि के शब्दों का प्रयोग किया है। भाषा की यही नीति उन्हें मान्य थी।

भारतेन्दु काल में हिन्दी के गद्य-साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता तो प्रतिष्ठित हो गई। कुछ उपयोगी एवं मनोरंजक साहित्य से जनता हिन्दी की ओर आकृष्ट भी होने लगी। साहित्य का जन-जीवन से सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। राष्ट्र-प्रेम, समाज-सुधार आदि की भावना को साहित्य में स्थान भी प्राप्त हुआ। ये अस्पष्ट आकांक्षायें मात्र रहीं। साहित्य किसी ठोस विचारधारा को नहीं अपना सका था। साहित्य में कुछ विचार घटनाऐं, चरित्रों या

व्याख्या के रूप में मूर्त्त अवश्य हुए। पर इस युग का साहित्य जीवन की अनुभूति की सचाई से इतना अधिक अनुप्रणित और सजीव नहीं हो पाया था। सम-सामयिक जीवन का यथार्थ एवं सम्पूर्ण चित्र इसी दूसरे उत्थान में प्रस्तुत किया जा सका। भारतेन्दु युग से इस युग के साहित्य ने इतनी प्रगति और करली कि वह जीवन की यथार्थता से अधिक प्राणान्वित हो गया। भारतेन्दु युग में साहित्य का उद्देश्य नैतिक अथवा चारित्रिक निर्माण मान लिया गया था। इस चरित्र की आधार-भित्ति तो राष्ट्रीयता थी, पेर इसका लक्ष्य प्रमुखतः व्यक्ति ही था। वैयक्तिक चरित्र-निर्माण ही द्विवेदी युग के साहित्य की आधार-शिला है। नैतिकता और सुरुचि ही इस युग के साहित्य का प्रमुख स्वर है। इस प्रकार इस युग के प्रारंभिक साहित्य में भारतेन्दु युग के साहित्य की तरह आदर्शवाद का ही प्राधान्य रहा है। हाँ धीरे-धीरे वह यथार्थवाद (Realism) और प्रकृतवाद (Naturalism) की ओर उन्मुख अवश्य होता गया है। लेकिन यह स्थिति तृतीय उत्थान में ही आई। प्रेमचन्द जी का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद एक प्रकार से सम्पूर्ण द्वितीय उत्थान के गद्य-साहित्य की प्रधान विशेषता है। तृतीय उत्थान के पूर्वार्द्ध में यही अवस्था रही, पर बाद में यथार्थ और आदर्श का स्वरूप बदला। भारतेन्दु युग से इतना साम्य होते हुए भी द्विवेदी युग का इससे आधार-भित्ति का अन्तर है। वस्तुतः यह भारतेन्दु युग के आगे का विकास है। भारतेन्दु युग के साहित्य में अन्तस्तल में प्रत्यय (Concepts) ही थे, कोई सुसंबद्ध विचार-धारा (Idiology) नहीं विकसित हो पाई थीं। इस युग के जीवन और साहित्य का आदर्श युग की विचार-धारा एक शब्द में मानवतावादी कहे जा सकते हैं। मानवतावाद भी यथार्थवाद का ही एक रूप है। राष्ट्रीय भावना और सांस्कृतिक चेतना भी सुसंबद्ध विचार-धारा में परिणत होकर साहित्य को प्रमुख प्रेरणा बनने लगे।

इस युग के जीवन और साहित्य पर पाश्चात्य विचार-धारा का प्रभाव क्रमशः बढ़ता ही गया है। मानवतावाद भी पश्चिम की ही देन है। पर इसका भारतीय जीवन के आदर्शों से एक सीमा तक अविरोध है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति के उत्कट प्रेमी द्विवेदीजी, गुप्तजी आदि द्वारा भी यह दृष्टिकोण अपना लिया गया। यह युग की प्रतिनिधि भावना है, इसलिए सभी को मान्य है। इनकी मान्यताओं में कुछ वैयक्तिक अन्तर भी है। यहाँ पर हमें संक्षेप में इसका स्वरूप समझ लेना चाहिए।

मानवतावाद प्रकृतवाद का ठीक उल्टा है। प्रकृतवाद के अनुसार मानव मूलतः पशु है। वह उसी से विकसित हुआ है। पर सभ्यता और शिष्टाचार के आवरण के नीचे उसकी पाशविक वृत्तियाँ अक्षुण्ण बनी रहती है। अपने जीवन को अधिक सुखमय बनाने के लिए उसने शिष्टाचार, नीति और धर्म के नियम बना लिए हैं। समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए मानव जिन बाधाओं को स्वीकार करता है, जिस संयम से काम लेता है वह उसका सहज एवं स्वाभाविक स्वरूप नहीं है। वह स्वार्थ, भय और लज्जा के द्वारा दिया गया कृत्रिम आवरण मात्र है। जहाँ उसके स्वार्थ को गहरी ठेस लगती है नीति और शिष्टाचार का बाहरी आवरण छिन्न-भिन्न हो जाता है तथा उसकी पाशविक वृत्तियाँ जाग्रत हो उठती हैं। उसका व्यवहार किसी भी पशु से कम नहीं होता। लेकिन मानवतावादी इसके विपरीत यह मानते हैं कि मनुष्य ने अपने में बुद्धि और हृदय के अद्भुत गुण विकसित कर लिये हैं। नैतिकता, आत्मसंयम, और तपस्या उसका सहज और स्वाभाविक स्वरूप है। पशु से उसका यही मौलिक अन्तर है। भारतीय दृष्टि से इन सभी गुणों का अन्तर्भाव धर्म में हो जाता है। पशु और मानव में केवल धर्म का ही अन्तर है। आधुनिक काल में इन सभी गुणों की समष्टि को मानवता कहते हैं। मानवतावादियों की यह मान्यता है कि मानव

में अद्भुत शक्तियों के विकास की क्षमता है। वह अपनी शक्तियों के विकास से इसी भूमि को स्वर्ग बना सकता है। इहलौकिक सुखों की चरम अवस्था को प्राप्त करना, इस मर्त्यलोक को स्वर्ग बना देना ही मानवतावादी दर्शन की दृष्टि से मानवजीवन का चरम लक्ष्य है। उसे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक—सभी दृष्टियाँ से मुक्त तथा सुखी करना ही मनुष्य की सब चेष्टाओं का प्रधान उद्देश्य है। सारी विद्यायें और शास्त्र इसीलिए हैं। ये सारी चेष्टायें मानव के चिरविकास में सहयोग, प्रदान करती है। इस प्रगति में सहयोग देना ही साहित्य का उद्देश्य है, यही सत्साहित्य का माप दण्ड है। मानवतावादी दृष्टिकोण के साथ ही विकासवाद का सिद्धान्त भी मान्य हुआ। मानव प्रगति कर रहा है, यह भी इन्हें ध्रुव सत्य लगता है।

यह मानवतावादी दृष्टि ही इस काल की प्रमुख चेतना है। इसके परिणाम-स्वरूप मानव ही इस युग के साहित्य का विषय हो गया है। भारतेन्दु काल में ही इन प्रवृत्तियों के बीज दिखाई पड़ने लगे थे, पर द्विवेदी-युग में तो मानवतावादी दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट और प्रमुख हो गई। इस युग में जीवन के पारमार्थिक श्रेय की स्पष्ट शब्दों में अस्वीकृति नहीं है, परउसको गौण स्थान अवश्य मिल गया है। वह उपेक्षित अवश्य रहा। इहलौकिक सुख-समृद्धि को ही महत्व प्राप्त हुआ, पर उसमें नीति एवं आध्यात्मिकता के लिए भी स्थान रहा। मनुष्य को वास्तविक शान्ति इसी से मिल सकती है। परवर्ती काल में इस लौकिक दृष्टि का ही विकास हुआ। यह प्रकृतवाद और जड़वाद की ओर भी उन्मुख हुई। साहित्य में मानव के नग्न चित्रण की प्रवृत्ति भी जागी। नीति और आध्यात्मिकता का स्थान भौतिकता ने ले लिया। पर इस देश में आध्यात्मिकता की जड़ इतनी गहरी है कि संभवतः इसको समूल उखाड़ देना संभव नहीं है। अब तो युद्ध के बाद यूरोप भी धीरे-धीरे

अध्यात्मिकता की ओर पुनः अग्रसर हो रहा है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में यूरोप के साहित्य में अनेक वाद आये और गये। आधुनिक हिन्दी-साहित्य एक प्रकार से इन वादों का एक संक्षिप्त उद्धरण सा हो गया है। आध्यात्मिक संस्कृति के कारण जड़वादी भौतिक दृष्टिकोण को देश पूर्णतः अपना नहीं सका। द्विवेदी-युग के साहित्य की अपेक्षा मार्क्सवादी प्रवृत्ति से प्रेरित आधुनिकतम साहित्य अधिक जड़वादी हैं। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि साधारणतः हिन्दी-साहित्य में भी जड़वादी प्रवृत्ति प्रबल हुई है। पर प्रसाद, पन्त आदि में आध्यात्मिकता के ही दर्शन होते हैं। इससे यह सिद्ध है कि सम्पूर्ण साहित्य जड़वाद की ओर अग्रसर नहीं है। इस देश में ऐसा सम्भव भी नहीं है।

इस युग में मानव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रारंभ हुआ। उसकी आर्थिक, सामाजिक, एवं धार्मिक परिस्थितियों का विवेचन होने लगा। उसके पतन का कारण इन्हीं में से किसी एक को या सबको बताया गया। द्विवेदी-युग के प्रारंभ से ही पतित के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति शुरू हो गई। अनेक ऐसे नाटक, उपन्यास और कहानियाँ लिखी गईं जिनमें पतितों के प्रति करुणा एवं सहानुभूति थी तथा उन पर अत्याचार करने वालों के प्रति घृणा और रोष का चित्रण। चतुरसेन शास्त्री और बेचैन शर्मा उग्र आदि की रचनायें इसका प्रमाण हैं। इस युग के साहित्य के अन्तस्तल में यह दृढ़ विश्वास था कि अगर आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियां उन्हें बाध्य न करें तो ये पतित ही नहीं हों और अगर परिस्थितियों में अनुकूल परिवर्तन कर दिया जाय तो ये फिर सच्चरित्र और उच्च मानव हो जाय। प्रारम्भ में इन पतितों के उच्चता की संभावना केवल जड़ और स्थूल ही रही। पर आगे तो चरित्रों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रारम्भ हुआ और इनमें उच्च मानवता की स्पष्ट एवं जीवंत झलक मिलने लगी। प्रसादजी के

निम्नस्तर के चरित्रों में भी ऐसी मानवता के स्पष्ट दर्शन होते हैं। पहले तो सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन से मानव के चरित्र की उच्चता तथा समस्याओं के हल की संभावना में विश्वास था। प्रेमचन्द जी तक की रचनाओं की यही अवस्था थी। पर इस युग के अन्तिम चरण में व्यक्ति की कुछ प्रवृत्तियाँ एवं वासनाओं का तुष्टि तथा सद्प्रवृत्तियों के निर्माण को महत्व दिया जाने लगा। मनोविश्लेषणशास्त्र का उपयोग प्रारम्भ हो गया। ये दोनों ही दृष्टिकोण व्यक्तिवादी हैं। इनमें व्यक्ति के निर्माण का ही ध्येय है। सम्पूर्ण समाज या समष्टि के परिवर्तन की भावना हिन्दी में कुछ बाद में आई। इसको बहुत कुछ प्रगतिशील साहित्य की देन भी मान सकते हैं। पर यह विकास है परवर्ती। द्विवेदी-युग में यह बात नहीं थी। द्विवेदी-युग का चरित्र वर्ग प्रतिनिधि (Type) है और छायावाद का व्यक्ति (Individual)। पर हैं दोनों व्यक्ति ही। दोनों साहित्यों का केन्द्र व्यक्ति ही है।

इस युग के साहित्य में जीवन की जिंदादिली को स्थान मिलना प्रारम्भ हुआ। केवल गंभीर चिंतक और साधु के से अत्यधिक आत्मसंयम से पूर्ण तथा जीवन के रसों से पराङ्मुख निष्क्रिय एवं प्राणस्पंदन-विहीन जीवन साहित्य का विषय नहीं रहा। उसमें क्रमशः, हँसने, रोने, गाने का उच्छल वेग बढ़ता गया है। उसमें सक्रियता और सरसता का समावेश प्रारंभ हो गया। जीवन का उच्छल एवं सहज वेग तो इस काल के साहित्य की श्रेष्ठता का मानदण्ड ही है। द्विवेदी युग में तो इसमें नीति और संयम की गंभीरता का मिश्रण भी था, पर बाद में मर्यादाओं के बन्धन शिथिल पड़ते गये और जीवन में स्वच्छन्दता का वेग आता गया है। पर हिन्दी साहित्य में ऐसे चरित्रों की कल्पना प्रायः बहुत ही कम हुई, जिनमें जीवन का वीर्य और उत्साह हो, जो कर्म की स्वस्थ प्रेरणा दे सके। जीवन का यह उच्छल वेग वासना जनित ही अधिक

कहा जा सकता है। आधुनिक साहित्य को रीतिकालीन मादकता विरासत में प्राप्त हुई थी। प्रकृतवादी दृष्टिकोण के प्रभाव से मानव के यथार्थ चित्रों के बहाने वासनात्मक जीवन का चित्रण भी खूब हुआ है। परन्तु मानवता वादी साहित्य में जीवन के स्वस्थ एवं व्यापक वेग के चित्रण की भी आकांक्षा है।

आज का कलाकार जीवन के मांसल रूप का अनुभव कराना चाहता है। वह उसकी बाह्य एवं आभ्यन्तर यथार्थता की गहराई में डूबकर उसके प्राणस्पन्दन का अनुभव करता है। रीति काल में जीवन का वेग केवल शृङ्गार तक सीमित था। केवल उद्दाम वासना की प्रमुखता के कारण उस समय जीवन के सहज स्वरूप की अनुभूति को साहित्य में स्थान नहीं मिल सका। पर आधुनिक काल के साहित्य का जीवन केवल शृङ्गार तक सीमित नहीं रहा। वह व्यापक हो गया है। इसीलिए साहित्य उसके सहज एवं यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने के लिए प्रयत्नशील है। उसमें भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार की अनुभूतियों को स्थान मिला है, पर आज आध्यात्मिकता भी अधिकांशतः मन की ही अवस्था है उसमें भक्ति काल की तरह मन और बुद्धि के परे के संकेत करने की प्रवृत्ति प्रायः नही है। आज जीवन के पारमार्थिक एवं पारलौकिक रूप की अपेक्षा भौतिक तथा इहलौकिक स्वरूप के प्रति विश्वास अधिक बढ़ गया है। और इसी को आज के साहित्य में सबसे अधिक स्थान मिला है। हिन्दी-साहित्य ने पारमार्थिकता के प्रति अपने विश्वास को खो नहीं दिया है। पारमार्थिकता भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। उसे खोकर तो हिन्दी-साहित्य को पूर्णतः अभारतीय हो जाना पड़ेगा, उसका जीवन स्रोत से सम्बन्ध ही विच्छिन्न हो जायेगा। पर फिर भी उस पर गहरा पाश्चात्य प्रभाव है। उसने भी भौतिकता का पल्ला दृढ़ता से पकड़ लिया है।

ऊपर जिन वादों और साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों का

विश्लेषण हुआ है, उनका स्पष्ट और विकसित रूप तो आधुनिक काल के तृतीय उत्थान में ही दृष्टिगत होता है। यथार्थवादी एवं प्रकृतवादी दृष्टिकोण से लिखा हुआ साहित्य तो तृतीय उत्थान में ही मिलता है। यथार्थवाद के विभिन्न स्वरूपों पर विचार भी युग में प्रारंभ हुआ। पर उनका पूर्वाभास भारतेन्दु युग में तथा सूत्रपात द्विवेदीयुग में ही होने लगा था। उनमें से कुछ तो द्विवेदीयुग में अत्यन्त स्पष्ट भी हो चली थी, कुछ अन्तस्तल में ही प्रवाहित होती रहीं। पर जो अस्पष्ट थी उनमें भी आकार ग्रहण करने की आकांक्षा व्यक्त होने लगी थी। प्रसाद, पन्त आदि का सृजन-कार्य द्विवेदी युग के अन्तिम चरण में शुरू हो गया था और उनके साहित्य को चेतना प्रदान करने वाली आकांक्षायें तो उस युग के प्रारम्भ से ही अन्तस्तल में प्रवाहित हो रही थी। यही कारण है इन सभी प्रवृत्तियों का विवेचन यहाँ किया गया है। यह युग तृतीय उत्थान की भूमिका है। इन सभी प्रवृतियों का वास्तविक विकास आगे ही हुआ है।

द्विवेदी-युग में साहित्य की अनेक विधाओं के स्वतन्त्र एवं पुष्ट स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई। इस युग से उनका स्वतन्त्र विकास भी प्रारम्भ हो गया। उनके अनेक भेदोपभेदों की भी कल्पना होने लगी। इसलिए एक-एक विधा के विकास का स्वतन्त्र अध्ययन आवश्यक है।

नाटक

पारसी थियट्रिकल कम्पनियों के केवल व्यावसायिक दृष्टि से लिखे हुए नाटकों के कुत्सित प्रभावों से जनता की रक्षा करने के लिए भारतेन्दु जी ने नाट्यरचना प्रारम्भ की थी। उसमें उनका प्रमुखतः सुधारवादी दृष्टिकोण ही रहा। उस काल के नाटकों में राष्ट्रीय भावना को स्थान प्राप्त हुआ तथा अन्य बहुत से सामाजिक विषयों पर भी नाटक लिखे गये। कुछ साधारण पाश्चात्य

संस्कारों के साथ संस्कृत की नाट्य-पद्धति को ही भारतेन्दु जी ने अपनाया था। द्विवेदी युग के नाटकों की भी यही अवस्था रही। इस काल के नाटकों से किसी नवीन प्रगति का सूत्रपात नहीं हुआ। हाँ, भारतेन्दु काल के नाट्य-साहित्य में जिन प्रवृत्तियों के दर्शन होने प्रारम्भ हुए थे, उनको स्थायित्व अवश्य प्राप्त हो गया। विषय-क्षेत्र भी पहले की अपेक्षा विस्तीर्ण हो गया। ऐसे ही व्यक्तियों की अधिक कल्पना हुई जिनमें नैतिक एवं सात्विक प्रभाव डालने की क्षमता थी। नैतिकता और सुरुचि तो इस युग के साहित्य का मेरुदण्ड ही है। इसलिये अन्य विधाओं की तरह नाटकों का भी यह प्रमुख स्वर रहा। इस युग में ऐतिहासिक नाटक पहले की अपेक्षा अधिक लिखे गये। अनुवादों का भी तांता सा ही बँध गया।

बंगला, संस्कृत और अंग्रेजी—इन तीनों भाषाओं के अनेक प्रसिद्ध नाटकों का अनुवाद हुआ। पं० रूपनारायण पाण्डेय ने द्विजेन्द्रलाल राय, रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा गिरीश बाबू ने नाटकों के सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किये। शाहजहाँ, दुर्गादास, अचलायतन, पतिव्रता आदि इनके प्रसिद्ध एवं सफल अनूदित नाटक हैं। लाला सीताराम बी० ए० के संस्कृत के नाटकों के अनुवाद भी बहुत सफल रहे। उन्होंने उत्तर रामचरित, मालतीमाधव, मालविका ग्निमित्र, आदि अनेक उत्कृष्ट नाट्य-कृतियों के अनुवाद किये हैं। पद्यों में मूल का सा भाव-सौन्दर्य तो नहीं आ सका, पर ये सफल अनुवाद हैं। लालाजी की भाषा में सरलता एवं सहज प्रवाह है। पुरोहित गोपीनाथजी ने 'रोमियो जुलियट' 'एज़० यू० लाइक इट' और 'दी मर्चेंट आफ बेनिस' के सुन्दर अनुवाद प्रकाशित किये। इसके बाद शेक्सपीयर के 'मैकवेथ' और 'हेमलेट' के भी अनुवाद हुए। पं० सत्यनारायण कविरत्न के 'उत्तर रामचरित' और 'मालती माधव' अनुवाद बहुत ही सफल रहे। ब्रजभाषा के सवैयों

में मूल ग्रन्थ के माधुर्य की संरक्षा हो सकी है। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने भी 'वेणीसंहार' और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद किया। इन्होंने 'सीता बनवास' के नाम से एक मौलिक नाटक भी लिखा। इस पर भवभूति के 'उत्तर रामचरित' का गहरा प्रभाव है। बलदेव प्रसाद के 'प्रभास-मिलन' 'मीराबाई' और 'लल्ला बाबू' अच्छे नाटक हैं। देबीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्रकला भानुकुमार' काल्पनिक कथावस्तु का नाटक है। यह रचना अभिनय की दृष्टि से सफल नहीं कही जा सकती है।

इस काल के नाट्य-साहित्य के उपर्युक्त विवरण ऐसे स्पष्ट हैं कि यह पूर्ववर्ती युग के साहित्य का अनुकरण मात्र ही रहा इसने कोई विशेष नवीन प्रगति नहीं की। इस क्षेत्र में कोई उत्कृष्ट प्रतिभा भी नहीं रही। पर अनुवादों ने नाट्यकला के भावी विकास के लिए मार्ग अवश्य खोल दिया। पाश्चात्य नाट्यकला से भी पहले की अपेक्षा अधिक परिचय करा दिया। इस काल में रंगमंच का विशेष विकास नहीं हुआ। भारतेन्दुजी ने पारसी व्यावसायिक कम्पनियों के विरोध में जिस साहित्यिक रंगमंच की प्रतिष्ठा की, उसका कुछ प्रसार अवश्य हुआ।

उपन्यास

उपन्यास और छोटी कहानियाँ साहित्य की नवीन विधायें हैं। प्राचीन कहानियों में घटनाओं का प्राधान्य अथवा कुछ भावात्मक स्थलों का नियोजन मात्र रहता था। उनकी मनोरंजकता का यही मूल कारण था। पर आजकल की कहानियों का प्रधान उद्देश्य जीवन की व्याख्या हो गया है। उनमें चरित्र-चित्रण, घटनाओं का विकास, भाव-व्यंजना, परिस्थिति-चित्रण तथा कथोपकथन जैसे तत्त्व नाटकों से ले लिये गये हैं। इनमें कथा के पूर्यापर क्रम के निर्वाह की अपेक्षा नहीं रही। कथा कहीं से भी उठाई जा सकती है और कहीं भी छोड़ी जा सकती है। ऐसी ही विधा को बंगला में 'उपन्यास'

नाम से अभिहित किया गया। हिन्दी ने भी उसी नाम को अपन लिया। इस प्रकार आधुनिक उपन्यास नितान्त नवीन रूप में प्रगट हुआ है। यह कादम्बरी आदि संस्कृत के प्राचीन गद्यकाव्यों की परम्परा का विकास नहीं है। भारतेन्दु-युग में मौलिक उपन्यास लिखे तो गये, पर अनुवाद ही अधिक हुए। उस समय की मौलिक रचनाओं में उपन्यास का स्वरूप कुछ स्पष्ट नहीं हो पाया। द्विवेदी-युग में ही इस विद्या के प्रारम्भिक रूप की ठीक-ठीक प्रतिष्ठा हो पाई।

प्रेमचन्दजी के पूर्व तक उपन्यास के क्षेत्र में जो रचनायें हुईं उनका उद्देश्य मनोरंजन ही है। वे कहीं-कहीं नीति का उपदेश भी देने की चेष्टा करती है। जीवन के सत्यों के विश्लेषण का तत्व प्रेमचन्द जी के पूर्व उपन्यास में प्रविष्ट नहीं हो पाया। श्रीनिवासदास बालकृष्ण भट्ट आदि ने अपनी रचनाओं में कुछ गाम्भीर्य लाने की चेष्टा की थी; पर इसमें उन्हें अधिक सफलता नहीं मिल सकी। देवकीनंदन खत्री आदि प्रारम्भिक उपन्यासकारों में घटना-वैचित्र्य का तो अभाव नहीं था। वे आश्चर्य-चकित कर देने वाले कथानकों और घटनाओं का उद्भावना कर लेते थे पर उन में चरित्रों को व्यक्तित्व प्रदान करने, रस-संचार और जीवन की यथार्थता के समावेश की क्षमता नहीं थी। उस काल में तिलस्म और ऐयारी के उपन्यासों की एक बाढ़ सी आगई। इस काल के उपन्यासों में कहीं-कहीं वासनाओं के कुत्सित रूप का भी चित्रण हुआ है। इस काल का उपन्यास-साहित्य गल्प की कोटि में ही आपाता है। बहुत सी रचनाओं को तो शुक्ल जी साहित्य की कोटि में ही नहीं मानते हैं। हाँ, इन उपन्यासों से हिन्दी के पाठकों की बहुत अधिक वृद्धि अवश्य हुई। यही इन उपन्यासों की हिन्दी की बहुमूल्य सेवा है।

इस काल में अनुवादों की परम्परा भी चलती रही और सब

प्रकार के उपन्यासों के अनुवाद हुए। बंकिमचन्द्र, शरत् बाबू, चंडीचरण सेन, रवीन्द्र आदि बंगला की उत्कृष्ट प्रतिभाओं की रचनायें इस काल में अनूदित हुईं। बंगला के अतिरिक्त उर्दू, मराठी, गुजराती और अंग्रेजी के उपन्यासों के भी अनुवाद हुए। अंग्रेजी भाषा से इस काल में अपेक्षाकृत कम अनुवाद हुए। इन अनुवादों से हिन्दी के पाठकों और लेखकों की रुचि का परिष्कार हुआ। उनका उपन्यास-साहित्य के प्रौढ़ स्वरूप से परिचय हुआ। उपन्यास की अनेक शैलियों एवं रचना प्रक्रियाओं से हिन्दी जगत् अवगत हो गया और इस प्रकार इन अनुवादों ने हिन्दी उपन्यास के लिए एक विस्तृत क्षेत्र प्रस्तुत कर दिया। इसके परिणाम-स्वरूप द्वितीय उत्थान के अन्तिम चरण तथा तृतीय उत्थान में उपन्यास-साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ।

कहानी

हिन्दी की आधुनिक कहानियों के प्रारंभिक रूप पर कुछ प्राचीन संस्कार तथा विजातीय प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट हैं। प्राचीन बृहत्कथा तथा उर्दू के किस्सों का उस पर प्रभाव था। पर धीरे धीरे हिन्दी की कहानी ने अपने स्वतन्त्र स्वरूप का विकास किया। उसने संस्कृत की प्राचीन कथाओं तथा पाश्चात्य कहानियों से बहुत कुछ ग्रहण किया, पर वह उनका अनुकरण मात्र नहीं रही। उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व ही स्थापित हो गया। आधुनिक काल में ही जन्म लेकर थोड़े समय में ही इस विधा ने बहुत अधिक विकास किया।

भारतेन्दु युग में 'कहानी कला' का विकास नहीं हुआ। ऐसी किसी विधा का स्वरूप-संगठन नहीं हो पाया जिसका भावी विकास होता। 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' 'यमलोक की यात्रा' जैसी कहानियाँ अवश्य लिखी गईं। पर ये शैली की दृष्टि से आधुनिक कहानी से

नितान्त भिन्न हैं। फिर भी इनमें नवीन दृष्टिकोण का स्पष्ट आभास मिलता है। इनमें लेखक जीवन की यथार्थता से कहीं भी निरपेक्ष नहीं प्रतीत होता है। प्राचीन कहानी के उपदेशात्मक तत्त्व के स्थान पर इनमें जीवन के प्रति व्यंग करने की प्रवृत्ति के दर्शन भी होते हैं। पर हिन्दी कहानी के आधुनिक स्वरूप की यथार्थ प्रतिष्ठा द्विवेदी-युग के अन्तिम चरण में हुई। इन दोनों युगों के सन्धिकाल तथा द्विवेदी-युग के प्रारंभिक वर्षों में बंगला से अनूदित कहानियों के दर्शन होने लगे थे। अनुवाद के क्षेत्र में बा० गिरिजाकुमार घोष (हिन्दी के लाला पार्वतीनन्दन) तथा बंग महिला की सेवायें महत्व-पूर्ण हैं। उस समय बंगला-साहित्य इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति कर चुका था। उसमें भावात्मकता, रहस्यात्मकता, कुतूहल और सरसता की सुन्दर सृष्टि रहती थी। अनुवादों के माध्यम से हिन्दी के पाठक और लेखक का पर्याप्त प्रौढ़ कहानी-कला तथा उसकी शैली सम्बन्धी विविधता से परिचय हो गया था। उस समय का लेखक बहुत दिनों तक इस विविधता की चकाचौंध में अपना निश्चित मार्ग ही नहीं बना पाया।

हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी कौनसी है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। प्रारंभ में ऐसी कहानियाँ ही लिखी गईं जिन पर बंगला की किसी कहानी की छाप रहती थी। अनुवादों के आदर्श पर तथा उन्हीं की सामग्री से हिन्दी में नूतन कहानी का स्वरूप-संगठन हुआ। शुक्लजी किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' को ही प्रथम मौलिक कहानी मानते हैं। शुक्लजी की 'ग्यारह वर्ष का समय' भी प्रारम्भिक मौलिक कहानियों में से ही है इसके बाद पत्र-पत्रिकाओं में कहानियों की बाढ़ सी आने लगी। राधिकारमणसिंह, कौशिकजी, जे० पी० श्रीवास्तव, ज्वालादत्त शर्मा, गुलेरीजी आदि इसी युग के लेखक हैं। प्रेमचन्दजी और प्रसादजी ने भी इसी युग में कहानी लिखना प्रारंभ कर दिया था। पर

कहानी-कला और रचना-पद्धति की प्रौढ़ता की दृष्टि से ये दोनों लेखक तृतीय उत्थान के ही माने जा सकते हैं। फिर भी इस काल में कहानी के अनेक रूप दृष्टिगत होने लगे थे। श्रीवास्तवजी की कहानियाँ हास्य-प्रधान हैं। 'कानों में कंगना' भावुकतापूर्ण कहानी है। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की कहानियों में भावुकता कहीं-कहीं गद्य काव्य की आलंकारिक शैली को अपना लेती है। कौशिक जी मानव के मानस का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी प्रस्तुत करने लगे थे। 'उसने कहा था' जैसी कला और रचना पद्धति की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ कहानी इसी काल में लिखी गई थी। इसका प्रेम-सम्बन्धी दृष्टिकोण यथार्थवादी एवं भावुकतापूर्ण होते हुए भी सुरुचि और मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है। फिर भी इस काल का कहानी लेखक किसी निश्चित मार्ग को अपनाने में हिचक रहा था। विभिन्न शैलियों, आदर्शों और स्तरों की कहानियाँ थीं, पर कोई एक निश्चित शैली, आदर्श एवं स्तर नहीं था। यह कार्य प्रेमचन्द जी के कहानी-क्षेत्र में प्रविष्ट होने से ही हुआ। प्रसादजी ने भी 'इन्दु' के प्रकाशन से सम्पूर्ण साहित्य को एक नवीन स्वर, और शैली प्रदान किये। कहानी के क्षेत्र में भी वे नूतन कला को लेकर ही आये, पर प्रसाद और प्रेमचन्दजी की कहानी-कला तृतीय उत्थान की वस्तु हैं। उनका विवेचन यथास्थान ही किया जायेगा। द्वितीय उत्थान के अन्तिम चरण में इनका इस क्षेत्र में पदार्पण केवल भावी सुन्दर आशाओं का परिचायक मात्र सिद्ध हुआ है।

निबन्ध

भारतेन्दु-युग के निबन्धों में जो स्वच्छन्दता, आत्मीयता और मार्मिकता थी, द्विवेदी-युग में उनका धीरे-धीरे अभाव होता गया। इनका स्थान बौद्धिकता और नैतिक उपदेशों ने ले लिया।

निबन्धों में व्यक्तित्व की प्रधानता होनी चाहिए, पर इस काल का निबन्ध लेखक गम्भीर चिन्तक बनता जा रहा था, इसलिए उसकी रचनायें व्यक्तिनिष्ठ न होकर विषय-प्रधान हो गई। द्विवेदी जी के शब्दों में ये 'बातों का संग्रह' अधिक हो गई। भारतेन्दु काल में निबन्धों का विषय-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। राजनीति, समाज धर्म आदि सभी प्रकार के विषयों पर निबन्ध लिखे गये। उनका क्षेत्र व्यापक जनसमुदाय था, पर द्विवेदी-युग के निबन्धों का क्षेत्र इस दृष्टि से संकुचित हो गया। कुछ ऐसे ही गम्भीर विषयों पर अधिक निबन्ध लिखे गये जिनका सम्बन्ध केवल शिक्षित समाज से ही था। इस काल की निबन्ध-रचना के द्वारा निबन्ध की परिभाषा में आत्मीयता, स्वच्छन्दता और विशृंखलता के साथ ही तर्क, विश्लेषण और संश्लिष्टता के तत्व भी आगये। उसका झुकाव प्रबन्धों की ओर अधिक होने लगा। निर्बन्ध निबन्ध एवं प्रबन्ध-निबन्ध के इन दोनों रूपों की पृथक प्रतिष्ठा हो गई। इस काल में तथा इससे आगे ऐसे निबन्ध लिखे गये जिनमें प्रबन्ध और निर्बन्ध निबन्ध दोनों की बिशेषताओं तथा व्यक्ति और विषय का सुन्दर मिश्रण हुआ।

इस युग के प्रारंभ में दो अनुवाद ग्रन्थ प्रकाशित हुए। द्विवेदी जी ने 'बेकन-विचारावली' के नाम से बेकन के निबन्धों का तथा गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने 'निबन्धमालादर्श' के नाम से मराठी के प्रसिद्ध निबन्धकार चिपलूणकर के निबन्धों का अनुवाद किया। ये दोनो ग्रन्थ निबन्धों का नवीन आदर्श उपस्थित करने के लिए अनुदित हुए थे। विचारों की गम्भीरता के साथ व्यक्तिनिष्ठता का सुन्दर संयोग ही यह आदर्श था। पर इस आदर्श पर इस काल में अधिक निबन्ध रचना नहीं हो सकी। हाँ परवर्ती काल के निबन्धों में इस विशेषता के अवश्य दर्शन होने लगे। इस युग के कुछ निबन्धकार ऐसे हैं, जिनकी निबन्ध-शैली का विकास तो बाद में हुआ,

पर उन्होंने निबन्ध-रचना इसी काल में प्रारंभ करदी थी। पं० रामचन्द्र शुक्ल ऐसे ही निबन्धकार हैं। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से इस युग के अधिकांश निबन्धों में चिन्तन की गम्भीरता मिलती है। उनका शिक्षा-सम्बन्धी महत्त्व है। उनमें पाण्डित्य है पर निबन्ध की स्वच्छन्दता नहीं। द्विवेदीजी, बाबू श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु, गुलाबरायजी आदि इसी कोटि के निबन्धकार हैं। पर इनकी शैली में आत्मीयता अवश्य है। द्विवेदीजी की कतिपय रचनाओं में भावात्मकता और स्वच्छन्द मनोदशा के भी दर्शन होते हैं। गुलाबराय जी के 'फिर निराश क्यों' वाली रचनायें निबन्ध के अधिक निकट हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा ने आकर्षक शैली में निबन्ध लिखे। इनके अतिरिक्त इस युग में तीन और उच्च कोटि के निबन्धकार हुए, जिनकी रचनाओं में उत्कृष्ट साहित्यिक निबन्धों की आत्मा के दर्शन होते हैं। इन्होंने लिखा बहुत कम, पर जो कुछ लिखा उससे हिन्दी की निबन्ध-कला का नवीन विकास हुआ। ये हैं पं० माधव प्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्ण सिंह। इनके निबन्धों की शैली पर आगे विचार किया जायेगा। इस युग का निबन्ध-साहित्य जिस आदर्श को अपनाने के लिए विकल प्रतीत होता था, उसके दर्शन इन्हीं निबन्धकारों में हुए। भारतेन्दु युग के निर्बन्ध निबन्धों की परम्परा का विकास करते हुए इन लेखकों ने प्रौढ़ चिन्तन, मन की स्वच्छन्दता, आत्मीयता और भावात्मकता का बहुत ही सुन्दर मिश्रण कर दिया। उनमें सांस्कृतिक और ऐतिहासिक चेतना के साथ ही आधुनिक जीवन की व्यंजना भी मिलती है। इन निबन्धों में भारतेन्दु-युग के समान चिन्तन का हल्कापन नहीं है। इनमें व्यंग, चिन्तन की गम्भीरता एवं प्रौढ़ता स्वच्छन्दता तथा अनुभूति की मार्मिकता आदि प्रौढ़ निबन्ध के सभी तत्त्व वर्त्तमान हैं। इन्हीं के कारण यह कहना पड़ता है कि इस युग में निबन्ध-कला का भारतेन्दु

युग से आगे विकास हुआ। उसके लक्षण में नवीन तत्त्वों का समावेश हुआ।

आलोचना

संस्कृत-साहित्य में कवि की विशद आलोचना की परम्परा नहीं थी। सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय आचार्य फुटकल कविताओं के गुणदोषों का विवेचन किया करते थे, उनमें अलङ्कार, रस आदि का निर्देश भी कर देते थे। उन ग्रन्थों में उत्तम, मध्यम और अधम काव्य का निवर्चन भी होता था। काव्यों की टीकाओं तथा सूक्तियों के रूप में आलोचना करने का भी प्रचलन था। संस्कृत की आलोचना तन्त्रवादी (Techanical) और निर्णयात्मक कोटि में ही आती है। पर कभी-कभी कवियों का नैतिकता और जीवन-सम्बन्धी उपादेयता के आधार पर भी मूल्यांकन होता था। संस्कृत-साहित्य में सैद्धान्तिक समीक्षा का अधिक विकास हुआ, व्यावहारिक आलोचना का काम सैद्धान्तिक-समीक्षा के क्षेत्र में भारतीय आचार्यों की उद्भावनायें बहुत गम्भीर एवं सार्वदेशिक हैं। आज भी पश्चिम का आचार्य उन स्थायी काव्य-तत्त्वों पर कुछ महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत नहीं कर सका है। संस्कृत की यह समीक्षा-पद्धति हिन्दी में रीतिकाल तक इसी रूप में चलती रही। उस काल के गुणों के उपजीव्य संस्कृत के ग्रन्थ ही रहे। इसका रीतिकाल के प्रसंग में विशद विवेचन हो चुका है।

रचनात्मक साहित्य और समीक्षा का समानान्तर ही विकास होता है। वे एक दूसरे को प्रभावित और नियंत्रित करते हैं। रचनात्मक साहित्य काव्य को मान-दण्ड देता है और काव्य को धारणायें साहित्य-निर्माण का नियन्त्रण करती है। भक्तिकाल में कलात्मक गुणों का इतना महत्त्व नही था, काव्य-शास्त्र के नियमों का पालन इतना आवश्यक नहीं था। निर्गुण-सन्तों का काव्य शास्त्र के नियमों से मुक्त था। उस काल में भक्ति का प्राधान्य था, इसलिये

शृङ्गार, वात्सल्य, दास्य आदि सभी का अन्तर्भाव भक्ति में हुआ और भक्ति-रस प्रधान बन गया। इस लिए उस काल की समीक्षा में कलात्मकगुणों का विवेचन प्रायः नगण्य ही रहा। उस समय भक्ति, दर्शन और आध्यात्मिकता आदि की दृष्टि से ही विचार होता था। रामायण आदि की प्राचीन व्याख्याओं में भक्ति, दर्शन और धर्म का अधिक विवेचन हुआ है, साहित्य का बहुत कम। पर रीतिकाल 'कला कला के लिए' का युग था। इस काल में काव्य-शास्त्र का पुनरुत्थान हुआ। उस काल की काव्य-रचना का यह भी एक मूल आधार हो गया। विभावादि की नियमबद्ध योजना, भावों का शास्त्रीय निरूपण, रचना-कौशल आदि ही इस काल के साहित्य की प्रमुख विशेषतायें हैं। रीतिकाल में ये ही समीक्षा के प्रमुख विषय भी थे। उस काल में रस और अलंकार-दो ही दृष्टियों से साहित्य पर विचार होता था। ये दो ही प्रधान समीक्षा शैलियाँ थी।

आधुनिक काल के साहित्य में नवीन दृष्टिकोण अपनाया गया। उसमें बौद्धिकता का प्राधान्य हो गया। साहित्य की व्याख्या में रसात्मकता की अपेक्षा जीवन की व्याख्या का अधिक महत्व हो गया। इसी के अनुरूप समीक्षा का स्वरूप भी बदला। उपन्यास, कहानी आदि नवीन विधाओं के साथ ही समीक्षा का नवीन मान और शैली भी बने। इस प्रकार आधुनिक समीक्षा नितान्त नवीन मार्ग को अपनाकर चली। भारतेन्दु-युग में जो समीक्षा हुई उसमें किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं था। समीक्षक की रुचि का ही प्राधान्य था। कुछ सिद्धान्तों की उद्भावना करने की आकांक्षा अवश्य जाग्रत हो गयी थी।

द्विवेदीजी ने इस क्षेत्र में व्यवस्था स्थापित करदी। इस युग के आरंभ में ही साहित्य का एक निश्चित उद्देश्य मान लिया गया। उसी को समस्त समीक्षा का आधार बना लिया गया। द्विवेदीजी इसी दृष्टिकोण से हिन्दी के लेखकों को निर्माण की प्रेरणा प्रदान करते

थे। संक्षेप में इसी को नैतिकता और सुरुचि के नाम से पुकार सकते हैं। द्विवेदीजी का जो मानदण्ड था उसका कोई पुष्ट एवं सुसंबद्ध शास्त्रीय आधार नहीं था, इसलिए उसमें देश और काल का भी कोई विचार संभव नहीं था। कालिदास, सूर, भारतेन्दु आदि को एक ही मान से आँका गया। वे काव्य अथवा कवि की अन्तरंग विशेषताओं का निरूपण ये नहीं कर पाये। उस समय केवल बाहरी प्रभावों के आधार पर ही उनका मूल्यांकन होता था। द्विवेदीजी वस्तुतः प्राचीन कवियों के काव्यों से परिचित कराके हिन्दी के लेखकों और कवियों में सुरुचि का निर्माण करना चाहते थे। इस प्रकार वे समीक्षा के लिये कोई निश्चित प्रतिमान देने की अपेक्षा सत्-साहित्य को प्रेरणा ही अधिक प्रदान करना चाहते थे। "हिन्दी कालिदास की आलोचना", विक्रमांकदेव-चरित-चर्चा आदि पुस्तकों तथा फुटकर साहित्यिक निबन्धों द्वारा उन्होंने सुरुचि की ही प्रेरणा प्रदान की है।

मिश्रबन्धुओं ने अलंकार, गुण रस, भाव आदि के स्थूल एवं जड़ स्वरूप पर अधिष्ठित परम्परागत प्रतिमान को अपनाया। इसी आधार पर उन्होंने निर्णयात्मक और श्रेणी-विभाजन वाली आलोचना पद्धति का सूत्रपात किया। उन्होंने श्रेष्ठता के अनुक्रम में हिन्दी के कवियों में नवरत्न की कल्पना की। इस श्रेष्ठता का कोई पुष्ट सैद्धान्तिक आधार नहीं था। उसमें वैयक्तिक रुचि का ही प्राधान्य था। यही कारण है कि कवियों की श्रेणी के सम्बन्ध में उनका निर्णय कई बार बदला। मिश्र-बन्धुओं ने कवियों की जीवनी, तत्कालीन परिस्थितियों तथा उनकी काव्यगत विशेषताओं पर विचार करके समीक्षा-क्षेत्र में पाश्चात्य शैली का प्रवेश अवश्य करा दिया था। इनके प्रयासों से समीक्षा-पद्धति का कुछ विकास भी हुआ। समीक्षा-क्षेत्र की संभावनायें भी प्रकट हुईं। मिश्रबन्धु-विनोद और हिन्दी-नवरत्न

जैसी विशाल कृतियों द्वारा उन्होंने साहित्य के इतिहास के लिए प्रचुर सामग्री एकत्र करदी। उन्होंने तुलनात्मक आलोचना-पद्धति का सूत्रपात किया। इसी पद्धति को अपनाकर कृष्णबिहारी मिश्र, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन आदि ने देव और बिहारी पर आलोचनायें की। शुक्लजी के पूर्व तक हिन्दी-साहित्य में तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का ही बोलबाला रहा। इससे कवियों के वर्ण्य-विषय, भाव, शैली, भाषा आदि पर अपेक्षाकृत कुछ प्रौढ़ विवेचन प्रारंभ हो गया। कुछ शिथिल प्रतिमानों आधार पर विश्लेषण भी हुआ। पर वैयक्तिक रुचि का अधिक प्राबल्य रहा। कुल मिलाकर इस युग की समीक्षा परम्परागत और रूढ़िग्रस्त ही रही।

समीक्षक के लिए जिस सहृदयता और रसिकता की अपेक्षा रहती है, उसके यथार्थ दर्शन पं० पद्मसिंह शर्मा में होते हैं। उन्हें काव्य के रचना-सौन्दर्य, और अभिव्यंजना-कौशल की वास्तविक पहिचान थी। वे इस दृष्टि से काव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। उनका अध्ययन भी बहुत विस्तृत था। इसलिए उनकी तुलनात्मक समीक्षा में वैयक्तिक रुचि के साथ पुष्ट शास्त्रीय आधार का मिश्रण भी मिलता है। इन्होंने रस और अलंकार के अतिरिक्त ध्वनि तथा वक्रोक्ति को भी समीक्षा का आधार बनाया है।

पं० महाबीर प्रसाद द्विवेदी—

भारतेन्दुजी के बाद आधुनिक हिन्दी-साहित्य में द्विवेदीजी का ही व्यक्तित्व युगान्तरकारी है। भारतेन्दुजी की तरह इनमें सृजनात्मक और समीक्षात्मक दोनों प्रकार की प्रतिभा नहीं थी। इनका कार्य समीक्षा के द्वारा साहित्य-निर्माण को प्रेरणा देना ही रहा। इन्होंने सन् १९०३ में सरस्वती का सम्पादन प्रारंभ किया था, तबसे वे आजन्म इसी पत्रिका द्वारा हिन्दी-साहित्य की सेवा करते रहे।

उन्होंने इस पत्र द्वारा साहित्य और भाषा का निर्माण किया। ये हिन्दी के लेखकों और कवियों को रचना की प्रेरणा प्रदान करते रहते थे। यहाँ तक कि उन्हें काव्य का वर्ण्य विषय भी देते थे और उनकी भाषा का परिमार्जन करके अपनी पत्रिका में छापते थे। उन्होंने अपनी इस पत्रिका द्वारा युग को एक नूतन चेतना प्रदान की, जो इस युग के सम्पूर्ण साहित्य की प्रमुख आधार-भित्ति थी।

द्विवेदीजी विलासिता की प्रेरणा देने वाले केवल नायिका-भेद पर आधारित शब्द-चमत्कारमय काव्य को युगानुकूल नहीं मानते थे। इ सरूढ़िग्रस्त और परम्परागत काव्य-पद्धति का वे विरोध करते थे। उन्होंने युगानुकूल नवीन विषय, नवीन विचार-धारा, नई भाषा और नूतन शैली को अपनाने की प्रेरणा दी। द्विवेदीजी ने काव्य की छायावादी धारा का स्वागत किया। काव्य का जीवन के साथ अभिन्न सम्बन्ध तथा उसकी नैतिक उपादेयता का सिद्धान्त उन्हें मान्य था। उन्होंने तत्कालीन सम्पूर्ण साहित्य को सुरुचि और नैतिकता का स्वर प्रदान कर दिया। साहित्य में मूल्यवादी दृष्टिकोण का प्राधान्य तथा भारतीय संस्कृति के आदर्शों की प्रतिष्ठा हो गई। यह सब द्विवेदीजी की प्रेरणा का ही परिणाम था। द्विवेदीजी के समीक्षक रूप में उनका निर्मायक रूप अन्तर्हित है। उनकी समीक्षा की यही प्रमुख विशेषता है।

द्विवेदीजी ने खड़ी बोली को काव्य की भाषा स्वीकार करके युगान्तरकारी एवं प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय दिया है। साहित्य के सर्वाङ्गीण विकास के लिए गद्य, पद्य एवं सामान्य व्यवहार की भाषा का एक होना नितान्त आवश्यक है। भाषा सम्बन्धी इसी नीति से हिन्दी-साहित्य की सर्वतोमुखी प्रगति संभव हो सकी है। भाषा के क्षेत्र में द्विवेदीजी का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य उसको व्याकरण की दृष्टि से व्यवस्थित करके उसके एक

साहित्यिक स्वरूप की प्रतिष्ठा कर देना है। इसके अभाव में भी साहित्य का विकास अवरुद्ध ही रहता। द्विवेदीजी ने ऐसी शैली की भी उद्भावना की जिसमें भावी विकास की क्षमता थी।

द्विवेदीजी की कारयित्री प्रतिभा का प्रदर्शन और विकास निबन्ध के क्षेत्र में ही हुआ। उन्होंने विचारात्मक कोटि के निबन्ध लिखे। इनके निबन्धों में शास्त्रीय प्रामाणिकता के तो दर्शन होते हैं, पर उनमें अपेक्षित प्रौढ़ता और गम्भीरता का अभाव है। वे गम्भीर विषयों पर भी हल्के और परिचयात्मक ढंग से ही लिखते हैं। गम्भीर एवं तर्कपूर्ण चिन्तन की कसौटी पर इनकी विचार-धारा कहीं कहीं खरी नहीं उतर पाती है। यही कारण है कि शुक्लजी इनके निबन्धों को 'बातों के संग्रह' की कोटि में ही रखना चाहते हैं। फिर भी गम्भीर विषयों पर तर्कपूर्ण और प्रामाणिक विवेचन का सूत्रपात करके इन्होंने निबन्धों को नवीन दिशा की ओर प्रेरित अवश्य किया है। इनकी प्रतिपादन-शैली में आत्मीयता अवश्य है। कहीं कहीं विनोद, व्यंग और भावात्मकता का पुट भी है। कुछ स्थलों पर अनुभूतिजन्य मार्मिकता के भी दर्शन हो जाते हैं, पर इनकी रचनायें स्वच्छन्द एवं निर्बन्ध निबन्धों की अपेक्षा प्रबन्ध की श्रेणी में ही अधिक आ पाती हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से द्विवेदीजी की रचनायें सरल और सुबोध है। उनमें व्यावहारिक एवं विषयानुकूल भाषा का प्रयोग है। द्विवेदीजी भाषा की प्रेषणीयता को ही महत्व देते हैं, इसलिए वे कहीं कहीं अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों का प्रयोग करने में भी हिचकते नहीं हैं।

पं० माधव प्रसाद मिश्र—

ये पंजाब के हिसार जिले के गौड़ ब्राह्मण थे। संस्कृत के अच्छे पंडित थे। भारतीय संस्कृति तथा सनातन धर्म के प्रति इनके हृदय में अगाध श्रद्धा थी। भारत के सांस्कृतिक अधःपतन

की सच्ची अनुभूति तथा तद्जनित व्यथा इनकी रचनात्मक शक्ति को जाग्रत करने की प्रमुख प्रेरणायें थीं। इनके प्रायः सभी लेखों के प्रमुख विषय प्राचीन संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा तथा आज की दशा से जनित व्यथा ही हैं। इसीलिए इनकी प्रतिभा का विकास भावात्मक निबन्ध रचना में ही हुआ। मिश्रजी ने धारा-शैली में लिखा है। एक बार बाँध टूट जाने पर इनके निबन्धों में भावों की एक स्वच्छ एवं निर्मल धारा अविरल गति से आगे बढ़ती ही जाती है और पाठक भी अपने को भूला हुआ इसी भाव-धारा में बहता हुआ चला जाता है। मिश्रजी ने ऋतुओं, पर्वों, त्योहारों आदि पर छोटे छोटे भावात्मक निबन्ध लिखकर भारतेन्दुजी की इस परम्परा को जीवित रखा। पर यह परम्परा इनसे आगे नहीं बढ़ सकी। मिश्रजी में निर्बन्ध निबन्ध लिखने की सच्ची प्रतिभा थी। उनके निबन्धों में भावात्मकता के पुट में प्रौढ़ सांस्कृतिक चेतना के स्पष्ट दर्शन होते हैं। स्वच्छन्दता और आत्मीयता भी इनके निबन्धों की प्रमुख विशेषतायें है। भाषा विषयानुकूल है। उसमें संस्कृत-पदावली की कोमलता और माधुर्य है।

भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान इनके जीवन का मिशन सा हो गया था, इसीलिए सर्वत्र उसी आकांक्षा की अभिव्यक्ति होती थी। उन्होंने अपने समकालीन कवि श्रीधर पाठक आदि की कविता की समीक्षा भी इसी दृष्टि से की थी। वे पाठकजी की कविताओं में चित्रित देश-छटा, आनंद, उल्लास का स्वागत नहीं कर सके। उसमें इन्हें देश के जनसमुदाय की सच्ची व्यथा की उपेक्षा प्रतीत होती थी। मिश्रजी वस्तुतः यथार्थ से विमुख होकर सांस्कृतिक आदर्श के काल्पनिक महल बनाने वाले नहीं थे। वे सांस्कृतिक पुनरुत्थान द्वारा देश की दुरवस्था दूर करने के समर्थक थे। इसीलिए उनकी रचनाओं में एक तरफ जहाँ प्राचीन

गौरव का गर्व है तो दूसरी तरफ आज की अवस्था के लिए मूक व्यथा भी है। उनके द्वारा लिखित विशुद्धानन्द आदि के जीवन चरितों के मूल में भी यही भावना है।

बा० बालमुकुन्द गुप्त—

ये पंजाब के रोहतक जिले के थे। ये बड़े ही कुशल सम्पादक थे। बहुत दिनों तक ये 'बंगवासी' के सम्पादक रहे और फिर 'भारतमित्र' में आ गये। इसके पहिले वे दो उर्दू पत्रों का सम्पादन भी कर चुके थे। गुप्तजी बहुत ही विनोद-प्रिय व्यक्ति थे। इनकी निबन्ध-रचना कला और शैली की दृष्टि से भारतेन्दु युग की है। इन्होंने सामयिक परिस्थितियों पर बहुत ही सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। ये वर्णनात्मक शैली में ही अधिक लिखते थे। इसीमें उनके विनोदशील एवं सच्चे निबन्धकार व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हो सकी है। यह उनके स्वभाव के अनुकूल शैली थी। इसी वर्णनात्मक-शैली में लिखा हुआ 'शिवशंभु का चिट्ठा' बहुत ही सुन्दर और प्रौढ़ निबन्ध है। वर्णनात्मक आवरण में विचार और भाव को लपेटकर रख देने में इनका कौशल अपूर्व है। स्थान स्थान पर अपने विचारों और भावों की स्पष्ट व्यंजना भी करते चलते हैं। इस प्रकार वर्णनात्मक-शैली में विचारात्मक और भावात्मकता का भी सुन्दर मिश्रण हो गया है। इनकी भाषा बहुत ही सजीव और चलती हुई है जो ऐसे निबन्धों के लिए अत्यन्त आवश्यक और अपरिहार्य हैं तथा भारतेन्दु युग के लेखकों की अपेक्षा प्रौढ़ और शुद्ध भी है।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—

आप जयपुर के रहने वाले थे। पहले अजमेर के मेयो कालेज में अध्यापन का कार्य करते थे। बाद में काशी के ओरियंटल कालेज के प्रिन्सिपल हो गये। गुलेरीजी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। इन्होंने जयपुर से 'समालोचक' नामक पत्र

निकाला था, जिसमें तत्कालीन साहित्य की गति-विधि का सुन्दर लेखा जोखा रहता था। इस पत्र ने द्विवेदी-युग की समीक्षा-पद्धति के निर्माण एवं विकास में पर्याप्त सहयोग प्रदान किया। इस पत्र द्वारा सम्यक् समीक्षा का प्रतिमान प्रस्तुत करने का प्रयास निरन्तर होता रहा।

संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित होने के कारण इनके निबन्धों में सुन्दर प्रसंग-गर्भत्व मिलता है। उनका हास्य और व्यंग पाण्डित्यपूर्ण होता था। जिसे शास्त्र के विभिन्न विषयों और कथा-प्रसंगों का विस्तृत ज्ञान है, वही इनके विनोदपूर्ण व्यंगों का रसास्वाद कर सकता है। इनकी शैली में गाम्भीर्य और हास का बहुत ही सुन्दर मिश्रण है जो अत्यन्त दुर्लभ हैं। गुलेरीजी ने बहुत कम लिखा है, पर उसीसे इनकी प्रसिद्धि हो गई। इन्होंने भारतेन्दु-युग के व्यंग को बहुत अधिक परमार्जित कर दिया। इनकी विचार-धारा अपने युग की दृष्टि से सबसे अधिक प्रगतिशील थी। इनकी रचनाओं में प्रौढ़ एवं गम्भीर साहित्यिक चेतना मिलती है। भारतीय संस्कृति के विद्वान् और प्रेमी होते हुये भी इनका दृष्टिकोण प्रगतिशील था। इसीलिए वे हिन्दुओं की रूढ़िवादिता का जोरदार शब्दों में खण्डन करते थे। इन्होंने अपने 'कछुआ धर्म' नामक लेख में हिन्दुओं की भीरुता पर बहुत ही मार्मिक व्यंग किया है।

गुलेरीजी कहानी के क्षेत्र में अपनी एक दो रचनाओं के आधार पर ही इतने प्रख्यात हो गये। उनकी 'उसने कहा था' नामक कहानी हिन्दी की अत्यन्त उत्कृष्ठ कहानियों में से एक है। इस कहानी में लेखक ने प्रेम का स्वर्गीय एवं मर्यादापूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें न कहीं निर्ल्लजता है और न वेदना की कराहट। प्रेम का इतना सुसंस्कृत और सुरुचिपूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हुए भी गुलेरी यथार्थवादिता से दूर नहीं गये हैं।

उनमें भावुकता और जीवन के यथार्थ स्वरूप को पहिचानने की क्षमता का अभाव नहीं है। यही कारण है कि इतनी मर्यादा में भी कहानी की भावसंवेदना अत्यधिक हृदयस्पर्शी रह सकी है। लेखक ने कहानी में ऐसी सुन्दर रचना-प्रक्रिया (Technique) को अपनाया है कि घटना स्वतः ही बोलती प्रतीत होती है। अन्त का स्वप्न सम्पूर्ण कहानी के प्राण हैं और इसी से सारी कहानी पर पुनः एक कलात्मक आलोक छा जाता है।

अध्यापक पूर्णसिंह—

सरदारजी ने बहुत कम ही लिखा है। उन्होंने केवल दो-चार निबन्ध ही लिखे हैं। पर इतनी कम रचना से ही उन्होंने हिन्दी के निबन्ध-क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। इनके निबन्धों में चिन्तन की गम्भीरता और भावात्मकता का अद्भुत मिश्रण है। इन्होंने विचारों का बुद्धि-ग्राह्य ही नहीं अपितु अनुभूतिमय चित्र भी प्रस्तुत किया है। भावों का मूर्त्तिमान रूप खड़ा करने में सरदारजी बहुत ही सफल हुए हैं। इनमें मानवतावादी दृष्टिकोण का ग्रहण हुआ है। सरदारजी जीवन के सरल सात्विक और आध्यात्मिक स्वरूप को महत्व देते हैं। वे अपने वर्ण्य-विषय का हृदय से अनुभव करते हैं, तथा पाठकों को भी उसका हृदय से साक्षात्कार करा देते हैं। उनकी भाषा में सरलता के साथ ही सुन्दर लाक्षणिकता के भी दर्शन होते हैं।

---

*

आधुनिक गद्य साहित्य का विकास

तृतीय उत्थान

जिन साहित्यिक प्रवृत्तियों का बीज-वपन भारतेन्दु-युग में हुआ था, उन्हीं के आधार पर द्विवेदी-युग ने भावी विकास के लिए एक भूमिका तैयार कर दी थी। ऊपर यह विवेचन हो चुका है कि साहित्य की कौनसी प्रवृत्तियाँ द्विवेदी-युग में विकसित हुई तथा उन्होंने कैसा रूप धारण किया। हम यह भी देख चुके हैं कि कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी भी थीं जिनकी रूप ग्रहण करने की अस्पष्ट आकांक्षा मात्र के दर्शन उस युग में होते हैं। तृतीय उत्थान काल में उन प्रवृत्तियों का विकास भी हुआ तथा कुछ नई प्रवृत्तियाँ भी आईं। द्विवेदी-युग में कोई बहुत मौलिक प्रतिभायें नहीं उत्पन्न हुईं। प्रसाद, पन्त, प्रेमचन्द, शुक्ल आदि प्रतिभाओं का कार्यारम्भ तो द्विवेदी-युग के अन्तिमचरण में हो चुका था, पर इनका विकास तृतीय उत्थान-काल में ही हुआ, इसलिए इनको इसी काल का मानना पड़ता है। इनमें से कुछ ऐसे हैं जिन्होंने द्विवेदी-युग की स्पष्ट साहित्यिक चेतनाओं का विकास किया तथा उन्हें कलात्मक प्रौढ़ता प्रदान की। द्विवेदी-युग के साहित्य में सुधारवादी नैतिक दृष्टिकोण का प्राधान्य था। अधिकांश लेखक उच्च आदर्शों की बात किया करते थे। पर उच्च आदर्श की केवल बात करने वाला व्यक्ति महाकवि नहीं बन पाता है। तृतीय उत्थान के प्रारंभ में कुछ ऐसे कलाकार भी थे जिनमें कला और द्विवेदी-युग के आदर्श—दोनों का सुन्दर समन्वय था। ऐसे कलाकारों में से प्रेमचन्द जी भी एक हैं। लेकिन प्रसाद और पन्त नई धारा के जन्मदाता हैं। इसलिए ये विशुद्धरूप में तृतीय उत्थान काल के ही माने जाते हैं।

इस उत्थान-काल का प्रारंभ प्रथम महायुद्ध के बाद से माना जाना चाहिए। इस विश्व-युद्ध ने साम्राज्यवाद की जड़ें हिलादी थीं। उसका महल जर्जर तो हो गया था, पर गिर नहीं सका। उसे जिस किसी तरह खड़े रखने के प्रयत्न जारी रहे पर उसका गिरना निश्चित था। उसके लिए एक धक्के की और आवश्यकता थी। और यह धक्का दूसरे विश्वयुद्ध के रूप में मिला। इन दोनों युद्धों के बीच में इस साम्राज्यवाद को नष्ट करने के लिए शक्तियाँ प्रबल और संकलित हुई। राष्ट्रवादिता का जोर हुआ। देश में स्वतन्त्रता संग्राम धीरे-धीरे बढ़ता ही गया। इसलिए जिस राष्ट्रभावना का भारतेन्दुजी के साहित्य में प्रवेश हुआ, जिसको गुप्तजी आदि की रचनाओं में स्थान प्राप्त हुआ, उसी का विकास तीसरे उत्थान काल में रामधारीसिंह 'दिनकर' सुभद्राकुमारी चौहान आदि में हुआ। इस प्रकार आधुनिक साहित्य की यह प्रमुख प्रवृत्ति तृतीय उत्थान के साहित्यकों में भी विद्यमान रही। महायुद्ध ने प्राचीन रूढ़िवादिता को छिन्न-भिन्न कर दिया। पुराने आदर्शों के प्रति आस्था धीरे-धीरे कम होने लगी। जीवन के नये आदर्शों की खोज प्रारंभ हो गई। प्राचीन आदर्शों को नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर अपनाने की आकांक्षा प्रबलतर होने लगी। इन नवीन आदर्शों के लिए भारत पाश्चात्य देशों की ओर उन्मुख हुआ। उन देशों की भौतिक उन्नति का अलोक इसकी आँखों में चकाचौंध पैदा कर रहा था। इसलिए भारत तथा उसके साथ ही हिन्दी-साहित्य ने पश्चिम से विभिन्नवादों को ग्रेहण करते समय विवेक पूर्वक कार्य नहीं किया। जो कुछ मिला उसी को ग्रहण करने का प्रयत्न हुआ। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य का तृतीय उत्थान इन विभिन्न वादों का चिड़ियाघर सा हो गया है। कुछ तो ऐसे वाद इस काल के साहित्य में आये जो अपनी मूल जन्मभूमि में भी समाप्त हो गये थे। यह काल तेजी से पाश्चात्य प्रभाव

ग्रहण करता गया है और इसका साहित्य विभिन्न वादों में बँट गया है।

महायुद्ध के भयानक परिणामों से एक पूँजीवादी मनोवृत्ति को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त होना भी है। देश में अत्यधिक बेकारी फैल गई। राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ विशेष सफल होता नहीं प्रतीत होता था। समस्याओं का पुराने रूढ़िवादी आदर्शों से कोई समाधान नहीं हो पा रहा था। नये आदर्श कुछ स्पष्ट नहीं थे। इसलिए साहित्यकार कुछ अन्तर्मुखी होता गया। उसका आकुल हृदय वर्ण्य-विषय शैली और विचार के क्षेत्र में कुछ नवीन प्रयोग करने के लिए आकुल हो उठा। साहित्य में व्यक्ति और अहमवाद का प्राधान्य हो गया। इस प्रकार व्यक्तिवादी साहित्य की प्रचुरता भी इस काल की एक प्रधान विशेषता हो गई है।

द्विवेदी-काल में व्यक्ति की प्रधानता तो थी, पर उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि की उपेक्षा भी नहीं की जाती थी। साहित्य में नैतिक आदर्शों का चित्रण व्यक्ति को ध्यान में रख कर ही होता था। उसका विकास भी व्यक्ति में ही दिखाया जाता था। पर वे आदर्श समाजिकता लिए हुए थे। इस प्रकार द्विवेदी-युग के साहित्य में व्यक्ति और समाज का विचित्र मिश्रण था। तृतीय उत्थान में इनका पृथक्करण हुआ। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अलग से विकसित हुआ। वह मनोविश्लेषण-शास्त्र का सहारा लेता हुआ प्रतीकवाद की ओर उन्मुख हुआ। इस प्रकार इस काल के साहित्य की एक स्वतन्त्र व्यक्तिवादी धारा ही बन गई। इधर सामाजिकतावादी धारा प्रेमचन्द जी में प्रमुख रही। उनके साहित्य में शोषण का चित्रण हुआ, दलित के प्रति सहानुभूति दिखाई गई। एक सुधारवादी दृष्टिकोण भी प्रेमचन्द जी ने अपनाया। इस सुधार का आधार सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक है, पर इसके भी

प्रभाव का लक्ष्य व्यक्ति है, समाज नहीं। प्रेमचन्द जी की इस प्रवृत्ति का आगे चल कर मार्क्सवादी साहित्य में नवीन विकास हुआ। उसके प्रभाव का लक्ष्य भी व्यक्ति नहीं समाज हो हो गया। पहले समाज व्यक्ति की पृष्ठभूमि का कार्य करता था अब व्यक्ति समाज का प्रतीक मात्र हो गया। जनवादी साहित्य की प्रवृत्तियाँ प्रेमचन्दजी में स्पष्ट हैं। प्रसाद जी की कहानियाँ और उपन्यासों में भी दलितों के प्रति सहानुभूति है। उनके दलित पात्रों में उच्च मानवता झाँक रही है। उनके साहित्य की सामाजिकता का केन्द्र भी व्यक्ति ही है। पर उन्होंने समस्याओं के समाधान के लिये जिस दृष्टिकोण को अपनाया है, वह आध्यात्मिकता पर अधिष्ठित मानवतावादी कहा जा सकता है। यह तीसरी प्रवृत्ति है। इस प्रकार तृतीय उत्थान के पूर्वार्द्ध में समाज और व्यक्ति का मिश्रण था, जो एक ओर व्यक्ति और अहम्वाद की ओर अग्रसर हुआ तथा दूसरी ओर समाजवादी यथार्थवाद की ओर। इसके उत्तरार्द्ध में इन दोनों प्रवृत्तियों के पृथक्-पृथक् भी स्पष्ट दर्शन होते हैं। और एक ऐसी प्रवृत्ति भी विकसित होती है जो इन दोनों का समन्वय भी करती है।

शुक्ल जी ने इस काल को आज के पाठक के इतना सन्निकट बताया है कि उसके लिए इस पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करना एक प्रकार से असम्भव सा है। इतनी सन्निकटता के कारण आज का पाठक ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने के लिये अपेक्षित तटस्थता ग्रहण करने में असमर्थ है उसमें किसी न किसी वाद का आग्रह है। यह स्थिति शुक्ल जी के समय में भी थी तथा आज तो यह आग्रह और भी बढ़ गया है। पर इतना होते हुये भी इस उत्थान का पूर्वार्द्ध तो इससे इतना दूर हो गया है कि हम उन पर इतिहास की दृष्टि से विचार कर सकते हैं। उनमें से बहुत सी प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे अतीत की वस्तु होती जा रही

हैं। उनमें विभाजन और विकास का सूत्र ढूँढा जा सकता है।

इस सम्पूर्ण काल को प्रायः तीन दशकों में विभाजित कर सकते हैं। इनमें कुछ क्षीण विकास-सूत्र प्रतीत भी होता है। समय की दृष्टि से कम और प्रवृत्तियों की दृष्टि से अधिक प्रथम दशक में स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण की ओर साहित्य अग्रेसर हुआ। उसमें यथार्थवाद की प्रतिष्ठा हुई। नये आदर्शों को अपनाने के लिए इस काल का कलाकार आकुल था। उसमें व्यक्तित्व की प्रधानता होती गई। प्राचीनता का पल्ला छोड़ने के बाद वह नवीन आदर्शों को खोजने लगा। यह छायावादी युग था। प्रथम दो दशकों के साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को छायावाद के नाम से अभिहित किया जा सकता है। दूसरे दशक में मनोविश्लेषण-शास्त्र का प्रभाव पड़ने लगा था। इसलिए वहाँ से साहित्य की दूसरी प्रवृत्ति भी प्रमुख होने लगती है। नूतन समाज-व्यवस्था की रूपरेखा अत्यन्त स्पष्ट न होने के कारण उनके सम्मुख कुहा सा था। एक घोर नैराश्य सा छाया हुआ था। ऐसी अवस्था में लेखक अन्तर्मुखी हो गया। उसने मनोविशलेषण-शास्त्र का सहारा लिया। बाहरी अव्यवस्थाओं का कारण अवचेतन मस्तिष्क में खोजने लगा। हिन्दी के कुछ लेखक नितान्त अहम्वादी हो गये। उन पर फ्रायड, एडलर, जुंग आदि का प्रभाव पड़ा। उस काल का साहित्य जीवन की यथार्थता की अपेक्षा मनोविश्लेषण शास्त्र के सिद्धान्तों से अधिक प्रेरणा लेने लगा। मानो लेखक उन सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए ही लिख रहा है। उसने जीवन की कुरीतियों का नग्न चित्रण किया और वह नियतिवाद (Naturalism) की ओर उन्मुख हुआ। स्वच्छन्दतावादियों का एक दल ऐसा भी था जो नितान्त व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से संतुष्ट नहीं रह सका और लोकचेतना की ओर अग्रसर हुआ। प्रसाद, पन्त आदि के परवर्ती साहित्य में इसी लोकचेतना का

प्राधान्य है। भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता पर अधिष्ठित स्वस्थ लोकचेतना के साहित्य की धारा अहम्वादी एवं मार्क्सवादी प्रवृत्तियों के कारण अवरुद्ध सी हो गई है।

यह हिन्दी साहित्य की आधुनिकतम अवस्था है। मार्क्सवादी लोकचेतना को अपनाकर साहित्य आगे बढ़ता है या आध्यात्मिकता पर अधिष्ठित लोकचेतना को यह भविष्य के गर्भ में है? हाँ, एक बार तो परिस्थितियों ने साहित्य को मार्क्सवाद की ओर मोड़ दिया है।

सन् १६३७ में प्रगतिशील लेखकसंघ की बैठक हुई और तब से हिन्दी-साहित्य ने नई मोड़ ली। साहित्य में व्यक्ति का स्थान समाज ने ग्रहण किया। उसमें सामूहिक समस्याओं का चित्रण होने लगा। देश की धार्मिक, साजाजिक और आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन के नारे लगने आरंभ हुए। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का उच्छेद तथा वर्गहीन समाजवाद की स्थापना ही एक दल के साहित्य का प्रधान लक्ष्य हो गया। आधुनिक सम्पूर्ण साहित्य ने इस विचार-धारा को नहीं अपना लिया है। लोकचेतना तो आधुनिकतम साहित्य का प्रमुख स्वर है, पर पन्त आदि का साहित्य आज भी मार्क्सवादी नहीं हो पाया है। उसका आधार आध्यात्मिकता है और मार्क्सवादी साहित्य का आधार भौतिकता। मार्क्सवादी साहित्य ने यथार्थवाद को नया स्वरूप प्रदान किया। वह घटनाओं के अन्तस्तल में विराजमान उस विचार-धारा का भी उद्घाटन करना चाहता है जो उन घटनाओं को परिचालित कर रही है और जीवन को भावी विकास के लिए गति प्रदान कर रही है। इसी को वे समाजवादी यथार्थवाद कहते हैं। इस प्रकार उन्होंने यथार्थवादी दृष्टिकोण में नूतन विकास किया है। उनकी सारी साहित्यिक मान्यताएँ रूस की देन है। यहाँ के साहित्य पर वे उन्हीं बनी बनाई धारणाओं को ऊपर से आरोपित ही अधिक करते है। वे

हिन्दी-साहित्य एवं आधुनिक भारतीय जीवन के स्वाभाविक विकास में प्राप्त सहज सत्य नहीं प्रतीत होते हैं। इस उत्थान के प्रारम्भ में स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण का प्राधान्य प्रारम्भ हुआ। यहां विचार-धारा अपनी स्वाभाविक गति से विकसित होकर आध्यात्मिक लोकचेतना की ओर उन्मुख हुई तथा दो भिन्न प्रकार की पाश्चात्य विचार-धाराओं से प्रभावित होकर व्यक्तिवादी अथवा अहम्वादी तथा मार्क्सवादी प्रवृत्तियों में पर्यवसित हो गई। इस प्रकार इस सम्पूर्ण उत्थान काल के साहित्य (गद्य और पद्य) में चार प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। १. छायावादी २. व्यक्तिवादी अथवा अहम्वादी (फ्रायड आदि से प्रभावित) ३. मार्क्सवादी ४. आध्यात्मिक लोकचेतनावादी। इन प्रवृत्तियों का कुछ सामान्य परिचय तो ऊपर दिया गया है। इनका विशद विवेचन पद्य-साहित्य के प्रसंग में किया जायेगा।

शुक्लजी ने तृतीय उत्थान काल के साहित्य की भाषा-सम्बन्धी अव्यवस्था का संकेत किया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आज हिन्दी का साहित्यिक और टकसाली रूप फिर थोड़ा सा शिथिल हो चला है। द्विवेदीजी की तरह उस पर कठोर नियन्त्रण रखने वाला व्यक्ति नहीं रह गया है। द्विवेदीजी के समय में केवल कुछ शब्दों के शुद्ध रूपों की तथा व्याकरण सम्बन्धी कुछ समस्यायें थी। पर आज तो भाषा के समक्ष नितान्त नवीन निर्माण की समस्या है। स्वच्छन्दतावादी कवि की आकुल अनुभूति की द्विवेदीकालीन तथ्य-निरूपण करने वाली (Matter of fact) भाषा में अभिव्यक्ति नहीं हो पाती थी। इसलिए भाषा के बन्धन टूटे। वह स्वच्छन्द हुई। उसमें नवीन अनुभूतियों के साथ नूतन शब्दावली की अपेक्षा हुई। नये शब्द गढ़े गये और पुराने शब्दों में नवीन अर्थों का आरोप हुआ। इस प्रकार भाषा की व्यवस्था टूट गई। आज अंग्रेजी तथा अन्य साहित्यों से ली

हुई नूतन विचार-धाराओं को व्यक्त करने के लिए हिन्दी के पास शब्द कोष नहीं है। अंग्रेजी में सोचकर हिन्दी में लिखने की प्रवृत्ति की वृद्धि के कारण उसका वाक्यविन्यास भी शिथिल होता जा रहा है। पर नई विचार-धारा और अनुभूति की अभिव्यक्ति के उपयुक्त सामर्थ्य का विकास भी हो रहा है। ऐसे समर्थ रूप के को अपनाने के लिए आकुलता अत्यन्त स्पष्ट है। अब भारतेन्दु और द्विवेदी जैसे व्यक्तियों की फिर आवश्यकता है जो हिन्दी को ऐसा समर्थ रूप प्रदान कर सकें और उसको फिर से टकसाली और व्यवस्थित रूप दे सकें।

उपन्यास

इस उत्थान काल में उपन्यास-साहित्य ने खूब विकास किया। पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप जो बाद हिन्दी में आये, उनकी साहित्यिक अभिव्यक्ति का सबसे महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली साधन उपन्यास ही रहा। आज के अनेक-मुखी जीवन का यथार्थ अभिव्यक्ति उपन्यास में ही संभव भी थी। इस काल में अनेक प्रकार के उपन्यास लिखे गये, सामाजिक, ऐतिहासिक, व्यक्तित्व-प्रधान, मार्क्सवादी आदि। यह तो विषय और विचारधारा की दृष्टि से उपन्यासों का विभाजन हुआ। शैली की दृष्टि से भी इस काल में अनेक प्रकार की रचनायें प्रस्तुत हुईं। यह उपन्यास के बहुमुखी विकास का काल है।

द्वितीय उत्थान काल का उपन्यास-साहित्य एक प्रकार से मनोरंजन को प्रधान उद्देश्य मान कर चलता रहा। उसमें नीति का उपदेश भी रहता था, कहीं-कहीं स्पष्ट और कहीं जरा व्यंजित। कुछ पात्र केवल सद्वृत्ति के तथा कुछ असद्वृत्ति के प्रतीक मात्र कल्पित किये जाते थे। उस समय चरित्र-चित्रण की यह अयथार्थ और अस्वाभाविक शैली थी। पर प्रेमचन्द जी के इस क्षेत्र में प्रवेश से यह स्थिति एकदम बदल गई। उन्होंने शील-वैचित्र्य को अप-

नाया। प्रत्येक पात्र का एक अलग चेतन व्यक्ति के रूप में ग्रहण हुआ। प्रेमचन्द जी के उपन्यास मनोरंजन के साधन तो हैं हीं इसके साथ ही वे जीवन के यथार्थ चित्रण को प्रस्तुत करने के कारण जीवन की व्याख्या भी करते हैं। प्रेमचन्द जी की प्रायः सभीं रचनायें सामाजिक उपन्यासों की कोटि में आ सकती हैं। उपन्यास को सामाजिक जीवन का सत्य प्रकट करने का माध्यम बनाने का श्रेय प्रेमचन्द जी को ही है। इनकी गोदान के पहले तक की रचनायें इसी कोटि की हैं, और उनका अनुकरण भी खूब हुआ। सुदर्शन एवं चतुरसेनशास्त्री आदि इसी प्रद्धति को अपना कर चले हैं। 'गोदान' प्रेमचन्दजी की अन्तिम रचना है। उसमें जीवन का विस्तार है। उसमें यथार्थ जीवन का अत्यन्त सरल चित्र है। 'गोदान' का जीवन केवल सामाजिक परिधि में सीमित नहीं है, उसमें जीवन के आर्थिक और राजनीतिक पहलू भी हैं। 'गोदान' में जीवन का जितना विस्तार एवं तटस्थ चित्रण हुआ है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए यह कहना भी एक प्रकार से असमीचीन नहीं है कि गोदान की उपन्यास-कला का अनुकरण नहीं हो पाया है।

प्रेमचन्दजी आदर्शोन्मुख यथार्थवादी थे। पर धीरे-धीरे उपन्यास यथार्थवाद की ओर अग्रसर हुआ। 'गोदान' में स्वयं प्रेमचन्दजी भी यथार्थवाद की ओर उन्मुख हैं। प्रसादजी भी 'कंकाल' में यथार्थवादी ही हैं। उग्रजी तो यथार्थवाद के नाम पर श्लील की सीमाओं का अतिक्रमण ही कर गये हैं। इसीलिए उनके साहित्य को घासलेटी कहा जाता है। उपन्यासों का यह यथार्थवादी दृष्टिकोण बाद में दो भिन्न धाराओं में बँट गया। एक को मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविश्लेषणात्मक यथार्थवाद तथा दूसरे को समाजवादी यथार्थवाद के नाम से अभिहित कर सकते हैं।

जैनेन्द्रजी प्रेमचन्दजी से कुछ भिन्न परम्परा के उपन्यासकार हैं। उन्होंने गाँव का चित्र नहीं दिया। उनका वर्ण्य-विषय शहर

की गलियों और कोठरियों का जीवन है। वे व्यक्ति के आभ्यन्तर का चित्रण अधिक करते हैं। वे उसकी मानसिक गुत्थियों को सुलझाने की चेष्टा करते हैं। उनकी रचनायें व्यक्ति पर ही केन्द्रित हैं, उनमें कामवासना-जनित विचित्र गुत्थियों का चित्रण है। ऐसी ही व्यक्ति-परक रचनायें ब्रजनन्दनसहाय और अवधनारायण की भी हैं। इस प्रकार जैनेन्द्रजी के उपन्यासों की एक अलग शैली ही बन गई है। भावुकता इस शैली की एक प्रमुख विशेषता है। इन्हीं व्यक्ति-परक उपन्यासों की एक और धारा मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रभाव से विकसित हुई। उस पर फ्रायड, एडलर आदि वैज्ञानिकों तथा लारेंस, जैम्स ज्वाटयस, आदि कथाकारों का प्रभाव था। इस श्रेणी के प्रधान उपन्यासकार अज्ञेय, इलाचन्द्रजोशी, द्वारिकाप्रसाद जोशी आदि हैं। अज्ञेयजी की 'शेखर', 'एक जीवनी','नदी के द्वीप' जोशीजी की 'प्रेत और छाया' और द्वारिकाप्रसाद की 'घेरे के बाहर' प्रमुख रचनायें हैं। साम्यवादी विचार-धारा से प्रभावित प्रमुख उपन्यासकार यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव आदि हैं। इनकी रचनाओं में समाजवादी यथार्थवाद को प्रश्रय मिला है। ये समाज की कुत्साओं का चित्रण करते हैं तथा उनका कारण वर्गवाद और पूँजीवाद मानते हैं। इन वादों के विरुद्ध प्रचार तथा समाजवाद की स्थापना की प्रेरणा ही इनके साहित्य का प्रमुख उद्देश्य है। अपनी मान्यताओं के पूर्वाग्रह में अन्य सम्प्रदायवादियों की तरह ये भी दूसरे मतमतान्तरों के सत्य का स्वागत नहीं कर पाते हैं।

हिन्दी में सामाजिक उपन्यास ही अधिक लिखे गये। ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा का प्रारंभ कुछ बाद में हुआ। द्वितीय उत्थान तथा तृतीय-उत्थान के प्रारंभ में बंगला, मराठी आदि के ऐतिहासिक उपन्यासों के अनुवाद हुए। हिन्दी में केवल कुछ ही ऐतिहासिक उपन्यासकार हुए हैं, इनमें वृन्दावनलाल वर्मा, राहुल-

सांकृत्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रांगेय राघव, चतुरसेन शास्त्री और भगवतशरण उपाध्याय प्रमुख हैं। इस दृष्टि से बृन्दावनलाल के उपन्यास ही सबसे अच्छे कहे जा सकते हैं। 'गढ़ कुण्ढार','विराटा की पद्मिनी', 'कचनार', 'मृगनयनी' आदि इनकी सफल कृतियाँ हैं। अपने समीप की भूमि की कथा होने के कारण इनके उपन्यास में सचाई और सजीवता है। इनके उपन्यास ऐतिहासिक रोमांस कहे जा सकते हैं। द्विवेदी जी में वाग्वैदग्ध्य है। राहुल, रांगेय राघव आदि इतिहास की अपने सिद्धान्तों के अनुसार व्याख्या कर लेते हैं। इसलिए उनमें उपाध्याय की सी ऐतिहासिक प्रमाणिकता नहीं मिलती।

इस काल में उपन्यास की अनेक शैलियों का विकास तो हुआ। पर धीरे-धीरे उसके वर्ण्य-विषय का क्षेत्र सीमित होता गया। प्रेमचन्दजी की तरह सम्पूर्ण किसान वर्ग, मजदूर वर्ग आदि पर लिखने वाले धीरे-धीरे कम होते गये। अधिकांश लेखक कॉलेज क्लब, होस्टल, होटल आदि में सीमित हो गये। देश का वास्तविक जीवन वस्तुतः ओझल सा होता गया। प्रगतिशील विचार-धारा ने साहित्य को पुनः उधर आकर्षित किया है।

कहानी

उपन्यासों की तरह कहानी भी इस काल में बहुत अधिक लिखी गई। प्रेमचन्द से हिन्दी-कहानी का नवीन युग प्रारंभ होता है। उनकी पारम्भिक रचनायें द्वितीय उत्थानकाल की ही हैं। उनमें प्राचीन कहानियों की कथासूत्रता का तत्व अत्यन्त स्पष्ट और प्रमुख है। पर जीवन की व्याख्या करने के लिये कहानी की नवीन प्रक्रिया और शैली को अपनाने की आकांक्षा भी प्रबल है। यही कारण है कि प्रेमचन्दजी के कथाकार रूप का विकास हुआ है। उन्होंने अनेक प्रकार की कहानियाँ लिखीं, जिनको घटना-प्रधान,

चरित्र-प्रधान, संवेदना-प्रधान आदि अनेक भेदों में बाँट सकते हैं। उनकी रचना-पद्धति बराबर निखरती भी गई है। पर कथात्मकता उनकी कहानियों की प्रधान विशेषता है, जो शुरू से अन्त तक की कहानियों में पाई जाती है। इस तत्व के स्वरूप का भी विकास हुआ है। वे अपनी कहानियों में चरित्र-चित्रण भी करते हैं, मानव संवेदनाओं की मार्मिकता का भी सर्जन करते हैं, कहीं-कहीं मनोविश्लेषण का उपयोग भी करते हैं, पर जीवन की व्याख्या सम्बन्धी अपने मन्तव्य को घटनाओं के माध्यम से ही व्यक्त करते हैं। प्रेमचन्दजी का विषय-क्षेत्र बहुत ही विस्तीर्ण है। वे केवल प्रेम की ही बातें नहीं करते हैं। उन्होंने गाँव, नगर, किसान, मजदूर, मध्यमवर्ग सभी को अपनी कहानी का विषय बनाया है। इन कहानियों में यथार्थ और आदर्श का मिश्रण है। कौशिक, चतुरसेन शास्त्री आदि भी इसी पद्धति के अनुकरण करने वाले कथाकार हैं।

प्रसादजी समसामयिक होते हुए भी प्रेमचन्दजी से भिन्न कोटि के कहानी लेखक हैं। उच्च कोटि की भावुकता, दार्शनिकता के संयोग से जनित गम्भीर तथा मानव-संवेदनाओं के स्पर्श से अत्यन्त मार्मिकता एवं मसृणता तथा प्रौढ़ चिन्तन प्रसादजी की कहानियों की प्रमुख विशेषतायें हैं। प्रसादजी की कहानियाँ पाठक के समक्ष मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों प्रकार के चित्रों को अत्यन्त सजीव करके प्रस्तुत करने में बहुत सफल हुई हैं। प्रसादजी धीरे-धीरे मनोविश्लेषणात्मक पद्धति की ओर भी उन्मुख हुए हैं और उनकी ऐसी रचनाओं में भावुकता अपेक्षाकृत कुछ कम हो गई है। प्रसादजी उत्कृष्ट आदर्शवादी हैं। उन्होंने जीवन के जिस स्तर को कहानी में उतारने की चेष्टा की है, पात्रों के चरित्र के जिस उच्च पक्ष का साक्षात्कार वे पाठक को कराना चाहते हैं, उस सबको आलोचक आदर्शवादी, आध्यात्मिक, स्वर्गीय आदि नामों से पुकारता है। उनके इस चित्रण को कोई चाहे किसी नाम से

पुकारे, उसमें मानवीय संवेदना का अभाव नहीं है। वे असाधारण होते हुए भी असंभव कल्पनायें नहीं हैं। उनमें भी यथार्थता का प्राण स्पन्दन है। प्रसादजी का यथार्थ लोक-जीवन के सामान्य भौतिक स्तर से कहीं ऊंचा है। उनका दृष्टिकोण मानवतावादी ही है, पर भौतिकता की उपेक्षा न करते हुए भी उसका आध्यात्मिकता से दृढ़ गठबन्धन है। कहानी में भावुकता और चित्रात्मकता के इतने उच्च आदर्श का निर्वाह हिन्दी के अन्य लेखक नहीं कर पाये हैं। विनोदशंकर व्यास आदि दो एक लेखक इस शैली का अनुकरण अवश्य करते हैं, पर प्रसादजी की प्रतिभा के जगमगाहट के समक्ष वे फीके प्रतीत होते हैं।

जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा और भगवतीप्रसाद बाजपेयी भिन्न प्रकार के कहानीकार हैं। इनकी कहानियों में अन्तर्मुखी वृत्ति की प्रधानता है। ये कहानियों में मनोविश्लेषण का भी प्रयोग करते हैं। जैनेन्द्रजी ने प्रायः पारिवारिक जीवन की ही कहानियाँ लिखी हैं। कहीं-कहीं उनमें सामाज पर व्यंग भी मिलता है। वर्माजी की कहानियों में व्यंग और हास्य के अन्तस्तल में करुणा झलकती है। जैनेन्द्रजी की प्रारंभिक रचनाओं में गहरी संवेदना है, पर धीरे-धीरे वे दार्शनिक होते गये हैं और बहुत कुछ दुर्बोध हो भी गये हैं।

जैसे साहित्य की अन्य विधाओं पर मनोविश्लेषण-शास्त्र का प्रभाव पड़ा और वे मानसिक कुत्साओं और रोगों के वर्णन के माध्यम बन गईं, वैसे ही कहानी पर भी मनोविश्लेषण शास्त्र का गहरा प्रभाव पड़ा, वह भी फ्रायड आदि के सिद्धान्तों का विवेचन करने लगी। इन मनोविश्लेषणात्मक लेखकों को सब प्रकार की कुरीतियों के कारणों को व्यक्ति के अवचेतन मस्तिष्क तथा उसकी कतिपय कुण्ठाओं में ढूंढ़ निकालने का आग्रह है। श्री अज्ञेयजी की कहानियाँ इसी कोटि की हैं। 'विपथगा' की कहानियों में उन्होंने स्वाभाविक मनोविश्लेषण की शैली का उपयोग किया है। इनकी

शैली धीरे-धीरे निखरी है, उसमें नई शक्ति आई है। अज्ञेयजी ने नूतन प्रतीक शैली का उपयोग किया है। प्रारम्भिक रचनाओं में यौवन का उन्माद भी है, पर धीरे-धीरे उसमें गम्भीरता का विकास भी हुआ है। इलाचन्द्रजी की कहानियाँ भी इसी कोटि की हैं। वे मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का जितना सफल प्रयोग उपन्यासों में कर सके उतना कहानियों में नहीं। अश्क और पहाड़ी की प्रारंभिक कहानियाँ इसी कोटि की हैं पर बाद में इनकी शैली में विकास हुआ है। आरसीप्रसादसिंह, धर्मवीर भारती, शम्भूनाथसिंह, श्रीराम शर्मा आदि की कहानियों में भी एक पुष्ट शैली के दर्शन होते हैं। ये सभी कहानीकार इसी कोटि के कहे जा सकते हैं। इनमें से अधिकांश लेखकों की रचनायें राजनीतिक और सामाजिक प्रभावों से बहुत कुछ दूर ही रही। पर इन्होंने प्रेमचन्दजी के द्वारा अपनाई गई कहानी-कला का आगे विकास किया। इसे उन्होंने नवीन प्रयोगों से बहुत कुछ परिमार्जित किया।

आधुनिक युग के अन्तिम दशक के पूर्व ही भारत में भी समाजवादी विचारधारा का जोर हो गया था। विश्व की व्यापक क्रन्ति से भारत भी बच नहीं सकता था। इस विचार-धारा ने साहित्य का जन जीवन से पुनः सम्बन्ध स्थापित कर दिया। मनोविश्लेषण शास्त्री एक प्रकार से जीवन के प्रति अवसादमय दृष्टिकोण को अपनाते थे, इस लिए उन्होंने कुछ हद तक पलायनवादिता को भी प्रश्रय दिया। हिन्दी के कहानी-साहित्य में प्रेमचन्द जी जीवन के कलाकार थे। आदर्श की प्रेरणा देते हुए भी उनका साहित्य यथार्थ की उपेक्षा नहीं कर रहा था। हिन्दी में यथार्थवादी दृष्टिकोण क्रमशः वैज्ञानिक एवं समाजवादी यथार्थवाद में विकसित हुआ है। कहानी-साहित्य के विकास का भी यही क्रम है। आज के आधुनिकतम कहानी-साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद की प्रधानता

ही है। समाज के छोटे-छोटे स्तरों और वर्गों का निराकरण, रूढ़िवादी दृष्टिकोण का खण्डन तथा नवीन वैज्ञानिक अर्थात् मार्क्सवादी दृष्टिकोण पर वर्गशून्य समाज की स्थापना ही उस साहित्य की प्रमुख प्रेरणायें हैं।

इस विचार-धारा से प्रभावित कहानीकारों की दो पीढ़ियाँ हिन्दी-साहित्य में आचुकी हैं। इनमें सबसे प्रमुख यशपाल है, जो कई दृष्टियों से प्रेमचन्द जी के समकक्ष कहानीकार कहे जा सकते हैं। उन्होंने अपने अनेक कहानी-संग्रहों में समाज की अनेक समस्याओं और उसके अनेक पक्षों पर आधुनिक साम्यवादी दृष्टिकोण से विचार किया है। समाज की पुरानी नैतिकता पर इन्होंने कठोर आघात किये हैं। इनकी 'गंडेरी' "आदमी का बच्चा" 'हलाल की रोटी,' भस्मावृत चिनगारियाँ,' 'डिप्टी सहाब,' आदि बड़ी सुन्दर और उत्कृष्ट रचनायें हैं। इन्होंने प्रायः मध्यम-वर्ग अथवा शहरी मजदूरों को ही अपनी कहानियों के लिए चुना है। इनकी कहानियों में निम्नस्तर के लोगों के प्रति करुणा तथा कुछ उच्चस्तर के शोषकों के प्रति आक्रोश है। यशपाल जी में शोषित व्यक्ति को प्रेरणा देने की क्षमता है। उनकी कहानियों में वातावरण का चित्रण अच्छा हुआ है और उनका अन्त भी कालात्मक एवं ध्वनिमय है। इनकी कहानियों में रोटी और वासना का मिश्रण है, जो मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्तों की प्रतिध्वनि है। ये दोनों विरोधी सिद्धान्त हैं। पर प्रारंभ में तथाकथित प्रगतिशील लेखकों ने इन दोनों का एक साथ उपयोग किया था। सम्भवतः हिन्दी भक्तों को इनके विरोध का ज्ञान नहीं था। प्रगतिवादी जीवन से साहित्य को प्रेरणा नहीं पा रहा है, वह तो पुस्तकों से ग्रहण कर रहा है। इसी स्कूल के अश्क अमृतराय, अमृतलाल, रांगेय राघव, चन्द्रकिरण, सौनिरिक्सा, भगवतशरण आदि हैं। इनमें से अश्क, राधाकृष्ण

आदि बहुत कुशल कलाकार हैं और इनके द्वारा कहानी-कला के विकास की भी अच्छी संभावनायें हैं।

इस तृतीय उत्थान में हिन्दी के कहानी-साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ है। उसमें अनेक शैलियों में कहानियाँ लिखी गई हैं। स्थूल रूप से वर्णनात्मक, पत्रात्मक, डायरी के रूप आदि अथवा घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, भाव-संवेदना-प्रधान आदि नाम दिये गये हैं। पाश्चत्य देन होते हुये भी हिन्दी में कहानी ने अपने स्वतन्त्र स्वरूप की प्रतिष्ठा कर ली है। पश्चिम में कहानी में चरित्र-विकास के लिए स्थान नहीं माना जाता; पर हिन्दी में इस बन्धन को स्वीकार नहीं किया गया है। एक संवेदना वाला नियम भी कुछ विस्तृत होकर एक मार्मिक परिस्थिति के सिद्धान्त में जिसमें कई संवेदनाओं का आकलन रहता है, परिवर्तित हो गया है। कहानी जन जीवन के एक खण्ड का तटस्थ चित्रमात्र हो जाती है, उस समय चरित्र विकास अथवा अनेक संवेदनाओं को आकलित करने वाली परिस्थिति के चित्रण की उसमें गुञ्जाइश नहीं रहती है। हिन्दी-कहानी-कला का इस रूप में अभी पूरा विकास नहीं हो पाया है। आज सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य की प्रधान मनोवृत्ति आदर्श का प्रचार है। यही कहानी-साहित्य के लिए भी कहा जा सकता है।

नाटक

नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु के बाद प्रसाद जी ही युगान्तकारी प्रतिभा हैं। भारतेन्दुजी ने नाटकों में पाश्चात्य पद्धति को अपनाना प्रारंभ कर दिया था, पर उस काल के नाटकों की शैली भारतीय ही थी। दोनों पद्धतियों के मिश्रण से हिन्दी में जिस नवीन नाट्य-पद्धति का जन्म हुआ है, उसका वास्तविक श्रेय प्रसाद जी को ही है। उन्होंने पाश्चात्य तत्त्वों को अपनाते हुए भी भारतीय पद्धति के उपयोगी तत्त्वों को भी अक्षुण्ण रखा है। रस और

शील-वैचित्र्य का मिश्रण उनके नाटकों की प्रधान विशेषता है। उनके पहले के नाटकों में पात्रों को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्राप्त नहीं हो सका था। प्रसाद जी ने इसका सूत्रपात कर दिया, पर फिर उनके नाटकों में रस-तत्त्व की भी उपेक्षा नहीं है। उनके नाटकों में अङ्क, दृश्य आदि के सम्बन्ध में पाश्चात्य पद्धति का ही अनुसरण हुआ है, पर वे भारतीय पद्धति से बहुत दूर भी नहीं गये हैं। उन्होंने कार्य-व्यापार की दृष्टि से दोनों पद्धतियों की अवस्थाओं का मिश्रण कर दिया है। उसमें प्रयत्न और संघर्ष दोनों तत्त्वों का सामांजस्य है। कार्यावस्थाओं में चरमावस्था और निगति पाश्चात्य है, पर उसके बाद की नियताप्ति और फलागम भारतीय हैं। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में इसी क्रम का अनुसरण किया है। इस लिए उनके नाटकों में कार्यावस्था की संख्या भी पाँच से अधिक हो गई है। इस प्रकार प्रसाद जी ने एक नूतन नाट्य-पद्धति को जन्म दिया है।

हिन्दी के नाट्य-साहित्य के विकास का तृतीय-उत्थान प्रसादजी से ही शुरू होता है। उन्होंने जिस नाट्य-पद्धति और कला का सूत्रपात किया, उसी का अनुसरण करके परवर्ती नाटकों का सर्जन होता रहा। उस कला में थोड़ा विकास भी हुआ। पर इस युग में जितने प्रकार के नाटक लिखे गये, उनसभी का श्रीगणेश प्रसादजीने कर दिया था। ऐतिहासिक, पौराणिक, एकांकी, गीति, समस्या आदि सभी प्रकार के नाटक प्रसादजी ने लिखे हैं। प्रसादजी की अधिकांश रचनायें ऐतिहासिक हैं। अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त इसी कोटि के हैं। जनमेजय का नागयज्ञ पौराणिक है। 'ध्रुवस्वामिनी' में समस्या नाटक का संकेत माना जा सकता है। 'एक घूँट' हिन्दी का प्रथम एकांकी नाटक है तथा 'करुणालय' प्रथम गीति-नाट्य है। 'कामना' अन्यापेदेशिक (Allegory) है। प्रसादजी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में

भारतीय संस्कृति का चित्रण वर्तमान की समस्याओं के संकेत तथा भविष्य के निर्माण की दृष्टि से किया है। इसीलिए उनके नाटकों में इतिहास और कपल्ना का सुन्दर मिश्रण है। घटना और पात्र दोनों में ही कल्पना का संयोग है।

हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, गोविन्द बल्लभ पन्त आदि ऐतिहासिक नाटककार हैं। सभी ने मध्यकाल के इतिहास पर नाटक लिखे हैं। उनके संवाद स्वाभाविक है। उनमें प्रसाद की सी दार्शनिकता और भावुकता नहीं है, इसलिए अलंकृत शैली का भी अभाव है। भट्टजी का 'दाहर' या 'सिन्धपतन' और 'विक्रमादित्य,' सेठ गोबिन्ददास का 'हर्ष,' गोविन्दबल्लभ पन्त का 'राजमुकुट' आदि ऐतिहासिक रचनायें हैं। इन्होंने पौराणिक आख्यानों पर भी नाटक लिखे हैं। पन्तजी का 'वरमाला' नामक नाटक इसी कोटि का है। हिन्दी में सामाजिक नाटकों का प्रायः अभाव है। सेठ गोविन्ददास के 'प्रकाश' और भट्टजी के 'कमला' 'अन्तहीन अन्त' और 'पाकिस्तान' सामाजिक नाटक हैं।

इबसन ने नवीन प्रकार के नाटकों का प्रारंभ किया। उनमें बौद्धिकता की प्रधानता हुई। शा ने भी उनका अनुकरण किया। हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्रकी रचनायें समस्या-नाटकों की श्रेणी की है। उन्होंने नारी-समस्या अथवा काम-वासना की समस्या को अपने नाटकों का विषय बनाया है। उनमें परम्परागत रूढ़ियों पर आघात करने के लिए अपेक्षित प्रौढ़ बौद्धिकता का अभाव ही है। फिर भी मिश्रजी ने हिन्दी की नाट्य-कला का विकास किया है। उनके नाटक प्रायः तीन अंक के होते हैं। उनमें समय और स्थान की अन्विति का प्रायः निर्वाह हुआ है। संवाद अत्यन्त छोटे छोटे हैं तथा उनमें स्वाभाविक तीव्रता है। उनके नाटकों में प्रायः गीत नहीं रह गये हैं। स्थान आदि के लम्बे चौड़े वर्णन

की प्रणाली में रंगमंच के लिए विशद संकेत मिलते हैं तथा पठन के समय उसके अभाव की पूर्ति वर्णन कर देते हैं। सन्यासी, मुद्राराक्षस, सिन्दूर की होली आदि उनकी प्रमुख रचनायें हैं।

इधर हिन्दी में एकांकी नाटकों का प्रचार बहुत बढ़ गया है। डाक्टर रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर प्रसाद आदि इस विधा के जन्मदाता हैं। भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारबाँ' पाश्चात्य विचार-धारा और शैली से प्रभावित है। वर्माजी के नाटकों में भारतीय आदर्शों को स्थान मिला है। 'पृथ्वीराज की आँख, 'रेशमी टाई' आदि उनके प्रसिद्ध संग्रह हैं। प्रेमीजी ने अपने एकांकी नाटकों में भी मध्यकालीन इतिहास की ही वस्तु ली है। सेठ गोविन्ददास के नाटक गान्धीवादी विचार-धारा से प्रभावित हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' बहुत ही अच्छे एकांकी नाटक लिखते हैं उनके नाटकों में मध्यमवर्ग के पारिवारिक जीवन का मनोविश्लेषणात्मक चित्र है। इनमें तीक्ष्ण व्यंग करने की क्षमता है। उग्र, जगदीश प्रसाद माथुर आदि भी अच्छे एकांकी नाटक लिखने वाले हैं।

अँग्रेजी की एलोगेरी के अनुकरण पर हिन्दी में भी एक प्रकार के नाटक लिखे गये, जिनको 'अन्यार्थदेशिक' के नाम से कुछ लोग अभिहित करना चाहते हैं। इनमें भावों का मानवीकरण होता है। प्रसाद जी की 'कामना' और पन्तजी की 'ज्योत्स्ना' इसी प्रकार की रचनायें हैं। इनमें 'विनोद' 'संतोष' आदि भावों को मानवीय क्रियाओं द्वारा व्यक्त किया गया है। इसमें विदेशी प्रभाव से भारतीय संस्कृति की रक्षा के प्रयत्न का चित्रण है। ज्योत्स्ना में विचारात्मक विस्तार है, पर यह नाटक की दृष्टि से अधिक सफल रचना नहीं है। गीतिनाट्य इस काल के नाट्य-साहित्य का एक और रूप है। प्रसादजी ने 'करुणालय' में इसका ढाँचा तो तैयार कर दिया था, पर निराला जी की 'पंचवटी प्रसंग' नामक रचना ही इस कोटि

की सर्व प्रथम सफल रचना मानी जा सकती है। उदयशंकर भट्ट के 'विश्वामित्र' 'मतस्यगन्धा' आदि प्रसिद्ध गीतिनाट्य हैं। भगवती-चरण वर्मा का 'तारा' एकांकी गीतिनाट्य है। 'रजत शिखर' पन्त जी के गीति नाट्यों का संग्रह है। इनमें अपेक्षित नाटकीय प्रवाह है। रेडियो ने हिन्दी में कुछ नवीन प्रकार के एकांकी नाटकों को जन्म दिया है। इन्हें ध्वनिरूपक और ध्वनि-नाटक कहते हैं। पहले में सूत्रधार बहुत सा विवरण दे देता है, पर दूसरे में पाठक स्वयं कल्पना से ही अभिनय का आनन्द ले लेता है।

निबन्ध

द्विवेदी युग में विचारात्मक निबन्ध ही अधिक लिखे गये, नैतिकता के बौद्धिक प्रचार का युग ऐसे निबन्धों के लिए उपयुक्त भी था। पर किसी उत्कृष्ट प्रतिभा के अभाव में प्रौढ़ एवं गम्भीर विषयों पर लिखे गये निबन्ध केवल परिचयात्मक कोटि के ही रहे। असाधारण शैली, अथवा गहन विचार-धारा के कारण मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि रूप विचारों को देने वाले निबन्धों का प्रणयन शुक्लजी ने ही शुरू किया। शुक्लजी ने द्विवेदीजी की विचारात्मक शैली को प्रौढ़ता प्रदान की। उनकी शैली में विषय-निरूपण सूक्ष्मता और वैज्ञानिकता के साथ भावात्मकता जनित सरसता का बहुत सुन्दर मिश्रण है। शुक्लजी के निबन्धों में विचारों की शास्त्रीय प्रामाणिकता के अन्तस्तल में उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक है वैसे उनके निबन्ध विषय प्रधान ही माने जा सकते हैं।

शुक्लजी ने आलोचनात्मक और मनोवेग सम्बन्धी निबन्ध लिखे हैं। उनमें कहीं कहीं व्यंग विनोद और भावुकता का भी पुट है। उन्होंने रूढ़िवादी नैतिकता की अपेक्षा भावयोग को अधिक महत्त्व दिया है। उनके विचार करने की शैली इतनी गम्भीर और

गुम्फित है कि पाठक को चिन्तन की प्रेरणा प्रदान करती है तथा ये विचार उसे नवीन उपलब्धि प्रतीत होते हैं। एक ही वाक्य में विचार खूब ठूस कर भरे गये हैं। एक वाक्य में व्यक्त विचारों का स्पन्दन और ध्वनि बहुत दूर तक सुनाई पड़ते हैं। शुक्लजी की शैली और विचारों का अनुकरण करने वाले उनकी सी प्रौढ़ता को नहीं पहुँच सके पर फिर भी आधुनिक काल के कुछ साहित्य-मर्मज्ञ इसी विचारात्मक शैली को अपनाकर अपने विचार व्यक्त करते है। उसमें शैली-सम्बन्धी पारस्परिक अन्तर भी है। पं० नन्ददुलारे बाजपेयी, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० रामबिलास शर्मा आदि इसी कोटि के निबन्ध लेखक हैं। प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी के साहित्यिक निबन्ध भी इसी पद्धति के हैं। उनके निबन्धों में स्वच्छन्दता का स्वर है। शान्तिप्रिय द्विवेदी के विचारात्मक प्रबन्धों में भी निर्बन्ध निबन्धों की स्वच्छन्दता के दर्शन होते हैं।

भारतेन्दु युग में जो निर्बन्ध निबन्धों की परम्परा थी। उसके विकास में द्विवेदी की 'ज्ञान राशि का संचित कोश' और 'नैतिकता' वाला दृष्टिकोण बाधक ही रहा। फिर भी इनकी क्षीण धारा चलती ही रही। इस तृतीय उत्थान काल में अंग्रेजी के व्यक्ति-प्रधान शैली के निबन्धों से प्रभावित होकर कुछ लेखक अपनी गम्भीर शैली को छोड़कर स्वच्छन्दतापूर्ण शैली में अपने विचारों को व्यक्त करने लगे। इन निबन्धों में गम्भीर विचारों की आत्मीय अभिव्यक्ति फैली हुई है। यह एक प्रकार से नवीन शैली थी। ये निबन्ध कथात्मक, नाटकीय और चरित्र-चित्रण विधि का उपयोग करते हैं। इन निबन्धों में लेखक की स्वच्छन्द प्रकृति के दर्शन होते हैं। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सियारामशरण गुप्त और हजारी प्रसाद द्विवेदी के बहुत से निबन्ध इस कोटि के हैं।

सियारामशरण ने साहित्य और समाज की अनेक समस्याओं पर विनोदपूर्ण, सरस एवं मार्मिक ढंग से विचार किया है। 'झूठ सच' में संगृहीत निबन्ध इसी प्रकार के हैं। उनमें निबन्धकार की आत्मीयता अत्यन्त स्पष्ट है। उनकी विचार-धारा का प्रमुख स्वर गाँधीवादी है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के ऐसे निबन्धों का संग्रह 'अशोक के फूल' हैं। इनमें स्वच्छन्द निबन्ध रचना के उपयुक्त प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इनके निबन्धों में सरसता और पाण्डित्य का सुन्दर मिश्रण है। जैनेन्द्रजी के निबन्धों में गम्भीर दार्शनिकता का पुट रहता है। पर जहाँ पर वे अत्यन्त सरल स्वाभाविक मनःस्थति में लिखते हैं, वहाँ पर उनकी रचना निबन्ध की दृष्टि से अत्यन्त उच्च कोटि की हो जाती है। वे गम्भीर विषयों का भी प्रश्नोत्तर और व्यंजना की शैली में प्रतिपादन करते हैं। वे आत्मीयतापूर्ण और सहज वातावरण प्रस्तुत करते हैं। सद्गुरु शरण अवस्थी, भगवतीचरण वर्मा, भदन्त आनन्द कौशल्यायन आदि भी निबन्ध की नवीन पद्धति को अपना रहे हैं। बाबू गुलाबरायजी के 'मेरी असफलतायें' नामक संग्रह के निबन्ध भी बहुत सुन्दर हैं। उनमें व्यंग और विनोद का सुन्दर उपयोग है। सुश्री महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखा में, में भी संस्मरणात्मक निबन्ध ही है। साहित्य में इनका अपना अलग महत्व है। इनमें समाज की उपेक्षित और शोषित मानवता के प्रति लेखिका की सहानुभूति तथा अत्याचारी समाज के विरुद्ध विद्रोह की भावना की बहुत मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। कौशिक तथा शिवपूजन सहाय के निबन्ध व्यंग की कोटि में आते हैं। ये भारतेन्दु काल की व्यंगप्रधान शैली के निबन्धों के विकास हैं। इनमें समाज को हासोन्मुखी रूढ़ियों पर वक्रोक्ति और कटूक्तियों द्वारा कठोर प्रहार किये गये हैं। कहीं कहीं व्यंगात्मक शैली का उपयोग न होने पर भी ये निबन्ध प्रकृति से व्यंग-प्रधान ही है।

इस उत्थान में भावात्मक निबन्धों का भी विकास हुआ। भावात्मक गद्य-प्रबन्धों के नवीन रूप का विकास तो नूतन विद्या के रूप में ही प्रतिष्ठित हो गया है। इसको गद्य-काव्य के नाम से अभिहित किया जाता है। इसकी प्रेरणा भी बंगला-साहित्य से ही प्राप्त हुई है। श्री चतुरसेन शास्त्री के 'अन्तस्तल' में प्रेम तथा अन्य भावों की अभिव्यक्ति है। इसमें धारा और तरंग दोनों शैलियों का मिश्रण है। 'गीताञ्जलि' के अनुकरण पर रायकृष्णदास चातक ने भी 'साधना', 'प्रबाल' और 'छायापथ' नामक संग्रह प्रकाशित किये। इनमें आध्यात्मिक और रहस्यमयी अनुभूति की भावमयी अभिव्यक्ति हुई है। इनमें अनन्त एवं परोक्ष सत्ता के प्रति प्रेम की विभिन्न दशाओं की अभिव्यंजना है। वियोगी हरि का 'अन्तर्नाद' और 'भावना' भी इस कोटि के दो ग्रन्थ है। माखन लाल चतुर्वेदी का 'साहित्य देवता' भावात्मक निबन्धों का संग्रह है। इसमें साहित्य-सम्बन्धी विचारों के अनुभूतिमय विभिन्न चित्र हैं। राजकुमार श्री रघुवीरसिंहजी की 'शेष स्मृतियों' का हिन्दी के भावात्मक निबन्धों में एक विशेष स्थान है। इसमें मुगल सम्राटों के वैभव के भव्य एवं जगमगाते दृश्यों तथा उनके पतन के विषाद तथा नैराश्य के अनेक हृदयस्पर्शी और मार्मिक चित्र हैं।

'अन्तस्तल', 'साधना' आदि को निबन्ध से भिन्न गद्य-काव्य मानना ही अधिक समीचीन है। निबन्ध चाहे जिस शैली में लिखा जावे, उसकी अन्तरात्मा विचार ही होती है। भाव आदि के आवरण में भी लेखक विचार ही देना चाहता है। पर गद्य-काव्य की आत्मा कविता की तरह रस और भाव है। उसमें विचारों का सूक्ष्म आधार मात्र रहता है। गद्य में लिखा हुआ गीति-काव्य ही गद्य-काव्य कहा जाता है। कभी-कभी इसी को गद्य-गीत के नाम से भी अभिहित किया जाता है। यह कविता की तरह पूर्णतः

आलंकारिक भाषा में भी लिखा जा सकता है। इसमें अन्योक्ति, समासोक्ति, रूपक आदि का प्रयोग बहुलता से होता है। इसके और गीति-काव्य के तत्त्व प्रायः समान हैं। छान्द्र के बन्धनों से मुक्त होकर गद्य-काव्य गीति-काव्यों की अपेक्षा दार्शनिक गम्भीरता के लिए अधिक सशक्त साधन हैं। नवीन परिस्थितियों में गद्य-काव्य के कुछ ऐसे स्वरूपों का विकास हो रहा है। इससे गद्य-गीति गद्य-काव्य का समानार्थी न रहकर, उसका एक भेद मात्र हो गया है।

समालोचना

तृतीय उत्थान का प्रारम्भ शुक्लजी की प्रौढ़ समीक्षाओं से ही माना जाना चाहिये। भारतेन्दु काल से अब तक साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में जो शैलियाँ प्रचलित थीं, उनका आंकलन करके शुक्लजी ने उनको व्यवस्थित और शास्त्रीय रूप प्रदान कर दिया। उन्होंने एक नवीन आदर्श की स्थापना की जिसकी आधार भूमि लोक-मंगल, मर्यादा और भावात्मक नैतिकता है। शुक्लजी ने कविता को भावयोग कहा है तथा उसे भक्तियोग और ज्ञानयोग के समकक्ष माना है। उनकी दृष्टि से कविता मानव का रागात्मक प्रसार करके उसके शील का विकास करती है। शुक्लजी के सैद्धान्तिक आदर्श भारतीय हैं, पर उन्होंने उनको नवीन आलोक में देखा है। पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र और मनोविज्ञान की पद्धति से वे उनका विश्लेषण करते हैं तथा उनकी नई व्याख्या करते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से शुक्लजी ने समीक्षा के व्यापक तत्त्वों की उद्भावना की है, पर वे अपनी समीक्षाओं में इतने व्यापक दृष्टिकोण को अपना नहीं सके। अपने सब सिद्धान्तों का व्यावहारिक उपयोग नहीं कर सके। शुक्लजी ने कवियों के गुण-दोष निर्देश वाली पद्धति से ऊपर उठकर उनकी अन्तः प्रवृत्ति का सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया। उनकी चरित्र-चित्रण, वर्ण्य-विषय,

रस, भाव आदि की दृष्टि से व्याख्या की। कवियों के जीवन-चरित और स्वभाव पर भी उन्होंने विचार किया। कवियों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का भी निरूपण शुक्लजी करते हैं। पर फिर भी शुक्लजी का दृष्टिकोण रूढ़िवादी ही बना रहा। वे अतीत और वर्तमान, संस्कृत और हिन्दी के कवियों की एक तटस्थ एवं निर्लेप भाव से देखने की व्यापकता को नहीं अपना सके। वे सगुण और निर्गुण भक्त कवियों को, तुलसी और कबीर को इतिवृत्तात्मक और छायावादी कवियों का समान भूमि पर मूल्यांकन नहीं कर सके, उनके अपने वैयक्तिक आग्रह थे। उनको तुलसी प्रिय था, और तुलसी का भी मानस सब से अधिक। उनका समीक्षादर्श मानसमय था। इसी कसौटी पर वे सबको आँकना चाहते थे। शुक्लजी में संस्कृत के कवियों की भव्य भावभूमि के विस्तृत विवेचन की स्वच्छन्दता तो थी, पर नवीन राजनीतिक परिस्थितियों से उत्पन्न छायावादी कवियों का स्वागत वे नहीं कर सके। पर फिर भी शुक्लजी का आचार्यत्व असंदिग्ध है। उन्होंने समीक्षा का एक व्यापक आदर्श स्थापित किया, उसमें उन साहित्यिक तथ्यों और समीक्षा के तत्वों का प्रयोग किया, जिनमें भावी विकास की महती संभावनायें अन्तर्हित थीं, और जिनका परवर्ती समीक्षा में विकास भी हुआ। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चन्द्रबली पाण्डेय, गुलाबराय जगन्नाथ प्रसाद शर्मा आदि इसी स्कूल के समालोचक हैं। इनकी समीक्षा शैली स्थिर और अगतिशील है।

साहित्य की परिस्थितियाँ बदलीं। इतिवृत्तात्मक और वस्तु-तन्त्रात्मक कविता का स्थान छायावादी कविता ने ले लिया। उसमें स्वच्छन्दता, सौष्ठव एवं वैयक्तिक अनुभूति का प्राधान्य हो गया। ऐसी कविता के लिए शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत समीक्षादर्श उचित प्रतिमान सिद्ध नहीं हो सका। बने बनाये साहित्यिक आदर्शों से इन कवियों का उचित मूल्यांकन संभव नहीं था। प्रत्येक कवि को

उसकी ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में रखकर परखने की आवश्यकता थी। प्रत्येक कवि की कविताओं में उसके मूल्यांकन का मापदण्ड स्वयं ही अन्तर्हित रहता है। समीक्षक का कार्य उसी प्रतिमान का प्रत्यक्ष है। छायावादी कविता के साथ समीक्षा के जिस आदर्श का विकास हुआ उसमें युग के सांस्कृतिक और दार्शनिक आदर्शों के विवेचन के साथ ही कवि एवं उसकी रचना को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर उनका मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक मूल्यांकन का प्रयास भी था। इसमें कवि की वैयक्तिकता का महत्व समझते हुए भी साहित्य के स्थायी आदर्शों की उपेक्षा नहीं है। समीक्षक कवि का ऐतिहासिक अध्ययन भी करता है और उसके काव्य-सौष्ठव का मूल्यांकन भी। यही कारण है कि इनको सौष्ठववादी या स्वच्छन्दतावादी समीक्षक के नाम से अभिहित किया जाता है। भारतेन्दु युग में जिस समीक्षा का सूत्रपात हुआ था, उसको इस पद्धति में एक प्रकार से पूर्णता प्राप्त हुई। इसमें सार्वकालिक एवं सार्वभौम व्यापक समीक्षा पद्धति के विकास के तत्व अन्तर्हित थे, पर कुछ नवीन विदेशी प्रभावों ने इसके विकास को अवरुद्ध कर दिया। इस समीक्षा-पद्धति के प्रमुख समीक्षक नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, लक्ष्मीनारायणन सुधांशु शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि हैं।

जब प्रसाद, पन्त और निराला अपनी प्रतिभा के उत्कृष्ट रत्न साहित्य को भेंट कर चुके, आधुनिक युग की साहित्य-साधना के चरम-विकास का अमूल्य रत्न 'कामायनी' भी भेंट हो चुकी, तो साहित्य के क्षेत्र में एक शैथिल्य और अवसाद सा आ गया। परिस्थितियाँ भी कुछ बदल गईं। राष्ट्रीय आन्दोलन के असफल प्रयासों के कारण तथा साम्राज्यवाद एवं पूँजीवादी के अधिक दृढ़ होते हुए फौलादी पंजे में जकड़कर भारतीय जीवन स्वभावतः ही नैराश्य की ओर उन्मुख हुआ। साहित्य की चेतना समाज से विमुख

होकर व्यक्ति में केन्द्रित हो गई और धीरे-धीरे अन्तर्मुखी होती गई। ऐसे समय में अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि साहित्य के रंगमंच के प्रधान पात्र थे। समष्टि रूप में व्यक्ति एवं उसकी कुण्ठायें ही इनके साहित्य के प्रमुख स्वर थे। ये जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से स्वभाविक प्रेरणा ग्रहण करने की अपेक्षा उनमें मनोविश्लेषण शास्त्र के सिद्धान्तों को ढूँढ़ निकालने के लिए अधिक आतुर थे। इनको अंग्रेजी के इलियट, लारेंस, जैम्स ज्वायस, फ्रायड, एलडर आदि से अधिक प्रेरणा मिली। काव्य की इस धारा के अनुरूप जिस समीक्षा-पद्धति का विकास हुआ उसे मनोविश्लेषणात्मक कहते हैं। इसमें समीक्षक को साहित्य के अन्तस्तल में हीन-भावना, दमित कामवासना अथवा अन्य किसी मानसिक कुण्ठा के दर्शन करने का आग्रह रहता है। वह सम्पूर्ण साहित्य के सृजन का कारण इन्हीं में ढूँढ़ता है। इनकी मान्यता है कि कुंठा जितनी महान् होगी उतने ही श्रेष्ठ साहित्य का सृजन हो सकेगा। इस प्रकार की समीक्षा में एक विचित्र दृष्टिकोण रहता है। समीक्षा के क्षेत्र में रुग्ण-साहित्य के कारणों की उद्भावना तथा उसके अस्वस्थ प्रभावों को रोकने के अतिरिक्त इस समीक्षा-पद्धति की और कोई उपादेयता नहीं है।

समीक्षा में दूसरा सम्प्रदाय है प्रगतिवादी अथवा मार्क्सवादी। व्यक्ति केन्द्रित साहित्य का विरोध ही इसका प्रधान उद्देश्य है। ये साहित्य को पूँजीवादी सभ्यता की समाप्ति तथा समाजवाद की प्रतिष्ठा का माध्यम मानते हैं और इसी दृष्टि से साहित्य की श्रेष्ठता का मूल्यांकन करते हैं। इसमें मतबाद और आदर्शों के प्रति आग्रह है तथा साहित्य के स्वच्छन्द विकास को स्वीकार नहीं किया जाता है। हिन्दी के प्रगतिवादियों ने साहित्य को मार्क्सवादी रूढ़ धारणाओं के प्रचार का साधन माना है। इसलिए समीक्षा में शोषक, शोषित वर्गवाद आदि शब्दों का सब जगह आरोप करते

हैं। प्रगतिवाद साहित्य के सृजन और समीक्षा के लिए जिस 'समाजवादी यथार्थवाद' के सिद्धान्त को मानता है अगर वह उसको सम्प्रदायवादी संकुचित अर्थ में ग्रहण न करके भारत के सांस्कृतिक दृष्टिकोण की उपेक्षा न करता हुआ जीवन के सहज विकास को महत्व दे और उसी दृष्टिकोण से साहित्य का अध्ययन करें, तो समीक्षा का बहुत व्यापक और स्वस्थ एवं समीचीन मानदंड प्रस्तुत हो सकता है। पाश्चात्य देशों के मार्क्सवादी इस सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण को छोड़ रहे हैं। पर हिन्दी का समीक्षक अभी कुत्सित समाजवादी की कोटि में ही आ पाया है। इस वर्ग के प्रमुख समीक्षक शिवदान सिंह चौहान, डा० राम विलास शर्मा, प्रकाश चन्द्र, अमृत राय आदि हैं। इस श्रेणी के समालोचक ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक आदि समीक्षा शैलियों का उपयोग तो करते हैं, पर उनका दृष्टि कोण मार्क्सवादी सम्प्रदाय की मान्यताओं से आक्रान्त रहता है। प्रकाशचन्द्र जी ने कहीं कहीं प्रभाववादी समीक्षा शैली का भी उपयोग किया है। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक समीक्षाओं के तो प्रौढ़ प्रयास भी हुए हैं। पर चरितमूलक, प्रभाववादी और अभिव्यंजनावादी शैलियों के प्रौढ़ प्रयास अभी तक नहीं दिखाई पड़ते हैं।

आज हिन्दी-साहित्य के सृजन और समीक्षा—दोनों क्षेत्रों का स्वस्थ विकास अवरुद्ध सा है। समीक्षक और स्रष्टा दोनों को ही दिग्भ्रम है। पर स्वस्थ विकास की दिशा ढूँढ़ने में आज की साहित्य-चेतना व्यग्र सी है और भविष्य के दूर आकाश में आलोक भी दिखाई दे रहा है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह युग आज के पाठक के लिये इतना दूर नहीं माना गया है कि वह विवेचन के लिए अपेक्षित तटस्थता ग्रहण कर सके। अभी तो इस युग के अधिकांश कलाकार जीवित हैं। उनमें से बहुतों का व्यक्तित्व तो अध्ययन के

उपयुक्त स्थिरता भी प्राप्त नहीं कर सका है। कुछ का व्यक्तित्व तो स्थिर हो गया है, पर उन्होंने अपना सृजन-कार्य समाप्त नहीं किया है, इसलिए उन पर भी विचार नहीं किया जा सकता है। यहाँ पर कतिपय उन्हीं प्रतिभाओं के सम्बन्ध में ही विचार किया जाता है, जिनके सृजन का अपेक्षित तटस्थता के साथ मूल्यांकन संभव है। प्रसाद जी जैसी कुछ प्रतिभाओं का वास्तविक विकास कविता के क्षेत्र में ही हुआ है, इस लिए उन पर उसी प्रसंग में विचार किया जावेगा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—

द्विवेदी जी के उपरान्त साहित्य समीक्षा में शुक्ल जी ही सबसे बड़ी प्रतिभा हैं। जिस नीतिवादी एवं आदर्शात्मक बुद्धिवाद का सूत्रपात द्विवेदी जी ने किया था, उसका चरम विकास शुक्ल जी में हुआ। शुक्ल जी ने उस दृष्टिकोण को पुष्ट शास्त्रीय विचार-धारा के रूप में प्रतिष्ठा कर दी। उनके प्रयास से एक प्रौढ़ एवं सर्वाङ्गीण साहित्य-दर्शन का स्वरूप संगठन हुआ। यह साहित्य-दर्शन आधुनिक काल के छायावादी युग के पूर्व के साहित्य-चिन्तन का सारभूत रूप है। यह उस युग की सम्पूर्ण साहित्य-संबन्धी विचार-धाराओं का आकलन करता है तथा भावी-विकास के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। हिन्दी में स्वच्छन्तावादी अथवा सौष्ठववादी के नाम से जिस साहित्य-दर्शन का विकास हुआ है तथा जो हिन्दी-समीक्षा के विकास की आधुनिकतम स्थिति की एक प्रमुख एवं सबसे अधिक स्वच्छ तथा विशुद्ध साहित्यिक प्रवृत्ति है, उसके विकास के बीज शुक्ल जी के चिन्तन में ही विद्यमान थे। उसके मूलभूत आधार तत्त्वों की उद्भावना शुक्ल जी ने ही कर ली थी। परवर्ती समीक्षकों ने तो उसकी व्याख्या करते समय कुछ अधिक स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण को अपना लिया है, जो जीवन की परिवर्त्तनशील परिस्थितियों के कारण नितान्त अनिवार्य

सा हो गया था। शुक्लजी की व्यावहारिक समीक्षा में नीति वादी दृष्टिकोण था, जो परवर्ती साहित्य के मूल्यांकन के लिए अनुपयुक्त सिद्ध हुआ। फिर भी शुक्ल जी ने साहित्य के सैद्धान्तिक विवेचन द्वारा जिस साहित्य दर्शन की प्रतिष्ठा की है, वह अपेक्षाकृत अधिक सार्वदेशिक एवं सर्वकालीन है। उनके परवर्ती काल में जिन समीक्षा-सम्प्रदायों का विकास हुआ वे ऐसे प्रौढ़ एवं व्यापक साहित्य-दर्शन की अभी तक उद्भावना नहीं कर सके हैं।

साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में शुक्लजी का युगान्तर-कारी व्यक्तित्व है। उनके पहले साहित्य-समीक्षा किसी एक ही पक्ष को लेकर की जाती थी, पर शुक्लजी ने रचना और कवि को सम्पूर्ण रूप में देखने के शैली का सूत्रपात किया है। उन्होंने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों समीक्षाओं का बहुत ही सुन्दर मिश्रण कर दिया। शुक्लजी ने पहले से प्रचलित शैलियों का प्रयोग किया है, पर उन सभी को शास्त्रीयता एवं विकास की प्रौढ़ता प्रदान करने का श्रेय भी उन्हीं को है। उनकी शैली में तुलना तथा निर्णयात्मक समीक्षा के तत्व अत्यन्त परिमार्जित एवं प्रौढ़ रूप में विद्यमान हैं। उन्होंने तन्त्रवादी, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक एवं व्याख्यात्मक समीक्षा-शैलियों का सुन्दर मिश्रण कर दिया है। आज हिन्दी-समीक्षा में जिन शैलियों का प्रयोग होता है, उनमें से प्रायः सभी के दर्शन शुक्लजी में भी हो जाते हैं। यह कहना असमीचीन नहीं है कि शुक्लजी द्वारा उद्भावित समीक्षा शैलियों का ही उनके समसामयिक तथा परवर्ती आलोचकों ने प्रयोग अथवा विकास किया है। आधुनिक हिन्दी-समीक्षा में शुक्लजी वह केन्द्र-बिन्दु हैं जिसमें एक तरफ पूर्ववर्ती सम्पूर्ण समीक्षा पद्धति आकलित होकर चरम विकास तक पहुँच जाती है तथा परवर्ती समीक्षा अपने विकास के लिए प्रेरणा ग्रहण करती है।

शुक्लजी की समीक्षा का सैद्धान्तिक आधार भारतीय है। पर उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्रों के तत्वों की मनोविज्ञान एवं पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के सिद्धान्तों के आलोक में व्याख्या की है। इस प्रकार उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा तत्वों के अद्भुत मिश्रण से एक नूतन काव्य-शास्त्र को जन्म दिया है, जिसे हम हिन्दी का काव्य-शास्त्र कह सकते हैं। शुक्लजी काव्य विधान की दृष्टि से रसवादी हैं तथा काव्य के प्रभाव की दृष्टि से नीतिवादी। वे काव्य को व्यक्ति के रागात्मक प्रसार का हेतु तथा लोकमंगल की भावना का पोषक मानते हैं। वे जीवन में अनासक्त प्रवृत्ति तथा संघर्ष को निवृत्ति की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं। इस लिए उन्होंने लोकमंगल के प्रयत्नपक्ष को प्राधान्य देने वाले कवियों को अधिक उत्कृष्ट कहा है। वे सूर की अपेक्षा तुलसी तथा कबीर की अपेक्षा जायसी को इसीलिए अधिक महत्व देते हैं। उन्होंने छायावादी कवियों में भी उपभोग पक्ष का प्राधान्य देखा है, इसलिए वे इतिवृत्तात्मक कोटि की नैतिक कविता के समक्ष उसका हृदय से स्वागत नहीं कर सके, इस प्रकार शुक्लजी की अपनी मान्यतायें हैं, उनका उन्हें आग्रह है तथा इस आग्रह का उनकी व्यावहारिक समीक्षा पर बहुत अधिक प्रभाव भी पड़ा है। सैद्धान्तिक समीक्षा में शुक्लजी का दृष्टिकोण जितना उदार एवं व्यापक है, उतना व्यावहारिक आलोचना में नहीं रह सका है।

'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' तथा 'हिन्दी-शब्द-सागर' द्वारा शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य की दो महती आवश्यकताओं की पूर्ति की है। हिन्दी-साहित्य का शास्त्रीय अध्ययन ही इनके द्वारा संभव हो सका है। शुक्लजी के पूर्व हिन्दी में साहित्य का कोई व्यवस्थित इतिहास नहीं था। 'मिश्रबन्धु-विनोद' में इतिहास की सामग्री तो एकत्र हुई, पर उसको इतिहास का रूप नहीं दिया जा सका था। इसके अतिरिक्त उन्होंने तुलसी, सूर और जायसी पर विस्तृत

आलोचनायें कीं। उन्होंने 'चिन्तामणि' में काव्य के सिद्धान्तों पर कई प्रौढ़ निबन्ध लिखे हैं। वे काव्य-शास्त्र पर एक प्रौढ़ ग्रन्थ लिखना चाहते थे। उन्होंने यह कार्य प्रारंभ भी कर दिया था, पर उसके समाप्त होने से पूर्व ही हिन्दी पर दैव का कठोर आघात हुआ और शुक्लजी इस नश्वर जगत् को छोड़ कर चले गये। उनका यह अपूर्ण ग्रन्थ 'रसमीमांसा' के नाम से पं० विश्वनाथ प्रसाद ने प्रकाशित करा दिया है।

आलोचना एवं इतिहास के अतिरिक्त शुक्ल जी का दूसरा सृजन क्षेत्र है, निबन्ध। उन्होंने कविता और कहानी भी लिखीं हैं, अनुवाद भी किये हैं। पर वे हिन्दी क्षेत्र में आलोचक एवं निबन्धकार के रूप में ही प्रख्यात हुए हैं। उनकी प्रतिभा का विकास भी इन्हीं दो ग्रन्थों में हुआ। शुक्ल जी ने सैद्धान्तिक निबन्धों के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक निबन्ध भी लिखे हैं जो विचार-वीथी और चिन्तामणि में संग्रहीत हैं। ऊपर शुक्ल जी के आलोचक रूप पर विचार हो चुका है। अब हमें उनके निबन्धकार रूप की व्याख्या करनी है।

आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य के सर्व श्रेष्ठ निबन्धकारों में से एक हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा द्वारा निबन्ध के क्षेत्र में एक नवीन जाग्रति ला दी है। वे अपने निबन्धों द्वारा हिन्दी के पाठकों को प्रौढ़ विचार-धारा देते हैं। शुक्ल जी के निबन्धों में मौलिकता, एवं गूढ़ चिन्तन के साथ विचारों की शास्त्रीय प्रामाणिकता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उन्हें निबन्ध के सामान्य स्वरूप पर विचार करने का उपयुक्त अवसर प्राप्त हुआ है। शुक्ल जी निबन्धों को आत्म-विचार मानते हैं। वे निबन्धों में बुद्धि या विचार की ही प्रधानता मानते हैं। यही कारण है कि वे विचारात्मक निबन्धों को अधिक महत्त्व देते हैं। निबन्ध में भावात्मकता, कथा, वर्णन आदि उसकी शैली के ही अंग हैं। उसकी आत्मा तो विचार ही है। इसी

तन्त्र के आधार पर निबन्ध का गद्य-काव्य, कहानी आदि से भेद स्थापित किया जा सकता है। शुक्ल जी का कहना है कि निबन्ध में विचारों की उद्भावना और उनकी अभिव्यक्ति प्रौढ़ और संश्लिष्ट होनी चाहिए। निबन्ध के विचार इतने गुथे हुये होने चाहिए कि वे एक दूसरे के क्रमिक और स्वाभाविक विकास ही जान पड़े। निबन्ध को पढ़ने से अगर पाठक की बुद्धि उत्तेजित हो कर किसी विचार-पद्धति की ओर दौड़ पड़े तो निबन्धकार अपने प्रयास में सफल हुआ है। निबन्धकार की गहन विचार-धारा पाठक को मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि प्रतीत होनी चाहिए। अगर निबन्धकार को दुरूह और जटिल शैली के पहाड़ को पार करने के बाद पाठक को कोई प्रौढ़ और सुन्दर विचार-धारा नहीं मिलती है तो उसे अत्यन्त निराशा होती है। यह निबन्धकार की असफलता है।

शुक्ल जी के निबन्धों में उपर्युक्त सभी विशेषतायें मिलती हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो निबन्धों की समीक्षा का मापदण्ड प्रस्तुत करते हुए शुक्ल जी अपने ही निबन्धों की परोक्षरूप में आलोचना कर रहे हैं। शुक्ल जी ने मौलिकता, गूढ़ चिन्तन, तथा विचारों की संश्लिष्टता पर जोर दिया है, ये तीनों गुण उनके निबन्धों की विशेषता हैं। आचार्यजी के निबन्ध साधारण मनोरंजन की सामग्री नहीं है। उनके अध्ययन के लिये एक विशेष योग्यता और मनोयोग की अपेक्षा है। पर इस योग्यता वाले पाठकों को इनके निबन्धों के अनुशीलन के बाद एक प्रौढ़ विचार-धारा तथा गम्भीर चिन्तन की प्रेरणा प्राप्त करने के फलस्वरूप एक विशेष आत्म संतोष का अनुभव होता है। इस दृष्टि से हम शुक्ल जी के किसी भी निबन्ध को परख सकते हैं। आचार्य की रचनायें इस परीक्षा में सर्वत्र ही खरी उतरती हैं।

यद्यपि शुक्ल जी के सभी निबन्ध विचारात्मक कोटि के हैं, पर

उनमें भावात्मकता एवं अनुभूति का भी सम्पुट है। विषय का प्रामाणिक एवं शास्त्रीय विवेचन होते हुये भी उन पर आत्मीयता की स्पष्ट छाप है। भाव और विचार का ऐसा पार्थक्य कृत्रिम है, इन दोनों का चिर सहयोग है। एक दूसरे की पुष्टि के लिए इन दोनों की उपस्थिति प्रायः अनिवार्य है, और श्लाघनीय तो सर्वत्र है ही। निबन्धों के विचारात्मक और भावात्मक नामक भेद केवल प्राधान्य के दृष्टि तथा विवेचन की सुगमता के लिए कर दिये गये हैं। इस प्रकार प्राधान्य की दृष्टि से शुक्ल जी के निबन्ध विचारात्मक कोटि के ही हैं, पर उनमें अनुभूति की स्निग्धता का अभाव नहीं है। इनके निबन्धों की प्रामाणिक एवं गम्भीर चिन्तन की जटिलता तथा शुष्कता अनुभूति और आत्मीयता की स्निग्धता से कुछ सुगमता और सरसता में परिणत हो गई हैं।

निबन्धों का व्यक्ति-प्रधान और विषय-प्रधान नामक विभाजन भी कृत्रिम ही है। व्यक्तित्व काव्य और कला के प्राण हैं। विषय और विचार उनके मूलभूत आधार हैं जिनके बिना कला कृति केवल कल्पना का सहारा लेकर न खड़ी हर सकती है और न जीवन के लिए उपादेय हो सकती है। कला जिस प्रकार भावात्मक अनुभूति के अभाव में अपने प्रेयतत्व को खो बैठती है, उसी प्रकार विचारों के बिना उसमें से श्रेयतत्व निकल जाता है। श्रेय और प्रेय के सामंजस्य पर ही कला की उत्कृष्टता निर्भर है। साहित्य की अन्य विधाओं की तरह निबन्ध का निर्माण भी व्यक्ति और विषय दोनों तत्वों के मिश्रण से ही संभव है। वैयक्तिकता तो निबन्ध का प्राण ही हैं। उसके अभाव में तो वह प्रबन्ध ही हो जाता है। व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए विषय का माध्यम आवश्यक है। उत्कृष्ट विचारात्मक निबन्धों में आत्मीयता के साथ शास्त्रीय प्रामाणिकता का सुन्दर सामंजस्य होता है। इसी से शुक्लजी विषय-प्रधान और विषयि-प्रधान का

भेद कृत्रिम मानते हैं। चिन्तामणि के निबन्धों को वे स्वयं इनमें से किसी भी भेद में नहीं रखते हैं। यह निर्णय पाठकों पर छोड़कर व इस स्थूल दृष्टि से निबन्धों की आलोचना करने में अरुचि प्रकट करते हैं।

शुक्लजी के निबन्धकार, आलोचक और कलाकार तीनों ही रूप विकास न्मुख रहे हैं। शुक्लजी हिन्दी को जो अनुपम देन दे सके हैं उसके बीजांकुर उनके प्रारम्भिक जीवन में ही अत्यन्त स्पष्ट हो चुके थे। फिर भी जब हम शुक्लजी के निबन्धकार अथवा आलोचक के व्यक्तित्व पर विचार करते हैं तो प्रायः हमारा ध्यान उनकी प्रौढ़ अवस्था की रचनाओं पर ही रहता है। इस दृष्टि से शुक्लजी के निबन्धों को हम प्रधानतः दो भागों में बाँट सकते हैं:— (१) भावों और मनोविकारों पर लिखे गये निबन्ध, तथा (२) समीक्षात्मक निबन्ध। दूसरे प्रकार के निबन्धों के दो और आवन्तर भेद हैं:—सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक। आचार्य के कवियों पर लिखे हुए बहुत लम्बे-लम्बे आलोचनात्मक निबन्ध तो प्रबन्ध की कोटि में ही रखे जा सकते हैं। पर सैद्धान्तिक समीक्षा पर लिखे गये उनके निबन्धों में व्यक्तित्व और आत्मीयता का तत्व है। इसलिए निबन्ध ही हैं। मनोविज्ञान के विषयों को लेकर शुक्लजी ने जो निबन्ध लिखे हैं वे हिन्दी साहित्य में अत्यन्त मौलिक और नवीन वस्तु हैं। इन निबन्धों में मनोविज्ञान की शास्त्रीय प्रामाणिकता तो है ही इसके अतिरिक्त शुक्लजी ने अपने इन निबन्धों में व्यावहारिक उपयोगिता का तत्व भी समाविष्ट कर दिया है। व्यक्ति के जीवन में ये विभिन्न भाव किस प्रकार स्वरूप बदलते जाते हैं इसका अध्ययन लेखक ने मनोविज्ञान की पुस्तकों से नहीं अपितु व्यक्ति के सामाजिक और वैयक्तिक जीवन ही से किया है।

प्रत्येक भाव के उद्गम विकास तथा उसकी परिणति का सूक्ष्म अध्ययन हुआ है। व्यावहारिक जीवन को इसी गम्भीर अनुभूति

को लेकर शुक्लजी ने ये निबन्ध प्रस्तुत किये हैं, इसलिए उनमें मनोविज्ञान की नीरसता नहीं है अपितु जीवन की अनुभूति की सरसता और सचाई है। शुक्लजी को इन निबन्धों के लिखने में मनोविज्ञान से पर्याप्त सहायता मिली है। भावों और मनोविकारों का जो सूक्ष्म निरीक्षण उन्होंने इस व्यावहारिक जीवन में किया है उससे अर्जित सामग्री का विश्लेषण करने के लिए जिस शैली और पद्धति को शुक्लजी ने अपनाया वह उन्हें मनोविज्ञान के अध्ययन द्वारा ही प्राप्त हुई होगी। आचार्य ने लौकिक जीवन के उदाहरणों तथा गम्भीर अनुभूतिमय स्थलों द्वारा इन निबन्धों का साहित्यिक महत्व भी बहुत कुछ बढ़ा दिया है। शुक्लजी की आत्मीयता की जितनी गहरी और स्पष्ट छाप इनमें है उतनी उनके अन्य निबन्धों में नहीं। उनकी सब रचनाओं में निर्बन्ध निबन्ध के सबसे अधिक सन्निकट ये ही है। शुक्लजी को अपने आलोचनात्मक निबन्धों में अपनी व्यक्तिगत रुचि की अपेक्षा शास्त्रीय प्रामाणिकता का ध्यान अधिक रखना पड़ा है। इसलिए इन रचनाओं को निबन्धों की अपेक्षा प्रबन्ध कहना अधिक समीचीन है। समीक्षा-सिद्धान्तों पर जो कुछ शुक्लजी ने लिखा है उसमें भी उनका स्वरूप बहुत कुछ विशुद्ध निबन्धकार का ही रहा है। उनमें विषय का प्रतिपादन यद्यपि अत्यन्त शास्त्रीय प्रामाणिकता के साथ किया गया है, पर विषय की गहराई में जाकर आचार्य ने इन तत्वों का साक्षात्कार सा कर लिया है। इसलिए उनकी आत्मीयता की अमिट छाप उन पर पड़ी हुई है। साधारणीकरण का सिद्धान्त शुक्लजी का नहीं है, पर उसके निरुपण की शैली शुक्लजी की है। उसमें उनकी आत्मीयता स्पष्ट झलक रही है।

आचार्य शुक्लजी की एक बड़ी विशेषता है शैली की विशालता और भव्यता। इनकी शैली समास-शैली कही जा सकती है। शुक्लजी अपने सिद्धान्तों को सूत्र रूप में ही रख देते हैं और बाद

में उनकी विशद व्याख्या और विश्लेषण करते हुए सारे निहित रहस्यों का उद्घाटन करते हैं। इनकी चिन्तन-प्रणाली और निरूपण-शैली दोनों ही समान रूप से गूढ है; इसीलिए प्रत्येक वाक्य के साथ-ज्यों ज्यों पाठक आगे बढ़ता है त्यों-त्यों उनके विचारों की रमणीयता और प्रौढ़ता स्पष्ट होती जाती है। एक छोटे से सूत्र में इतना मर्म निहित है यह जान कर पाठक को एक आह्लाद का सा अनुभव होता है। शुक्लजी के व्यक्तित्व के अनुरूप ही उनकी शैली में भी गम्भीरता और विनोद दोनों का एक सुन्दर सामञ्जस्य मिलता है। शुक्लजी की भाषा अत्यन्त समृद्ध और नवीन है। उसमें प्रत्येक प्रकार के भाव और विचार को अभिव्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। वे निबन्ध को गद्य की कसौटी और उसमें ही भाषा की पूर्ण शक्ति के विकास की सम्भावना मानते हैं। शुक्लजी की भाषा का पूर्ण विकास इन निबन्धों में ही हुआ है उनकी भाषा विषय के साथ बदल जाती है। जितनी लम्बी और जटिल वाक्यावली का प्रयोग उन्होंने समीक्षात्मक निबन्धों में किया है उतनी मनोविकारों के निबन्धों में नहीं। अत्यन्त गम्भीर विचारों को वे 'सारांश यह है' आदि वाक्यों द्वारा कुछ स्पष्ट करने की भी चेष्टा करते हैं तथा कहीं पर भी पाठक के सुकोमल मस्तिष्क को विचारों के भारी बोझ से दब कर ऊबने नहीं देते हैं। गम्भीर और चिन्तनशील पाठक के लिए उसमें रुचि बनी ही रहती है। विचारों की जटिलता और दुरूहता को कम करने के लिए वे अपने निबन्धों में स्थान-स्थान पर विनोद, व्यंग और कथासंकेतों का भी प्रयोग करते हैं। शुक्लजी की शैली में आवश्यकतानुसार बड़ी सुन्दर रूप-योजना भी मिलती है। वस्तुओं के चित्र उपस्थित करने में उन्होंने वर्णनात्मक शैली का उपयोग किया है। इनके सभी चित्र सजीव होते हैं। इस प्रकार की चित्रोपमता के लिए शुक्लजी प्रायः तत्सम शब्दों और सामासिक पदावली का

ही अधिक प्रयोग करते हैं। तत्सम शब्दों की प्रचुरता उनकी भाषा की एक प्रमुख विशेषता है। पर इसमें अस्वाभाविकता और पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं है। शुक्लजी की शैली ने इन शब्दों को आत्मसात् कर लिया है। उनकी भाषा में सहज प्रवाह है। उसमें तद्भव एवं लौकिक शब्दों का भी पर्याप्त प्रयोग है। भाषा की संस्कृतनिष्ठता की अपेक्षा उन्होंने अर्थ-व्यंजकता को ही अधिक महत्व दिया है। अर्थ की व्यंजना के लिए उन्होंने उर्दू, लौकिक, तद्भव आदि सभी तरह के शब्दों का प्रयोग कर दिया है। उन्होंने मुहावरों का भी प्रयोग किया है। 'सनकी' 'धूम' 'पराई' आदि प्रचलित शब्दों तथा 'काँटों पर चलना' 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' आदि मुहावरे और कहावतों के प्रयोग में शुक्लजी हिचके नहीं हैं। इस प्रकार के शब्दों और मुहावरों के प्रयोग का अवसर शुक्लजी को प्रायः मनोविकारों के निबन्धों में ही अधिक मिला है। समीक्षात्मक निबन्धों में विचारों की गहनता के कारण इसके लिए कम अवसर आये हैं। संक्षेप में यह कहा जासकता है कि आचार्यजी की भाषा सर्वत्र ही अत्यन्त प्रांजल, प्रौढ़, सक्षम और विषयानुकूल है। इनकी भाषा में सर्वत्र एक स्निग्ध प्रवाह है। पाठक हृदय के माधुर्य का अनुभव करता हुआ उसमें बहता ही चला जाता है।

प्रेमचन्द जी—

इनका जन्म एक निर्धन एवं साधारण परिवार में हुआ। अपनी परिस्थितियों के कारण इन्हें नियमित रूप से बहुत उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ। मैट्रिक करने के बाद इन्हें स्कूल में अध्यापन करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस पद पर रहकर अपने कठोर परिश्रम एवं अध्यवसाय से इन्होंने बहुत उन्नति की। अगर प्रेमचन्द जी इसी सरकारी नौकरी से

चिपके रहते तो संभवतः अपना दारिद्र्य धो डालते। पर उनकी राष्ट्रीय भावना एवं आजाद प्रकृति ने धन की इतनी अधिक महत्ता को इनके हृदय में जमने ही नहीं दिया। उन्होंने देश के राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित होकर सरकारी नौकरी छोड़ दी और उसके बाद ये जीवनभर निर्धनता के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। इनका सम्पूर्ण जीवन इसी संघर्ष में व्यतीत हो गया। इसी संघर्ष ने उन्हें जीवन की जटिलता एवं कुटिलता दोनों से परिचित कराया। इस संघर्ष की आँच में पिघलकर इनका हृदय अत्यन्त निर्मल, स्वच्छ एवं सरल हो गया। संसार की कुटिलताओं से अनभिज्ञ न होते हुए भी ये स्वयं पवित्र रहे। इस निर्मलता ने उन्हें जीवन की व्यापक अनुभूति प्रदान की तथा उन्हें महान् कलाकार बना दिया।

प्रेमचन्दजी ने अपने समय के सम्पूर्ण जीवन का यथार्थ चित्र दिया है। उत्तरी भारत के सम्पूर्ण जन-समुदाय के आचार-विचार एवं रहन-सहन का सजीव सच्चा प्रतिनिधि एवं पूर्ण चित्र प्रेमचन्द जी के साहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है। उसमें गाँव, नगर, महल, झोपड़ी, किसान, जमींदार, धनिक, भिखमंगा, मजदूर, मिल मालिक, गृहिणी, वेश्या, शिक्षित, अशिक्षित, ढोंगी, पंडित, सुधारवादी, प्रोफेसर, पटवारी आदि सभी का यथार्थ चित्रण हुआ है। इनके साहित्य में उत्तरी भारत के लोगों की आशा-आकांक्षा और सुख-दुःख के दर्शन होते हैं। प्रेमचन्दजी के पूर्व तक साहित्य में पात्रों की कल्पना का आधार सद् और असद् प्रवृत्तियाँ थी। कुछ पात्र विशुद्ध सद् प्रवृत्ति वाले तथा कुछ विशुद्ध असद् प्रवृत्ति वाले कल्पित किये जाते थे। उनके इन स्वरूपों को व्यक्त करने तथा बढ़ा चढ़ा कर दिखाने के लिए काल्पनिक परिस्थितियों की उद्भावना होती थी। इस क्रम में प्रेमचन्दजी ने कुछ परिवर्तन किया। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से वे व्यक्ति-वैचित्र्य की ओर अग्रसर

तो हुए पर अपने साहित्य में उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं कर सके। उनके पात्र भी स्वतन्त्र चेतन व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ भावनाओं के प्रतीक ही रहे। इसीलिए उनके पात्रों में इतना अधिक अन्तर्द्वन्द्व नहीं पाया जाता है। प्रेमचन्दजी ने किसी पात्र को पूर्णतः विशुद्ध सत् अथवा असत् पात्र तो नहीं बनाया जो नितान्त काल्पनिक ही प्रतीत हो पर सत् अथवा असत् प्रवृत्ति की कुछ आवान्तर मनोवृत्तियों का प्रतीक उन्हें अवश्य कर दिया। वे पात्रों के स्थिर एवं जड़ रूप को ही ग्रहण कर सके। अमीरों के चित्रण में नीचाशयता की ही प्रमुखता रही। पटवारी का धूर्त रूप ही प्रेमचन्दजी के सामने आया, पंडितों के ढोंगी रूप की ही उनको अधिक कल्पना हुई। किसान के भोले भाले और ईमानदार रूप का ही ग्रहण हुआ। प्रेमचन्दजी व्यक्ति को समाज की किसी एक प्रवृत्तिका प्रतीक मानकर ही चलना चाहते हैं। क्योंकि उन्हें व्यक्ति का नहीं समाज का ही चित्र उपस्थित करना है। वे समाज की कुछ कुरीतियों को दूर करने का सुधार-वादी दृष्टिकोण अपना कर चले हैं। इसके लिए वे समाज में प्रचलित कुरीतियों के विरुद्ध पाठकों में घृणा तथा सद् प्रवृत्तियों के प्रति प्रेम और सद्भावना जाग्रत करने का साधन अपनाते हैं। जीवन का यथार्थ चित्र तो वे देते ही हैं, पर इसके साथ ही उसे आदर्श में परिणत करके भी दिखा देते हैं, जिससे उनका सुधार-वादी दृष्टिकोण भी स्पष्ट हो जाता है। इसे वे तथा आलोचक आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के नाम से पुकारते हैं। प्रेमन्दजी का यह दृष्टिकोण कुछ रूढ़िवादी हो गया है। वे कुरीतियों एवं सद् प्रवृत्तियों के कारणों को नहीं ढूँढ़ पाते हैं। वे उनका सामाजिक परिस्थितियों से चेतन सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सके। परिणामस्वरूप उनके साहित्य से घृणा अथवा प्रेम सद् प्रवृत्ति और असद् प्रवृत्ति अथवा समाज की कतिपय व्यवस्थाओं के प्रति न जागकर व्यक्ति अथवा वर्ग के प्रति जाग जाती है। प्रेमचन्दजी के समसामयिक कुछ

आलोचकों द्वारा उन पर किये गये स्त्री पात्रों के चरित्र-चित्रण में असफलता, ब्राह्मण विरोधी मनोवृत्ति कला का प्रचारक रूप से आक्रान्त होना आदि आक्षेप उनकी इस प्रवृत्ति का संकेत करते हैं। इतने उग्र एवं कटु आक्षेप आलोचकों का असहृदयता तथा साहित्य की गतिविधि के सहज स्वरूप को समझने की अक्षमता के भी द्योतक हैं। जीवन के अन्तस्तल में विराजमान जीवन की नियामक शक्तियों की उद्भावना तथा जीवन की गति के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करने की ऐतिहासिक चेतना का उस काल के साहित्य में विकास नहीं हो पाया था। आज भी उसके बहुत स्पष्ट स्वरूप के दर्शन नहीं हो पाते हैं। फिर भी प्रेमचन्दजी के अपने रागद्वेष हैं, विशेष आग्रह हैं। इसी रूढ़िवादी दृष्टिकोण का परिणाम है कि वे अशिक्षित एवं समाज के निम्न स्तर के व्यक्तियों में शिक्षित तथा उच्च स्तर के व्यक्तियों की अपेक्षा मानवीय गुणों के अधिक दर्शन करते हैं। यह उनकी दृढ़ धारणा सी प्रतीत होती है।

प्रेमचन्दजी समय के साथ रहे हैं। उन्होंने वर्त्तमान की ही चिन्ता की है। वे न भूतकाल के गौरव में भूले हैं और न उन्होंने भविष्य के महल खड़े किये। जो आन्दोलन होते थे, उन्हीं को प्रेमचन्द जी अपने साहित्य में स्थान दे देते थे। वे समय की हवा के साथ बहे हैं। उनकी कोई निश्चित एवं पुष्ट एक विचारधारा नहीं है। व्यवस्थित जीवन-दर्शन के लिए सूक्ष्म एवं गूढ़ चिन्तन की अपेक्षा है। चिन्तन की मौलिकता, गूढ़ता तथा तीक्ष्णता का अभाव तो उस काल के साहित्य की प्रमुख विशेषता ही थी। इसके दर्शन प्रेमचन्दजी में भी होते हैं। प्रचारवादी रूढ़िग्रस्त दृष्टिकोण के प्राधान्य का भी यही कारण था।

पर प्रेमचन्दजी के साहित्य का कोई कम महत्व नहीं है। वे हिन्दी के उपन्यास एवं कहानी के क्षेत्र में नवीन युग के जन्मदाता हैं। उन्होंने कहानी और उपन्यास का जीवन के यथार्थ के

साथ अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर दिया। ये दोनों केवल कल्पनामात्र की वस्तु नहीं रह गईं। उनके साहित्य में मनोरंजन और जीवन की व्याख्या का बहुत ही सुन्दर मिश्रण हुआ है। प्रेमचन्दजी ने हिन्दी-जगत् के समक्ष जीवन का बहुत ही विस्तीर्ण क्षेत्र उन्मुक्त कर दिया। उनकी प्रतिभा का स्पर्श प्राप्त करके उपन्यास और कहानी कला का नवीन विकास हुआ। उन्होंने अनेक कहानी संग्रह प्रस्तुत किये तथा उपन्यास लिखे, क्योंकि उनके पास अनुभूति का बड़ा भण्डार था; साहित्य-जगत् को देने के लिए पर्याप्त सामग्री थी। वे अपनी बात कथा के माध्यम से ही कहते थे, पर उन्होंने घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान और भाव-संवेदनात्मक, मनोविश्लेषणात्मक सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। 'गोदान' के रूप में उन्होंने उपन्यास कला का भी बहुत सुन्दर प्रयोग किया है।

श्रीयुत जैनेन्द्रकुमार जैन—

आप आधुनिक हिन्दी-गद्य साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक हैं। आपने अनेक उपन्यास, कहानी और निबन्ध लिखे हैं। उपन्यास और कहानी-साहित्य के विकास में आप प्रेमचन्द जी के बाद की कड़ी हैं। जैनेन्द्रजी ने उपन्यास और कहानियों के लिए प्रेमचन्द जी से भिन्न क्षेत्र चुना है। प्रेमचन्द्रजी का क्षेत्र ग्रामीण जीवन था, पर जैनेन्द्रजी ने नगर और शहर की तंग गलियों के छोटे संकुचित मकानों के जीवन को अपने साहित्य में स्थान दिया है। जैनेन्द्रजी के साहित्य का विषय मध्यमवर्ग का जीवन है। इन्होंने प्रेमचन्दजी की तरह सामाजिक, आर्थिक और ग्रामीण जीवन की समस्याओं पर विचार नहीं किया है। इनकी समस्यायें पारिवारिक जीवन की मनोवैज्ञानिक समस्यायें हैं। इनकी समस्याओं का आधार एक प्रकार से कामवासना मानी जा सकती है।

जैनेन्द्रजी संसार के सुख दुःख और संघर्षों के अन्तस्तल में एक आत्मशक्ति देखने के भावुक है। उनका झुकाव पवित्रतावाद

की ओर है। उनके इस पवित्रतावाद का आधार अहिंसा और आत्मपीड़न है। जैनेन्द्रजी आत्मपीड़न की सबसे तीव्र अभिव्यक्ति रति-भावना के संकोच में मानते हैं। इसीलिए उन्होंने अपने उपन्यासों में इस भावना को सबसे अधिक स्थान दिया है। उनके चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्व के मूल में यही भावना है। जैनेन्द्रजी का यह आदर्शवादी दृष्टिकोण हैं। पर इसमें उन्हें पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। उनकी पात्र-कल्पना में इसके अनुरूप सशक्तता का अभाव है।

जैनेन्द्रजी के सुनीता, श्रीकान्त, हरिप्रसन्न, सत्यधन, कट्टो आदि सभी पात्रों में एक छिपी हुई शृंगार-भावना है। लेखक ने अपने पात्रों की वासना पर भावात्मकता का आवरण चढ़ाने की चेष्टा की है, पर इस आवरण के भीतर से इन पात्रों की वासना स्पष्ट झलक जाती है। यद्यपि उसे लेखक ने भी पर्याप्त विशुद्ध बनाने की चेष्टा की है, पर उसमें वे अधिक सफल नहीं हो सके। जैनेन्द्रजी अपने पात्रों पर उच्चता का आरोप तो करते हैं, पर वास्तविक चारित्रिक उच्चता की सृष्टि नहीं कर पाते हैं। उनके पात्रों का व्यक्तित्व सशक्त एवं सम्पन्न नहीं है। यह कह सकना कठिन है कि वे क्या चाहते हैं। उनकी प्रकृति का स्पष्ट विश्लेषण न हो सकने के कारण उनके पात्र रहस्यमय से प्रतीत होते हैं। जैनेन्द्रजी ने पारिवारिक जीवन की समस्यायें उठाई हैं, पर उनका ठीक समाधान वे नहीं प्रस्तुत कर सके हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि समस्याओं को संभाल न सकने के कारण लेखक को विचित्र स्थिति की कल्पना करनी पड़ती है। 'सुनीता' उपन्यास में नायिका अपने पति के मित्र के समक्ष रात को नग्न हो जाती है। उस मित्र को मानसिक आघात होता है और विरक्ति हो जाती है। इससे वे नायिका को पवित्रता की तो रक्षा कर लेते हैं, पर समस्या का समाधान नहीं हो पाता है। 'मास्टर साहब' घर छोड़कर बाहर गई हुई अपनी स्त्री के अचानक आ जाने पर

प्रसन्न होते हैं, मिठाई बाँटते हैं। स्त्री को एक शब्द भी नहीं कहते हैं। इस प्रकार की चरित्र-कल्पना विचित्र है।

पर जैनेन्द्रजी का उपन्यास और कहानी साहित्य में विशिष्ट स्थान है। उन्होंने जीवन की नवीन भूमियों को उपन्यास में स्थान दिया है। वे जीवन की गहराई में प्रवेश करके मानव की वास्तविक समस्याओं का साक्षात्कार करते हैं। उनका यथार्थ चित्रण भी देते है। किन्तु समस्याओं के स्वस्थ एवं उचित समाधान में पूर्ण सफल नहीं हो पाये हैं। जैनेन्द्रजी ने चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिक पद्धति तथा पारिवारिक जीवन की ऐसी समस्याओं को उठाकर हिन्दी-साहित्य में शरतचन्द्र के अभाव की पूर्ति की है।

जैनेन्द्रजी ने निबन्ध भी काफी संख्या में लिखे हैं। इनके निबन्धों पर इनके व्यक्तित्व की गहरी छाप है। ये अपनी मौलिक चिन्तन-पद्धति तथा भाषा-शैली से एक आत्मीयता तथा बेतुकल्लुफी का वातावरण तैयार कर लेते हैं। इनके प्रायः सभी निबन्ध निर्बन्ध निबन्धों की कोटि में आते हैं। इन्होंने साहित्य, समाज, राजनीति आदि के गंभीर विषयों और समस्याओं पर व्यक्तिनिष्ठ चिन्तन-प्रधान विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं। जैनेन्द्रजी की चिन्तन-पद्धति पर दार्शनिक मुद्रा की स्पष्ट छाप रहती है, पर जहाँ उन्होंने अपेक्षाकृत सहज एवं सरल चिन्तन-पद्धति को अपनाया है, वहाँ उनकी रचनायें बहुत ही प्रभावोत्पादक हुई हैं।

इस उत्थान काल में साहित्य का अनेक मुखी विकास हुआ है। उसमें इनके अतिरिक्त अनेक कहानीकार, उपन्यासकार, निबन्ध लेखक और समालोचक हुए हैं, उनमें से अधिकांश अभी तक जीवित हैं, उनकी कला का विकास अभी हो रहा है। इसलिए उनके सम्बन्ध में अभी तक विचार करना समीचीन नहीं है। 'प्रसाद' जैसी कुछ प्रतिभाओं का विकास सर्वतोमुखी रहा है। उनका परिचय कविता के प्रसंग में दिया जायगा।

आधुनिक हिन्दी-कविता का विकास

ब्रजभाषा-काव्य पुरानी धारा

आधुनिक काल में नितान्त नूतन प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ तथा साहित्य नवीन दिशाओं की ओर उन्मुख हो गया। साहित्य के क्षेत्र में इस क्रान्तिकारी परिवर्तन का गद्य के विकास पर विचार करते हुए विशद विवेचन हो चुका है। आधुनिक युग में भारतीय जीवन की सम्पूर्ण गति-विधि नवीन विचार-धाराओं को अपना कर चली और इसके परिणाम-स्वरूप साहित्य भी नये मार्ग पर आगे बढ़ा। इस युग के साहित्य और जीवन के क्षेत्र में कौनसी प्रमुख प्रवृत्तियाँ रहीं, यह पहले देख चुके हैं। उस सारे विवेचन के कुछ सामान्य निष्कर्ष का भी निर्देश हो चुका है। इस सम्पूर्ण परिवर्तन की प्रधान प्रेरणा पाश्चात्य प्रभाव है। जन-जीवन के विश्वव्यापी आन्दोलनों के साथ भारत का भी सम्बन्ध स्थापित हो गया। उसके जीवन में भी नवीन क्रान्ति प्रारंभ हो गई। इस प्रभाव का एक रूप तो अनुकरणात्मक है। पश्चात्य जीवन और साहित्य की अनेक विचारधाराओं और पद्धतियों को हमने ज्यों का त्यों अपना लिया। यह प्रभाव का स्थूल रूप है, पर इस प्रभाव का एक दूसरा अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहरा रूप भी है। पाश्चात्य विचार-धारा यहाँ के जीवन की सहज और स्वाभाविक गति से एकाकार होकर उसके स्वरूप निर्धारण और गतिशीलता की प्रमुख प्रेरणा बन गई है। यह प्रभाव का सूक्ष्म रूप है। यह प्रभाव साहित्य की भी प्रमुख नियामक शक्ति है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य का स्वरूप इन दोनों प्रभावों से निर्मित है। इनके कारण आज के भारतीय जीवन के आदर्श ही बदल गये। उसमें भौतिकतावादी एवं बौद्धिकता का

प्राधान्य हो गया है। यह बहुत कुछ पश्चिम का ही प्रभाव है। पर आधुनिक काल के जीवन की एक लंबी सांस्कृतिक परंपरा थी। उसमें जीवन, धर्म, दर्शन, और साहित्य के प्रौढ़ तत्व थे। उस परम्परा का अचानक उच्छिन्न हो जाना न संभव था और न श्रेयस्कर ही। ऐसा हुआ भी नहीं। अपितु उल्टा भक्ति-काल की तरह उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न भी इस काल के प्रारंभ से ही चल रहा है। विदेशी संस्कृति का आघात प्राप्त करके आज का मानव अपनी सांस्कृतिक विधि के संरक्षण के लिए उद्यत हुआ। जब पाश्चात्य संपर्क एवं शिक्षा के कारण भारत के व्यक्ति की आँखों में जीवन और साहित्य के नये मान-मूल्यों की चकाचौंध होने लगी तो उसने पीछे मुड़ कर अपनी सांस्कृतिक निधि को भी देखा। इससे अपनी निधि के प्रति उसका प्रेम और भी दृढ़ होने लगा। उसने नये आलोक में अपनी संस्कृति को नूतन रूप में भी देखना प्रारंभ किया। इस प्रकार आज के साहित्य की प्रेरक जीवन-धारा का निर्माण पाश्चात्य और भारतीय पुरातन संस्कृति के मिश्रण से हुआ है। आज जीवन और साहित्य का हमेशा से अधिक गहरा संबन्ध है, इसीलिए उसमें इतनी अनेकरूपता और नूतनता है। यहाँ उसका युगान्तर है। आज के साहित्य और जीवन के इस सामान्य स्वरूप का विशद निरूपण हम गद्य के प्रसंग में कर चुके हैं। गद्य इस युग के जीवन का अधिक प्रतिनिधित्व करता है, उसी में अधिक सृजन हुआ है, इसलिए आज के युग को गद्य-युग कहते हैं। इससे सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन उसके साथ ही करना समीचीन भी है।

आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी का गद्य अविकसित था। गद्य-शैली की कोई प्रौढ़ परम्परा नहीं स्थापित हो सकी थी। न वह तत्कालीन जीवन की अभिव्यक्ति का उपयुक्त आधार बन सका और न उसमें साहित्य की अनेक विधाओं का विकास ही हुआ।

यही कारण है कि आधुनिक काल में पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी-गद्य-शैली और साहित्य का नूतन आदर्शों पर विकास संभव हो सका। उसमें अनेक नवीन विधाओं का जन्म और विकास हुआ है। उसकी नवीन परम्पराओं की स्थापना के लिए मार्ग अत्यन्त स्वच्छ था। पर पद्य-साहित्य की अवस्था इससे नितान्त भिन्न थी। हिन्दी में पहले से ही पद्य-साहित्य की बहुत लम्बी एवं प्रौढ़ परम्परा थी। उसकी अपनी एक शैली थी, मान्यतायें थी, सौन्दर्य के तत्व थे। बहुत वर्षों से हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र के जन जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम कविता ही थी। इस प्रकार आधुनिक काल का प्रारंभ जहाँ गद्य की अविकसित परम्परा के विरासत के साथ हुआ था, वहाँ उसे पद्य की प्रौढ़ परम्परा भी विरासत में प्राप्त हुई थी। लोगों की कविता सम्बन्धी एक विशेष रुचि बनी हुई थी, उसके परिवर्तन को समय की अपेक्षा थी। यह परिवर्तन तभी हुआ जब जीवन पर्याप्त प्रगति कर गया, उसने नये विधानों और मान-मूल्यों को अपना लिया। लोगों को कविता और जीवन का व्यवधान अस्वाभाविक और खटकने वाला प्रतीत होने लगा। सहृदय समाज कविता को कृत्रिम कल्पना मात्र की वस्तु बनाये रखने से ऊब गया। कविता में उसकी दृष्टि में जीवन की प्रेरणा शक्ति नहीं रह गई। गद्य साहित्य को नवीन दिशा में प्रगति ने इस भावना को और भी दृढ़ किया। वैसे जीवन और साहित्य की किसी परम्परा का आकस्मिक उच्छेद संभव नहीं होता है। परम्परायें विकसित होकर दूसरी में परिणत हो जाती हैं। फिर गद्य-साहित्य की अपेक्षा पद्य की परम्परायें अधिक रूढ़ होती है। अतः अधिक स्थायी भी होती हैं। पद्य विधि-विधान से जकड़ा रहता है, इसलिए गद्य की तरह जीवन की प्रत्येक लहर के साथ शीघ्र ही नवीन स्वरूप नहीं धारण कर पाता। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल के प्रारम्भ में पद्य-साहित्य की प्राचीन परंपरा ही

चलती रही। यह रीतिकालीन काव्य-धारा का ही विकास है। इसको प्राचीन-धारा कहते हैं।

साहित्य की प्रवृत्तियों की दृष्टि से आधुनिक काल की पुरानी काव्य-धारा वस्तुतः रीतिकाल के अन्तर्गत ही समझी जानी चाहिए। उसमें उन सभी प्रमुख प्रवृत्तियों और शैलियों के दर्शन होते हैं, जो रीतिकाल में थीं। आधुनिक काल की नूतन क्रान्ति से पूर्व हिन्दी की कतिपय काव्य-पद्धतियाँ और धारायें समानान्तर चलती रहीं। जिस युग में साहित्य की जो प्रमुख प्रवृत्ति रही, उसी नाम से वह युग प्रसिद्ध हो गया। रीतिकाल में आकर वे सभी एकत्र हो गईं। उन सभी शैलियों में काव्य-सृजन हुआ। उसके अन्तिम चरण में तो हिन्दी-साहित्य की यह अवस्था और भी स्पष्ट थी। आधुनिक काल की पुरानी काव्य-धारा इसी का विकास मात्र थी। रीतिकाल की कविता का प्रमुख स्वर यद्यपि शृङ्गार और नायिका भेद था, पर उसमें भक्ति, वीरता और नीति की कविताओं का भी नितान्त अभाव नहीं रहा। कृष्णभक्ति,-राम भक्ति पर भी कवितायें होती थीं। मुक्तक काव्य का तो वह युग ही था, पर उसमें प्रबन्ध काव्य भी लिखे गये। रीतिकाल के अन्तिम चरण में उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभाओं का प्रायः अभाव ही रहा। इस काल के साहित्य में कला-सौष्ठव का स्तर भी नीचा ही रहा। गिनी चुनी प्रतिभायें हो हुईं। आधुनिक काल की पुरानी-काव्य-धारा की भी ये ही प्रमुख विशेषतायें हैं।

शृंगार और नायिका भेद पर रीतिकाल में बहुत ही प्रौढ़ रचनायें हुईं। उन्हीं का पिष्टपेषण इस काल की पुरानी काव्यधारा में होता रहा। अनेक प्रकार की शृंगार-चेष्टाओं का विशद वर्णन हुआ। रति-केलि, धोविन लीला, कुँजड़िन लीला आदि अनेक लीलाओं एवं उपलीलाओं का वर्णन हुआ है। प्रातःकाल से सायं काल तक का कार्यक्रम प्रस्तुत करने के लिए अष्टयाम लिखे गये।

इन काव्यों में चुम्बन परिरंभन आदि का भी विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। सेवक कवि का 'वाग्विलास' नायिका भेद का वृहद् ग्रन्थ हैं। द्विजदेव की 'शृंगार लतिका' और 'शृंगार बत्तीसी' शृंगार रस की रचनायें हैं। इसी प्रकार के अनेक कवि इस काल में हुये हैं। अलंकार, रस, नायिकाभेद आदि के निरूपण के बहाने इस काल के कवियों ने शृंगार की विलास-चेष्टाओं को ही अपने काव्यों का वर्ण्य-विषय बनाया है। उनमें उत्कृष्ट कवियों और आचार्यों के उपयुक्त प्रौढ़ता का प्रायः अभाव है। पर फिर भी इस काल में थोड़ा बहुत रीति-निरूपण भी होता रहा है। गिरिधर दास का 'भारती भूषण' दत्त कवि का 'लालित्य लता' रायदास का 'नवरस तरंग' आदि इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। कुछ लोगों ने छन्द आदि पर भी विचार किया है। अलंकार-निरूपण की यह पद्धति रीतिकाल का अनुकरण मात्र थी। पर बाद में इसका विकास भी हुआ। वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग भी हुआ। मुरारीदीन, कन्हैयालाल पोद्दार, रसाल, रामदहिन मिश्र आदि का कार्य इसी परम्परा का क्रमिक विकास माना जा सकता है। इनकी रचनायें क्रमशः वैज्ञानिक पद्धति को अधिक से अधिक अपनाती गई हैं।

इस काव्य-धारा में भक्ति-भावना को भी स्थान प्राप्त हुआ है। राम और कृष्ण दोनों की लीला पर मुक्तक तथा प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई है। राम और कृष्ण की स्तुति के अतिरिक्त अन्य देवताओं (भैरव, दुर्गा आदि) तथा तीर्थों (प्रयाग, गंगा आदि) के भी स्तोत्र बने। कृष्ण भक्तों का हृदय उनके विहार और लीलाओं में ही रमा। उन्हें प्रौढ़ भक्त हृदय तो प्राप्त हुआ नहीं था, इसलिए उनकी रचनाओं में शृंगार की चेष्टाओं का ही वर्णन है। उन्होंने दानलीला, मानलीला, पनिहारिनलीला, चूड़हारिनलीला आदि का ही वर्णन किया है। अन्न प्राशन, बधाया आदि के प्रसंग में

वेशभूषा पकवान आदि का बहुत सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन मिलता है। पर इस काल के भक्ति-काव्यों में आध्यात्मिकता के दर्शन नहीं होते हैं। या तो ये रचनायें सामान्य कोटि के वर्णनात्मक पद्य हैं अथवा विलास-चेष्टा-बहुल शृंगार-प्रधान काव्य। भक्ति-भावना के कवियों में सबसे प्रमुख महाराज रघुराज सिंह हैं। उन्होंने राम और कृष्ण के जीवन को लेकर मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार के काव्यों का सृजन किया है। वे राम और कृष्ण में अभेद मानते थे। उन्होंने भगवान् की विभिन्न लीलाओं पर जो मुक्तक छन्द लिखे हैं उनमें राम और कृष्ण दोनों की लीलाओं का अन्तर्भाव है। 'रघुराज-विलास' उनका इसी प्रकार का ग्रन्थ है। उन्होंने 'भ्रमरगीत' भी लिखा है। 'रुक्मिणी-परिणय' नामक इनका कृष्ण-सम्बन्धी महाकाव्य है। इसमें वीर, शृंगार और शान्त रस का अच्छा परिपाक तथा राधाकृष्ण की विलास-चेष्टाओं, जल-विहार, विरह, षट्-ऋतु आदि का विशद वर्णन है। 'राम स्वयंवर' महाराज रघुराज सिंह का राम-सम्बन्धी महाकाव्य है। इसमें चारों भाइयों के विवाह का प्रसंग है। इसमें भी शृंगार और वीर रस ही प्रधान है। वनगमन जैसे करुणरस-प्रधान स्थलों का संकेत मात्र ही है। इसमें लंका-दहन, मृगया, हनूमान के समुद्र लांघने आदि का अच्छा वर्णन है। कवि वर्णनात्मक स्थलों में सर्वत्र ही बहुत सफल हुए हैं। इस काल में पौराणिक आख्यानों पर भी कवितायें लिखी गई तथा कुछ भक्तों के कलात्मक परिचय भी दिये गये। रघुनाथदास का 'विश्राम-सागर' अनेक प्रकार की कविताओं का बृहद् संकलन भी है। उसमें राम-कृष्ण के चरित्रों के अतिरिक्त पौराणिक कथायें तथा बाल्मीकि, ध्रुव, प्रह्लाद आदि का परिचय भी है। यह अवधी भाषा का बहुत ही सुन्दर ग्रन्थ है।

इस काल में वृन्द रहीम आदि के अनुकरण पर नीति की रचनायें भी हुई। महाराज रघुराज सिंह का 'भक्ति-विलास' तथा

रसमय सिद्ध कृत 'सिद्धमनोरंजन' और 'सिद्धिरहस्य' आदि इसी प्रकार की रचनायें हैं। प्रवीण, द्विज बलदेव, द्विजगंग आदि ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा की है। इनमें वीररस का परिपाक नहीं हो सका है न कोई विशेष काव्य-सौष्ठव ही है। इस काल में प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद भी हुए। राजा लक्ष्मणसिंह आदि कतिपय उत्कृष्ट अनुवादक इसी युग के हैं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि इस काल का काव्य-सृजन रीतिकाल की कविता का पिष्टपेषण मात्र था। उसमें उत्कृष्ट काव्य प्रतिभायें उत्पन्न नहीं हुई। इस काव्य-धारा के रूप में गतयुग की साहित्यिक प्रवृत्तियों का अवसान हुआ है। वे अपना अन्तिम सांस लेती हुई इसी काल में समाप्त हुई हैं। इस युग की काव्य-धारा में यत्रतत्र काव्य-सौष्ठव के तो दर्शन होते हैं पर उसका स्वर पूर्णतः प्राचीन ही है। इसलिये उसने भावी-विकास में कुछ सहयोग नहीं दिया। यह काव्य-धारा अपने समसामयिक जीवन से प्रायः निरपेक्ष ही रही ब्रज-भाषा-काव्य की यह पुरानी धारा रीति-काल के अन्तिम चरण के साहित्य का अवशेष मात्र है। इसमें कुछ भी नवीन नहीं है। इसलिये यह काव्य समय की दृष्टि से आधुनिक होते हुए भी प्रवृति से प्राचीन है।

नई धारा—

जिन परिस्थितियों में आधुनिक हिन्दी काव्य की 'नई धारा' का जन्म हुआ और उसने जो स्वरूप अपनाया, उसका तात्विक विवेचन तो खड़ी बोली के काव्य के प्रसङ्ग में ही किया जायेगा। यहाँ पर तो यह विचार करना है कि 'ब्रजभाषा काव्य ने नूतन परिस्थितियों और नये प्रभावों के फलस्वरूप क्या मोड़ लिया? उसमें क्या परिवर्तन हुए? स्पष्टता के लिये उसकी प्रेरणाओं का साधारण निर्देश भी आवश्यक है। ब्रजभाषा काव्य की लम्बी परम्परा में आमूल परिवर्तन तो संभव नहीं था इसलिये वर्ण्य-

विषय, भाव एवं शैली सम्बन्धी कतिपय प्राचीन परम्पराओं को अक्षुण्ण रखते हुए ही यह काव्य-धारा समसामयिक जीवन के प्रभावों को आत्मसात् करके तदनुकूल हो सकी। ब्रजभाषा-काव्य की नई धारा आधुनिक प्रभावों से रूपान्तरित प्राचीन काव्य-धारा का पुनरुत्थान ही है। उसमें भक्तिकाल की हृदय-स्पर्शिता एवं रीतिकाल की वचन-वक्रता दोनों अक्षुण्ण ही नहीं रहीं अपितु विकसित भी हुईं। उनमें आधुनिक जीवन की मार्मिकता एवं लाक्षणिकता का सुन्दर मिश्रण होगया। यही कारण है कि प्रेम, भक्ति प्रकृति आदि अत्यन्त पुरातन विषयों में नूतन मार्मिकता के दर्शन होते हैं। भारतेन्दुजी से पूर्व तक ब्रजभाषा-काव्य रीति-कालीन पतनशील काव्य-धारा का अवशेष मात्र था। भारतेन्दुजी ने एक तरफ जीवन की नूतन परिस्थितियों के प्रति उसे जागरूक किया तथा दूसरी तरफ उसके अतीत-भाव के सौष्ठव को पुनरुत्थान किया। इस नवीनता तथा ब्रजभाषा-काव्य के विकास की अवस्था को स्पष्ट करने के लिये इसे 'नई धारा' का नाम दिया गया है।

आधुनिक काल में जीवन स्वतः ही नवीन दिशाओं की ओर अग्रसर हुआ। देश के कोने-कोने में सुधारवादी आन्दोलन प्रारम्भ हुए। देश के विगत वैभव एवं वर्तमान दुर्दशा के प्रति लोग सजग हो गये अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से देश का नवीन भावमाओं से परिचय हुआ। उसमें आधुनिक राष्ट्रीयता की भावना भी जागी। देश-प्रेम के गीत गाये जाने लगे। पर पहले-पहले विदेशी शासन के स्वागत की ही प्रवृत्ति रही। हाँ बिदेशी संस्कृति के अन्धानुकरण का विरोध अवश्य हुआ। काव्य के इन विषयों को ब्रजभाषा-काव्य में भी स्थान प्राप्त हुआ। सामाजिक विषयों पर भारतेन्दु काल से ही लिखा जाना प्रारम्भ हो गया। स्वयं भारतेन्दुजी ने 'भारतदुर्दशा' का गीत लिखा। बदरीनारायण चौधरी की 'भारत बंदना'

'अकाल' आदि कविताओं में भारत के प्राचीन गौरव तथा अंग्रेजों की अर्थ-शोषक नीति से देश की दुर्दशा का वर्णन हुआ है। इस प्रकार खड़ीबोली-काव्य में जो नवीन सामाजिक चेतना दिखाई पड़ रही थी, उससे ब्रजभाषा-काव्य भी नितान्त निरपेक्ष नहीं रह सका। पर फिर भी उसकी धारा प्रमुखतः प्राचीनता की ही प्रतीक रही और वह आज भी है। उसमें भक्ति, शृंगार, वीरता आदि प्राचीन पिष्टपेषित विषयों को ही अधिक स्थान मिला।

ब्रजभाषा-काव्य की भावधारा प्राचीनता का आदर्श लिये हुए अवश्य है। पर आधुनिक जीवन के सम्पर्क ने उसमें एक अद्भुत रमणीयता का भी समावेश कर दिया है जिसके दर्शन रीतिकाल में नहीं होते। अंग्रेजी-साहित्य के प्रभाव से आधुनिक हिन्दी-साहित्य में प्रकृति-चित्रण की प्रवृत्ति बढ़ गई है। प्रकृति स्वतन्त्र रूप से काव्य का विषय बन गई है। ब्रजभाषा-काव्य में भी प्रकृति-चित्रण के इस स्वरूप को स्थान प्राप्त हुआ। भारतेन्दुजी ठाकुर जगमोहनसिंह आदि के बहुत सुन्दर दृश्य-चित्रण हैं। इनकी कविताओं में विशेष सजीवता और गम्भीरता के दर्शन होते हैं। जब हिन्दी-कविता देश-प्रेम समाज-सुधार, आदि नवीन विषयों की ओर उन्मुख हुई तो उसके आलम्बन भी बदल गये। उत्साह, हास्य, व्यंग्य, आदि भावों का जीवन की नूतन परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिये नवीन आलम्बनों की आवश्यकता थी। इसीलिए मातृभूमि के लिए बलिदान होने वाले, नई फैशन के गुलाम, अदालती लुटेरे, खुशामदी रईस आदि इस काल के काव्य के नये आलम्बन बन गये।

'नई धारा' ने ब्रज-भाषा के स्वरूप एवं काव्य-शैली को भी नवीनता प्रदान की। रीतिकाल में भाषा कृत्रिम हो गई थी। उसमें कई शताब्दी पुरानी अप्रचलित एवं दुर्बोध शब्दावली का प्रयोग

चलता आरहा था। उस काल के कवियों में भाषा को तोड़ने मरोड़ने की प्रवृत्ति भी बहुत अधिक थी। इससे भाषा का सहज एवं स्वाभाविक सौन्दर्य नष्ट हो जाता था। पर आधुनिक काल के ब्रजभाषा-काव्य की नई धारा में भाषा के सहज एवं सुबोध रूप को अपनाने की प्रवृत्ति जागी। शब्दों को अस्वाभाविक रूप में तोड़ने मरोड़ने की परम्परा तो प्रायः समाप्त ही होगई; इसके अतिरिक्त आज के कवियों ने अत्यधिक प्राचीन एवं अव्यावहारिक पदावली का बहिष्कार भी कर दिया। वे लोक-प्रचलित अथवा संस्कृत की पदावली का अधिक उपयोग करने लगे। इससे उनकी भाषा जन-साधारण के लिये सुबोध हो गई। भाषा-क्षेत्र के इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के सूत्रपात का श्रेय भी भारतेन्दु को ही है। इसी परिवर्तन के कारण ब्रजभाषा-काव्य की आयु बढ़ी है। इतना ही नहीं खड़ी बोली की तरह ब्रजभाषा-काव्य भी अंग्रेजी भाषा से प्राप्त नवीन प्रकार की लाक्षणिकता को प्रश्रय भी दे सका। पर अपनी स्वतंत्र एवं विकसित पद्धति होने तथा प्राचीन आदर्शों को अधिक अपनाने की प्रवृति के कारण ब्रजभाषा इस नवीन लाक्षणिकता को अधिक नहीं अपना सकी। फिर भी आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य के कौशल एवं उक्ति-वैचित्र्य पर इसका प्रभाव है और इससे उसकी रमणीयता तथा चित्ता-कर्षकता बढ़ी है। उर्दू-साहित्य की एक प्रमुख विशेषता उक्ति-कौशल भी है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य भी उसके इस प्रभाव से वंचित नहीं रहा। मुहावरों के अधिक प्रयोग की प्रवृत्ति के लिए तो हिन्दी को उर्दू से ही अधिक प्रेरणा प्राप्त हुई है। भाषा की चुस्ती में उर्दू का भी हाथ है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उर्दू-साहित्य के प्रेम की कसक के साथ भाषा के कौशल और चुस्ती का भी हिन्दी-साहित्य ने स्वागत किया। खड़ी बोली के इस स्वागत का ब्रजभाषा ने भी साथ दिया है।

मुक्तक और प्रबन्ध-काव्य की जो शैलियां पिछले युग से चली आ रहीं थी, आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य में भी प्रायः वे ही चलती रहीं। प्राचीन छन्दों का ही अधिक प्रयोग होता रहा। कुछ थोड़े पद्यात्मक निबन्धों के लिखने की परम्परा भी चली उनमें विचार और भावों का सुन्दर मिश्रण भी रहा।

ब्रजभाषा-काव्य की धारा अब तक प्रवाहित हो रही है और आगे भी होती रहेगी, ऐसी आशा है। आधुनिक नवीन विषयों, भावों, अभिव्यंजना-कौशल और शैली के अपनाने की प्रवृत्ति तो ब्रजभाषा के कवियों में मिलती है, पर उनका झुकाव प्राचीनता की ओर ही अधिक है। काव्य के नवीन आदर्शों को लेकर तो खड़ी बोली ही चली, उसी में इनका वास्तविक विकास भी हुआ। इसलिए नवीन आदर्शों का प्रतिनिधित्व तो खड़ी बोली का काव्य ही करता है। ब्रजभाषा का काव्य तो प्राचीनता का ही प्रतीक है। हाँ, आधुनिक काल में ब्रजभाषा-काव्य का विकास अवश्य हुआ है। उसकी भाव-धारा और अभिव्यंजना-कौशल दोनों ने ही रीतिकाल की अपेक्षा प्रगति की है। रत्नाकरजी, वियोगीहरि आदि की रचनायें चाहे विचार-क्षेत्र में नवीन प्रगति को न अपना सकने के कारण प्राचीनता की ही प्रतीक रही हों, पर उनके भाव-सौष्ठव की उच्चता तथा नूतनता अस्वीकृत नहीं की जा सकती। प्राचीन पद्धतियों में मार्मिकता की वृद्धि हुई है तथा कुछ नवीन अभिव्यंजना शैलियाँ तथा वर्ण्य-विषयों को अपनाया गया है। आधुनिक काल में भक्ति और रीतिकाल की अपेक्षा यही ब्रजभाषा काव्य की प्रगति है।

ब्रजभाषा-काव्य की नई धारा आधुनिक काल के प्रारंभ से अब तक चल रही है। इसमें अनेक कवि हुए हैं। इन सब पर विचार करना संभव नहीं है। भारतेन्दु आदि की कविता पर गद्य के प्रसंग में ही विचार हो चुका है। ब्रजभाषा के कतिपय कवियों

का झुकाव बाद में खड़ी बोली की ओर अधिक होगया, इसलिए उन पर खड़ी बोली काव्य के प्रसंग में ही विचार किया जायेगा। यहाँ पर तो उन्हीं प्रमुख कवियों पर बिचार करना है जो अन्त तक ब्रजभाषा की ही सेवा करते रहे हैं।

बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—

रत्नाकरजी ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य के तीनों उत्थान काल देखे थे। इस बीच में हिन्दी-साहित्य में बहुत सी नवीन प्रवृतियों का विकास हुआ। उस पर अंग्रेजी-साहित्य का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा परन्तु 'रत्नाकर' इन सब परिवर्तनों में अचल एवं अडिग रहे। वे इन सारे परिवर्तनों को निरपेक्ष-भाव से देखते रहे। इस नवीनता के युग में भी वे मध्यकालीन आदर्शों के पुजारी रहे। आधुनिक वातावरण में पलकर भी वे मध्यकालीन मनोवृत्ति के ही थे। उन्होंने विचार-धारा, भाव, वर्ण्य-विषय, अभिव्यंजना-कौशल आदि सभी दृष्टियों से अपने सृजन का आधार तुलसी, सूर, नन्ददास आदि मध्यकालीन भक्तों को ही बनाया। उनके ज्ञान और भक्ति सम्बन्धी विचार तथा उनका जीवन-दर्शन सभी कुछ मध्ययुग के भक्तों का अनुकरण मात्र था। उसमें कोई नवीनता न थी। आधुनिक काल की दृष्टि से उसकी उपादेयता भी केवल प्राचीन ज्ञान-निधि और भावधारा के संरक्षण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह मानना भी समीचीन नहीं है कि रत्नाकरजी मध्ययुगीन आदर्शों के पुनरुत्थान के समर्थक थे। जीवन की गति इस प्रकार कभी पलटी नहीं जा सकती है। रत्नाकरजी प्राचीन भावधारा में स्वयं ही रमते थे; वे उसमें विचरण करने का रस लेते थे। उनमें भक्तकवियों की सी भावात्मकता और रसमग्नता तथा रीतिकालीन कवियों के से शब्द-कौशल और चमत्कार-प्रियता का विचित्र मिश्रण है। इस प्रकार वे काव्य की दोनों परम्पराओं से तत्व ग्रहण करते हुए भी भक्त तथा रीति दोनों प्रकार के कवियों

से भिन्न थे। रत्नाकरजी में भक्त कवियों की अपेक्षा रसज्ञिसता कम और सूक्ति-प्रधानता अधिक है। पर उनमें रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा अनुभूति की मार्मिकता एवं भाव-संगीत अधिक है। इसके अतिरिक्त आधुनिक बुद्धिवादी प्रभाव ने भी रत्नाकरजी को भक्ति एवं रीतिकालीन कवियों से भिन्न कर दिया है।

रत्नाकरजी ने भाव अथवा विचार के क्षेत्र में कोई नवीन मौलिक उद्भावना नहीं की। वे वर्तमान जीवन को कोई नया संदेश देने नहीं आये थे। उनका महत्व तो उक्ति के कौशल, बारीकी, सुघरता और पाण्डित्य प्रदर्शन में ही है। उन्होंने बहुत बार के पिष्टपेषित भावों को ही अपने काव्य में स्थान दिया है। पर उन्होंने उन भावों का हृदय से साक्षात्कार भी किया है। उनकी अभिव्यक्ति करने के लिये उनके पास उपयुक्त भाषा, अलंकार और उक्ति-कौशल है। उनकी सूझ-बूझ बहुत विशद है। पुरानी परम्परा-भुक्त भाव-दशाओं की भी नवीन ढंग से रखने की उनमें प्रतिभा है। रत्नाकर जी प्राचीन भावों की अभिव्यक्ति के लिए नवीन स्थितियों तथा नूतन उक्ति-कौशल की ही उद्भावना नहीं कर लेते हैं; अपितु वे भाव की नूतन अन्तर्भाव दिशाओं तथा मनस्थितियों की भी कल्पना कर लेते हैं। इसी से वे अतीत के भाव-राज्य में तद्गत होकर रमते प्रतीत होते हैं। रत्नाकरजी कोमल और पुरुष, मधुर एवं उग्र दोनों प्रकार के भावों का सफल चित्रण कर सके हैं। इन्होंने संयोग और विप्रलंभ शृंगार, उत्साह, क्रोध, जुगुप्सा आदि अनेक भावों की हृदयस्पर्शी व्यंजना की है। इनके प्रेम-वर्णन में गम्भीरता है। कहीं-कहीं उर्दू-शायरी की पीड़ा और कसक वाली शैली भी इन्होंने अपनाई है। 'उद्धव शतक' में गोपियों की विरह-व्यथा के पिष्टपेषित विषय में भी रत्नाकर जी ने मार्मिकता एवं रमणीयता की सृष्टि करदी है। उन्होंने वीरोल्लास का भी सुन्दर चित्रण किया है। 'हरिश्चन्द्र काव्य' के श्मशान वर्णन में वीभत्स

रस की सुन्दर व्यंजना हुई है। रत्नाकर जी के भावक्षेत्र की मार्मिकता का प्रधान आधार अभिव्यंजना-कौशल और चित्रण सम्बन्धी सूक्ष्म दृष्टि है।

रत्नाकर जी की सफलता काव्य-कला के क्षेत्र की सफलता है। उनकी भाषा में रमणीयता, छन्दों में सुघरता तथा संगीत और अलंकारों में चमत्कार है। उनकी रचना-चातुरी की सबसे बड़ी विशेषता प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का सुन्दर सामंजस्य है। उनका अप्रस्तुत विधान तथा अलंकार-नियोजन भावों की रमणीयता की वृद्धि के लिए ही हुआ है। दृश्य-चित्रण की संश्लिष्टता की सृष्टि में उनकी उत्प्रेक्षायें बेजोड़ होती हैं। उनके अलंकार-निरूपण से उनके सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय मिलता है। प्रिय ज्यों-ज्यों दूर जाता है, त्यों-त्यों हृदय के अन्तरतम में प्रविष्ट होता जाता है। इसकी व्यंजना के लिए रत्नाकर जी ने दर्पण के प्रतिबिम्ब का उपयोग किया है, जो उनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देता है। इससे अभीप्सित भाव की कितनी सुन्दर व्यंजना हुई है। इसी प्रकार उनके काव्य में सर्वत्र अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत का सामंजस्य है। उन्होंने प्रायः प्राचीन परम्परा से प्राप्त उपमानों का ही प्रयोग किया है; पर वे भी उनके हृदय से निकले हैं, इसलिए उनमें ताजगी और सरलता है। शब्दों के द्वारा भावों, दृश्यों और पात्रों को आँखों के सम्मुख प्रस्तुत कर देने की जैसी विचित्र शक्ति रत्नाकर जी में है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने अंग्रेजी के अनुकरण पर ध्वनिमूलक चित्रण-पद्धति का भी उपयोग किया है। शब्दों की ध्वनियाँ ही भाव अथवा दृश्य की व्यंजना कर देती है। रचना-चातुरी में हिन्दी का अन्य कोई भी आधुनिक कवि रत्नाकर जी की समता नहीं कर पाता है।

रत्नाकर जी का ब्रजभाषा पर व्यापक अधिकार था। उन्हें ब्रजभाषा की मूल प्रकृति से पूर्ण परिचय था। यही कारण है कि रत्नाकरजी के हाथों में पड़कर ब्रजभाषा की भावव्यंजक शक्ति का

अच्छा विकास हुआ। उन्होंने अंग्रेजी की लाक्षणिकता, उर्दू के शब्द कौशल एवं मुहावरों आदि के प्रयोग की पद्धति को अपनाते हुए भी भाषा की मूल प्रकृति की कहीं भी अवहेलना नहीं की है। सर्वत्र ऐसा ही प्रतीत होता है कि भाषा अपने स्वाभाविक स्वरूप में ही अन्तर्हित शक्तियों का विकास कर रही है। उनकी लाक्षणिकता ब्रजभाषा के स्वरूप के साथ तादात्म्य स्थापित किये हुये हैं। यही कारण है कि रत्नाकरजी की भाषा पर बाहरी प्रभावों की छाप स्पष्ट नहीं प्रतीत होती है। संस्कृत की इतनी अधिक शब्दावली, काशी के आसपास के लौकिक शब्द, तथा उर्दू-फारसी के शब्दों और मुहावरों को ब्रजभाषा में खपा देने की क्षमता रत्नाकरजी के भाषा-सम्बन्धी अधिकार की प्रौढ़ता का परिचय देती है। सबसे बड़ी विशेषता तो उनकी भाषा की रमणीयता और संगीतात्मकता है। उनकी पहली रचनायें तो बहुत सुन्दर और सुष्ट ब्रजभाषा में लिखी गई है। पर बाद में उक्ति-चमत्कार के प्रति अधिक आकर्षण हो जाने के कारण उनकी भाषा में भी कुछ पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना के दर्शन होने लगे हैं। 'उद्धवशतक' की भाषा कहीं-कहीं ऐसी ही हो गई है। पर इतना अवश्य मानना पड़ता है कि रत्नाकरजी ने ब्रजभाषा को इतना माँज दिया है कि वह आधुनिक काल के पाठक के लिए अधिक सुबोध तथा भाव-व्यंजना की दृष्टि से अधिक शक्तिशाली हो गई है। उसमें सब प्रकार के भावों के अनुरूप लचक आ गई।

रत्नाकरजी चाहे अपने काव्यादर्शों में मध्ययुगीन या क्लैसिकल ही रहें; वे प्राचीनता का ही रसास्वाद करते रहे, पर रचना-चातुरी, भाषा-सौष्ठव और छन्दों की सुघरता में वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के बेजोड़ कवि हैं। भाषा की प्रकृति की उनकी सी पहिचान और उस पर अधिकार तथा काव्य-कला-कौशल अन्यत्र दुर्लभ है। अगर रत्नाकरजी इतने शक्तिशाली कवि न होते तो

ब्रजभाषा को परिमार्जित करके इतनी शक्ति प्रदान नहीं कर पाते। अगर ऐसा कवि खड़ीबोली को मिल जाता तो आधुनिक काल की प्रगति और भी तीव्र हो जाती। ब्रजभाषा प्राचीन आदर्शों की भाषा है, वह उनमें ढल चुकी है इसलिए उसमें जीवन के नूतन आदर्शों में साकार होकर उसको नवीन प्रगति की प्रेरणा देने की मूलभूत आन्तरिक शक्ति नहीं रह गई है। इसलिए उनका परिमार्जन केवल उसको सब प्रकार की पच्चीकारी, कौशल एवं सूक्तियों के लिए अधिक सक्षम बना देना है, नूतन प्राणस्पन्दन देना नहीं। यही रत्नाकरजी ने किया है। ब्रजभाषा को अतीत के भाव-सौष्ठव की सुरक्षा का अधिक समर्थ साधन बना देने में ही रत्नाकरजी की भाषा-निर्माण सम्बन्धी सफलता है। वर्तमान का व्यक्ति अतीत में रमने में भी आनन्द का अनुभव करता है, यही उसकी वर्तमान की दृष्टि से उपयोगिता है।

राम देवीप्रसाद पूर्ण—

पूर्णजी ने ब्रजभाषा-काव्य की पुरानी परिपाटी के अनुकरण पर शृंगार, भक्ति वेदान्त, ऋतुवर्णन आदि विषयों पर कवितायें लिखीं तथा नवीन ढंग में देशभक्ति पर। इस प्रकार इनमें दोनों प्रकार की धाराओं का सुन्दर मिश्रण हुआ है। इनकी कविताओं में अनुभूति-जन्य हृदय-स्पर्शिता तथा अभिव्यंजना-कौशल का सुन्दर संयोग है। इनकी देश-भक्ति सम्बन्धी कविताओं में उग्रता के दर्शन तो नहीं होते हैं, पर ब्रजभाषा में समसामयिक विषयों पर कविता करने वालों में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने शृंगार-रस की बहुत थोड़ी ही कवितायें लिखी हैं पर उनमें इनकी भावुकता के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इनकी रचनाओं में सबसे अधिक सरसता वेदान्त, भक्ति तथा प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में है। ये प्रकृति-वर्णन में सेनापति के समकक्ष माने जा सकते हैं। इन्होंने प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किये हैं। इनकी भाषा भी प्रौढ़ है। उसमें मुहावरों

आदि का भी प्रयोग है। इनका अलंकार-विधान भी अत्यन्त कला-पूर्ण हुआ है तथा इनके सूक्ष्म-निरीक्षण का परिचय देता है।

श्री वियोगी हरि—

आज आप ब्रज-भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इन्हें भक्तिकालीन कवियों का सा रसिक एवं भावनामय हृदय प्राप्त हुआ है। वे भगवान के सर्वव्यापी रूप के उपासक हैं। अछूतोद्धार के सक्रिय कार्यकर्त्ता होने के कारण उनमें प्राचीन भक्तों की सी कट्टरता नहीं है। इनकी प्रेम-सम्बन्धी कविताओं में अलौकिकता है। इन्होंने कुछ समसामयिक आन्दोलनों पर भी थोड़ा बहुत लिखा, पर इनमें इनका हृदय इतना रमा नहीं है। इन्हे सबसे अधिक ख्याति वीर रस की कविताओं से प्राप्त हुई है। इनकी 'वीर सतसई' हिन्दी-साहित्य सम्मेलन द्वारा पुरस्कृत भी हुई है। इन्होंने वीर रसको व्यापक रूपमें ग्रहण किया है। देश के लिये अपूर्व त्याग करने वाले वीरों को ही इन्होंने वीर. रस का आलंबन बनाया है। ब्रजभाषा में वीर-रस की इतनी प्रौढ़ एवं सरस रचना करके इन्होंने अत्यधिक सकुमारता के कारण वीरता आदि उग्र भावों के लिये ब्रजभाषा पर किये गये अनुपयुक्तता के आरोप का खण्डन किया है। इनकी भाषा में रत्नाकरजी की सी व्यवस्था और प्रौढता नहीं है। अनेक स्थानों पर खडी बोली के प्रयोग भी हैं तथा शब्दों के प्राचीन एवं तोड़े मरोड़े रूपों के भी दर्शन हो जाते हैं।

गद्य-साहित्य के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि वियोगी हरि का भावात्मक निबन्ध तथा गद्य-काव्य के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान है 'भावना' इनका गद्य-काव्य का प्रमुख ग्रन्थ है। इन्होंने दो प्रकार की शैलियों का उपयोग किया है; एक अलंकारिक और पाण्डित्य पूर्ण तथा दूसरी भावों को सीधे एवं सहज रूप में व्यक्त करने वाली। दूसरी शैली में वाक्य बहुत छोटे छोटे एवं भावमय होते है।

पहली शैली में अनुप्रास रूपक आदि आलंकारों की छटा है। वियोगी हरिजी के सांग-रूपकों का सादृश्य-विधान बहुत ही रमणीय हुआ है। इनकी भक्ति-भावना का विकास हृदय की शान्त कुटीर में हुआ है। पर जब वे संसार की ओर उन्मुख हुए हैं, उस समय दुःखी, अत्याचार-पीड़ित व्यक्तियों के प्रति करुणा से द्रवित हो उठे हैं। उनमें करुणा, दया सहानुभूति आदि के भावों की बाढ़ सी आगई है। वियोगी हरि ऐसे स्थलों में बहुत ही आर्द्र एवं स्निग्ध हैं पर जब वे अत्याचारी की ओर उन्मुख हुए हैं उस समय अत्यन्त उग्र और कठोर हैं। ऐसे समय में उनका हृदय घृणा से भर जाता है और वे धर्म के ढोंगियों पुरोहितों आदि पर बहुत ही कटु व्यंग करते हैं। ऐसे स्थलों में इनका आवेश भी दर्शनीय है। विपरीत लक्षणा और वक्रता से पूर्ण इनके व्यंग बहुत ही तीक्ष्ण होते हैं। इसी आवेश, करुणा की आर्द्रता और भक्ति की सरसता के कारण इनके गद्य-काव्य बहुत ही उत्कृष्ट बन पड़े हैं।

खड़ी बोली का काव्य

प्रथम उत्थान

भारतेन्दु-युग के प्रारंभ में ही कविता नवीन विषयों की ओर उन्मुख हुई, देशभक्ति, समाज-सुधार, प्रकृति-वर्णन आदि विषयों पर काव्य-रचना प्रारंभ हो गई। अंग्रेजों के सम्पर्क से देश-प्रेम एवं राष्ट्रीयता की भावना की जागृति हुई। उस समय अंग्रेजी-राज्य को देश के लिये अभिशाप नहीं अपितु बरदान ही माना जाता था। यही कारण है कि राष्ट्रीय भावना के साथ अंग्रेजी-राज्य की प्रशंसा भी प्रारंभिक काल की कविता की प्रमुख विशेषता थी। धीरे धीरे कवियों का ध्यान देश की पतनावस्था की ओर गया। तद्जनित व्यथा का चित्र भी कविता का विषय बन गया। देश के पतन का कारण सामाजिक कुरीतियाँ मानी गई, इसलिए कवियों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ। इनके अतिरिक्त प्रकृति का भी आलंबन रूप में वर्णन प्रारंभ हुआ। पुरातन विषयों को भी नवीन मार्मिकता प्राप्त हुई। आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक काल में साहित्य के ये ही विषय थे। उस समय तक राष्ट्रीय-भावना, देश-प्रेम; और समाज-सुधार केवल बुद्धि के विषय मात्र उनकी शैली उपदेशात्मक अथवा वर्णनात्मक ही रही। उनमें अनुभूति की मार्मिकता का स्पर्श नहीं हो पाया था। यह स्पर्श तो द्वितीय उत्थान में ही हो सका। इस प्रकार यह काल कविता की अपेक्षा गद्य का ही अधिक रहा। काव्य की इन सब प्रवृत्तियों का विकास ब्रजभाषा काव्य में हुआ। क्योंकि उस समय ब्रजभाषा ही काव्य की भाषा थी। इस धारा का विवेचन पहले हो चुका है। पर ब्रजभाषा प्राचीनता की प्रतीक थी। वह नवीन प्रवृत्तियों, वर्ण्य-विषयों, विचार-धारा एवं शैलियों के उपयुक्त माध्यम नहीं बन सकी। नवीन

साहित्य का मेरुदण्ड ही बुद्धि है और ब्रजभाषा में उत्कृष्ट बौद्धिक तत्त्वों को वहन करने की क्षमता नहीं थी। दूसरे गद्य-साहित्य के लिये खड़ीबोली अपनाई जा चुकी थी, इसलिए पद्य के लिए भी खड़ीबोली का ग्रहण आवश्यक था। दोनों के लिए एक ही भाषा होने से ही साहित्य का सर्वांगीण विकास संभव होता है। फिर खड़ीबोली में नवीन आदर्शों को अपनाने तथा प्रौढ़ बुद्धि-तत्व को वहन करने की भी क्षमता थी। इसलिए खड़ीबोली को काव्य की भाषा बनाने का आन्दोलन प्रारंभ हुआ।

द्विवेदीयुग से पूर्व खड़ीबोली कविता के लिए पूर्ण रूप से गृहीत नहीं हो सकी। उसके पूर्व तो हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में यह विवाद ही चलता रहा कि कविता के उपयुक्त कौनसी भाषा है। गद्य खड़ीबोली में था, इसलिए पद्य का माध्यम भी खड़ी बोली होना चाहिए यह आन्दोलन प्रारंभ हो गया। इसका सूत्रपात भारतेन्दुजी के समय में ही हो गया था। स्वयं भारतेन्दुजी ने भी कुछ कवितायें खड़ीबोली में लिखी। पर उनके देहान्त के बाद उनके द्वारा ही निर्मित लेखक-मण्डल का ध्यान खड़ीबोली की ओर अधिक आकृष्ट हुआ। उन्होंने पहले तो विरोध किया पर बाद में खड़ीबोली का समर्थन करने लगे। ब्रजभाषा के भी बहुत से कवि खड़ीबोली में कविता करने लगे। इसप्रकार खड़ीबोली को धीरे-धीरे संपूर्ण जनता और कवियों का समर्थन प्राप्त हो गया। मुजफ्फरपुर के अयोध्याप्रसाद खत्री ने खड़ी बोली का झंडा उठाया तथा इस आन्दोलन को बहुत तीव्र कर दिया। उन्होंने खड़ीबोली में लिखने के लिए कवियों को बहुत प्रोत्साहित किया। वस्तुतः खड़ी बोली को पद्य-साहित्य के लिए अपना लेना ही आधुनिक साहित्य के युगान्तर का वास्तविक शिलान्यास था।

खड़ीबोली के गद्य एवं उसकी शैली के विकास पर गद्य-साहित्य के प्रसंग में विचार हो चुका है। खड़ीबोली में पद्य-रचना भी

कोई नई बात नहीं थी। निर्गुण-सम्प्रदाय के साधुओं की भाषा में खड़ीबोली का पुट अत्यन्त स्पष्ट था। 'रानी केतकी की कहानी' में खड़ीबोली के कुछ पद्यों का प्रयोग हुआ है। नागरीदासजी ने कुछ गज़लें और दोहे खड़ीबोली में लिखे थे। उनके बाद विक्रम की उन्नीसवी शताब्दी में नजीर अकबरावादी ने कृष्णलीला सम्बन्धी पद लिखे। ललितकिशोरी और ललित माधुरी ने भी खड़ी-बोली में कुछ झुलना छंदों की रचना की। तुकनगिरि गोसाई ने लावनियों में ज्ञानोपदेश दिया। उनके दो शिष्यों ने ब्रह्मज्ञान और प्रेम एवं भक्ति के पारिवारिक वाद-विवाद का एक परम्परा को जन्म दिया। इन्हें क्रमशः 'तुर्रा' और 'कलंगी' कहते हैं। इस प्रकार के वाद-विवादों के अखाड़े आज भी होते हैं। लोक-साहित्य के विशाल साहित्यिक आयोजनों में इस 'तुर्रा कलंगी' का भी बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। लोक-साहित्य में 'लावनी' की परम्परा भी बहुत लम्बी एवं विस्तृत है। धीरे-धीरे हमारी लोक-साहित्य की परम्परायें नष्ट होती जा रही है। उसका सम्यक् अध्ययन भी अभी प्रस्तुत नहीं हुए हैं। लोक-साहित्य विद्वत् साहित्य के लिए प्रेरणा और शक्ति का भण्डार होता है। पुनरुत्थान के समय लोक-साहित्य की प्रवृत्तियाँ और पद्धतियाँ सहज रूप में विद्वत् साहित्य का स्वरूप धारण कर लेती है। भक्ति-काल में यही हुआ। तभी वह इतनी शताब्दियों तक भारत के जनजीवन को प्रेरणा प्रदान कर सका। 'तुर्रा-कलंगी' वाली कवितायें आज भी जनता की जीवन सम्बन्धी व्यापक धारणाओं एवं मनोवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले भक्ति-साहित्य की ही अवशेष हैं। उसी महासंगीत की स्वर-लहरी का यह समास प्रायः कम्पन है। रीति-काल के अन्तिम चरण में खड़ीबोली में भी कवित्त सवैये आदि रचे जाने लगे थे। इस प्रकार खड़ीबोली में पद्य-रचना का कोई नितान्त नवीन प्रयास नहीं था। उसकी भी एक

नूतन प्रयोग की ओर अग्रसर हो रहे थे। नयी विचार-धारा, नवीन कल्पना उनके मस्तिष्क में साकार हो रही थी। यह नवीन क्रान्ति के पूर्व की नीरवता थी। साहित्य-स्रष्टा के सम्मुख कई शैलियाँ और मार्ग थे। वह यह निश्चय नहीं कर पा रहा था कि किस पथ का अनुसरण करे। प्राचीन काव्य-पद्धति और शैली को अपनावे अथवा पाश्चात्य प्रभाव से उद्भूत एवं विकासमान नवीन पद्धति को। पीछे हम उन शैलियों का निर्देश कर चुके हैं जो तत्कालीन कवियों के समक्ष थी। द्विवेदीजी तथा उनके समसामयिक व्यक्तियों के समक्ष नवीन युग के प्रारम्भ का प्रश्न था। प्राचीन काव्य-पद्धति एवं विचार-धारा के पुनरुत्थान द्वारा भी काव्य को प्रगति मिल सकती थी तथा नवीन विचारधारा के निर्माण से भी। युग की परिस्थितियों में नूतनता के लिए अधिक प्रबल प्रेरक शक्तियाँ थीं, इसलिए नवीन मार्ग का ही निर्माण हुआ। पर अतीत की ओर भी उस काल के मनीषियों का ध्यान गया। एक दृष्टि से उसका पुनरुत्थान भी हुआ। नवीन युग के निर्माण में उससे भी पर्याप्त सामग्री ली गई। इसलिए आधुनिक युग और विशेषतः द्विवेदीजी से प्रारंभ होने वाला अधुनातन युग जहाँ एक ओर नवीन युग के निर्माण का काल है, वहाँ वह दूसरी तरफ अतीत के प्रति अधिक सजग चेतना का भी है। इस काल के प्रारंभ से ही हम अपने अतीत का नवीन आलोक में पुनर्मूल्यांकन कर रहे हैं। इससे हमारा अतीत और भी सुदृढ़ होता जा रहा है। इस प्रकार हमारी जीवन और साहित्य की प्राचीन विचार-धारा नितान्त उपेक्षित नहीं रही। पाश्चात्य और भारतीय अथवा नवीन और पुरातन के मिश्रण से निर्मित विचारधारा ही इस युग की प्रमुख सम्पत्ति बन गई।

यह सम्पूर्ण युग एक शब्द में स्वच्छन्दतावादी कहा जा सकता है। रीतिकाल के साहित्य ने रूढ़िवादी शृंखलाओं में जकड़कर

जनजीवन से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। वह केवल दरबार के घेरे में ही पूर्णतः आबद्ध हो गया था। उसके पतनकाल में तो उसकी कलाकारिता हासोन्मुख थी। अनुप्रास, यमक और चमत्कार के अन्य बाह्य साधनों द्वारा कवि लोग 'दूर की कानी कौड़ी' लाने में व्यस्त हो गये तथा भाषा, भाव और विषय, सभी दृष्टियों से कविता संकुचित हो गई। ब्रजभाषा के कृत्रिम एवं पतनशील स्वरूप में जन-जीवन को प्रेरणा देने की क्षमता नहीं रह गई थी। शृंगार के अतिरिक्त कोई भाव तथा नायक-नायिका-भेद के अतिरिक्त कोई विषय इन कवियों के समक्ष नहीं था। कविता का घेरा अत्यन्त संकुचित हो गया, इस संकुचित रूढ़िवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध भारतेन्दु काल में ही प्रतिक्रिया होने लगी। उस कविता के प्रति अरुचि जाग गई। भारतेन्दुजी ने ही कविता को नवीन विषय दे दिये थे। पर भाषा छन्द-विधान आदि में उस समय कोई आमूल परिवर्तन नहीं हो सका। रूढ़िबद्ध साहित्य के विरुद्ध व्यापक प्रतिक्रिया तो द्विवेदी युग में ही हुई। इसका वास्तविक श्रेय द्विवेदीजी को ही है। द्विवेदीजी ने ही आमूल परिवर्तन की प्रेरणा प्रदान की।

रीतिकाल की रूढ़िबद्ध काव्य-धारा जनसाधारण की भावमयी वाग्धारा से नितान्त विच्छिन्न हो गई थी, इसलिए इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप लोक-साहित्य की भावधारा की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था। लोक-साहित्य की अपनी विशिष्ट भावधारा एवं छन्द-विधान होते हैं तथा अभिव्यंजना की विशिष्ट शैलियाँ होती हैं। इनमें पाण्डित्य की कृत्रिमता नहीं, अपितु जनता की नैसर्गिक सहृदयता एवं भावुकता होती है। इनके वर्ण्य-विषय एवं भावधारा से जनता के हृदय से गहरा सम्पर्क होता है। प्रकृति के जिन अनेक रम्यस्थलों में साधारण जनता का मन रमता है, वेही कविता का विषय हो जाते हैं। रीतिकालीन काव्य-धारा के विरुद्ध जिस समय

अपनी परम्परा थी। इसलिए उसमें नवीन की स्थापना एक बड़ी भारी समस्या थी। इस समस्या के प्रति भारतेन्दु-युग का कवि जागरूक हुआ तथा कुछ समाधानों की ओर उन्मुख भी हुआ। पर इसका वास्तविक समाधान तो द्विवेदी युग में ही प्रस्तुत हो सका।

खड़ीबोली के प्रारम्भिक कवियों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या छंद की थी। ब्रजभाषा के छन्दों को खड़ीबोली में ढ़ाल देना सरल काम नहीं था। खड़ीबोली के पद्य-साहित्य की तीन शैलियाँ थीं। कवित-सवैया वाली, उर्दू के छन्दों की तथा लावनी की। उर्दू के छन्दों का प्रयोग हिन्दी वालों ने समीचीन नहीं समझा। कवित्त-सवैये आदि ब्रजभाषा के मँजे हुये छन्द खड़ी बोली के कवियों को अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं हुए। इसलिए उनके समक्ष संस्कृत के छन्दों अथवा लावनी शैली के गीतों को अपनाने का प्रश्न रह गया था। हिन्दी के प्रारम्भिक कवियों ने उपर्युक्त सभी शैलियों में काव्य-रचना प्रारम्भ की। यह तो प्रयोगकाल था, इसलिए उसमें सभी पद्धतियों का प्रयोग आवश्यक और स्वाभाविक था। प्रारंभिक रचनाओं में खड़ीबोली अपना शुद्ध व्याकरण-सम्मत स्वरूप स्थिर नहीं कर सकी। उस पर ब्रजभाषा और उर्दू का पर्याप्त प्रभाव रहा। हाँ वह अपने स्वतंत्र स्वरूप की प्रतिष्ठा के लिये उस समय भी सजग अवश्य थी। धीरे-धीरे खडी बोली अपने स्वतन्त्र एवं प्रौढ़ स्वरूप का विकास करने के लिए संस्कृत की ओर अभिमुख हुई।

इस काल में बहुत से कवि तो ऐसे हुए जो ब्रजभाषा से खड़ी बोली में आये तथा बहुत से ऐसे हुए जिनका विकास द्विवेदी युग में हुआ। पूर्णजी आदि कवियों पर पहिले ही विचार हो चुका है। श्रीधर आदि पर आगे विचार किया जायगा। इस काल के प्रमुख कवि श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर, देवीप्रसाद पूर्ण आदि हैं।

भारतेन्दु युग में खड़ीबोली के काव्य के विकास की दृष्टि से कोई विशेष महत्वपूर्ण कार्य नहीं हो सका। कविता के लिए प्रायः ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता रहा, वही मंजी तथा उसी का विकास हुआ। हाँ, खड़ीबोली-काव्य के लिए एक पीठिका निर्माण का कार्य अवश्य शुरू हो गया। इस युग के अन्तिम चरण में खड़ी बोली को अपनाने की सतर्कता के कारण आशापूर्ण वातावरण का निर्माण अवश्य होने लगा।

द्वितीय उत्थान

जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों तथा पाश्चात्य-प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी-साहित्य में युगान्तर का प्रारंभ तो भारतेन्दुजी के समय से ही हो गया था। पर उसका स्वरूप द्विवेदी-युग में ही स्पष्ट हुआ। इस युग में मानवतावादी भौतिकवाद, बुद्धिवाद, यथार्थवाद, आदर्शवाद आदि जिन अनेक प्रवृत्तियों का विकास हुआ, उनमें से कुछ का पूर्वाभास भारतेन्दु युग में हो होने लगा था, परन्तु द्विवेदी-युग में इन सबको साकारता प्राप्त हुई तथा तृतीय उत्थान में इनके विविध स्वरूपों का विकास हुआ। देश-प्रेम, समाजसुधार, प्रकृति-चित्रण आदि नवीन विषय भारतेन्दु काल के ब्रजभाषा-काव्य में स्थान प्राप्त कर चुके थे। उस काल के खड़ीबोली-काव्य के भी ये ही विषय थे। पर उस काल में ये भाव केवल उपदेशात्मक या बौद्धिक ही रहे। उस काल की शृंगार भक्ति आदि की कवितायें भी भाव-प्रेरित न होकर बौद्धिक ही रहीं। भारतेन्दुजी की मृत्यु के पश्चात् कुछ वर्षों तक हिन्दी-साहित्य की प्रगति कुछ स्थिर रही। एक तरफ पाश्चात्य-साहित्य के वैभव से उसकी अभिभूत एवं आश्चर्यचकित मनस्थिति थी, दूसरी तरफ अपनी रूढ़िवादी प्रवृतियों के प्रति उसके मन में अरुचि जाग्रत हो रही थी। हिन्दी का पाठक और स्रष्टा दोनों ही किसी नवीन वस्तु

सामंजस्य है। द्विवेदीजी ने एक प्रौढ़ विचार-धारा का सूत्रपात किया। उसके प्रमुख तत्वों से साहित्य-जगत् को परिचित कराया। इन्हीं तत्वों के आधार पर उस युग की सम्पूर्ण काव्य-धारा का स्वरूप-संगठन हुआ है। द्विवेदीजी काव्य के इन महान् सिद्धान्तों का प्रारंभिक परिचय मात्र दे पाये, पर इन्हीं तत्वों का गम्भीर विवेचन इस युग में होता रहा और शुक्लजी के द्वारा इन तत्वों को शास्त्रीय गम्भीरता एवं प्रामणिकता प्राप्त हो गई। इस युग की विचार-धारा भारतीय काव्य-दर्शन के पाश्चात्य-शैली एवं समीक्षा-तत्वों के साथ पुनरुत्थान है। यह सामंजस्य इस युग की प्रमुख चेतना है। इसका सूत्रपात द्विवेदीजी ने किया है। और इसके विकास का एक चरण शुक्लजी की विचार धारा में अपनी पूर्णता को प्राप्त हुआ। शुक्लजी का भाव-योग साधारणीकरण, लोकसामान्य की भाव-भूमि तथा लोकमंगल के सिद्धान्त इसी विचार धारा के परिपक्व स्वरुप है।

द्विवेदी-युग के सम्पूर्ण काव्य-साहित्य तथा उसी के परवर्ती अधुनातन विकास के लिए यह विचार-धारा आधार-शिला रही है। इस विचार-धारा ने रीतिकालीन काव्य-सम्बन्धी रूढ़िगत धारणाओं का खण्डन तो किया ही, इसके साथ ही इसने काव्य के लिए नूतन आधार के स्वरूप में एक व्यापक विचार-भूमि प्रदान कर दी। द्विवेदी-युग अधिकतर काव्य के लिए बौद्धिक आधार भूमि का निर्माण करने में ही लगा रहा। इसलिए इस स्वच्छन्दता-वाद के इस चरण को बौद्धिक क्रान्ति का युग कहा जा सकता है।

सब देशों और कालों के साहित्य को वर्ण्य-विषय हमेशा मानव ही रहा है। हाँ, मानव के स्वरूप के सम्बन्ध में धारणायें अवश्य भिन्न-भिन्न रहीं हैं और बदलती रहीं हैं? जहाँ काव्य-क्षेत्र में मानवेतर सृष्टि का ग्रहण हुआ है, वहाँ पर भी उसके मानव-सापेक्ष होने के कारण मानव को ही वर्ण्य-विषय मानना चाहिए।

क्योंकि कवि अपनी मानव-भावनाओं का ही वहाँ पर आरोप करता है, अथवा उस माध्यम से भी वह अपनी ही भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। मानव ही काव्य का वर्ण्य-विषय है, इस सिद्धान्त को आधुनिक काल में निबिड़ भाव से अनुभूत किया गया है। इसके पहले या तो ईश्वर अथवा देवताओं पर मानव की क्रियाओं का आरोप करके वर्णन किया जाता था अथवा मानव को अत्यन्त सीमित घेरे में बन्द करके देखने की प्रक्रिया थी। पर आधुनिक काल में ये दोनों ही बातें नहीं रह गई हैं। अब तो काव्य में मानव के स्वाभाविक एवं सामान्य स्वरूप की प्रतिष्ठा हो गई है। द्विवेदी काल के काव्य में मानव की किसी प्रकार की असाधारणता के लिए स्थान नहीं रह गया। इसके विपरीत देवता तथा राम कृष्ण आदि ईश्वरावतार तक का ग्रहण भी मानव के रूप में ही हुआ है। आधुनिक काल में राम-कृष्ण तथा अन्य देवताओं पर काव्य लिखे गये हैं, पर उनमें भी अलौकिक एवं असाधारण स्वरूप का ग्रहण नहीं हुआ है। गुप्तजी राम को भगवान ही मानते हैं, पर उनके काव्य में वे मानव रूप में ही प्रतिष्ठित हैं। 'प्रिय प्रवास' के कृष्ण लोकनायक के रूप में ही चित्रित हुए हैं। इस काल में विभूतिमान को ही अवतार माना गया है। इस प्रकार अवतारों के सम्बन्ध में भी अलौकिकता के लिए विशेष स्थान नहीं रह गया है। आज के साहित्य में मानव के सामान्य स्वरूप का ही ग्रहण हुआ है। उसकी दुर्बलता और शक्ति, गुण तथा दोष सभी का चित्रण है।

इस काल का दूसरा प्रधान विषय है, प्रकृति। रीतिकाल में प्रकृति के आलंकारिक एवं उद्दीपक स्वरूप का ही चित्रण होता था। पर आधुनिक काल में इस संकुचित दृष्टि का विरोध हुआ। प्रकृति के यथार्थ स्वरूप का चित्रण प्रारम्भ हुआ तथा प्रकृति को आलंबन रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रबल हो गई। इस प्रकार इस युग

व्यापक प्रतिक्रिया प्रारंभ हो गई थी, उस समय खड़ीबोली के लोक-साहित्य की क्या अवस्था थी, इसका निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं। क्रान्तियुग के प्रारम्भ में इस लोक-साहित्य की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट होना तथा विद्वत्-साहित्य के लिए उनसे प्रेरणा प्राप्त करना नितान्त स्वभाविक था। इन व्यक्तियों में सबसे प्रमुख है पं० श्रीधर पाठक। उन्होंने प्रकृति के सरस एवं स्वाभाविक स्थलों की बहुत ही सुन्दर नियोजना की है। शुक्ल जी ने लोक-साहित्य की प्रेरणा पर अधिष्ठित इस काव्य धारा को नैसर्गिक स्वच्छन्दता-वाद के नाम से अभिहित किया है। पर आधुनिक हिन्दी-साहित्य इस स्वच्छन्दतावाद की धारा को अधिक नहीं अपना सका। भक्तिकाल की तरह इस युग के लोक-साहित्य में कोई स्थायी चेतना नहीं थी, जो सम्पूर्ण साहित्य को एक नवीन स्वरूप प्रदान करने में समर्थ होती। इसीलिए द्विवेदीजी को नवीन युग-चेतना की उद्भावना करनी पड़ी जिसको लोक-साहित्य से कम तथा प्राचीन संस्कृत-साहित्य तथा अंग्रेजी साहित्य से अधिक प्रेरणा प्राप्त हुई। इस चेतना का निर्माण इन प्रभावों के मिश्रण से ही हुआ है।

परम्परागत रूढ़ियों का खण्डन तथा नूतन काव्य पद्धति की प्रतिष्ठा के कारण सम्पूर्ण आधुनिक काल स्वच्छन्दतावादी युग कहा जा सकता है। इसके दो चरण है द्विवेदी युग एवं छायावादी युग। द्विवेदी-युग में इस धारा को बौद्धिक स्वरूप का संगठन मात्र हुआ है। इसमें प्राचीन रूढ़ियों के खण्डन एवं विरोध के अतिरिक्त काव्य-पद्धति के लिए नूतन विचार-धारा के निर्माण का कार्य भी हुआ। द्विवेदीजी ने नायिका-भेद को संकुचित घेरे से निकालकर साहित्य को जीवन का व्यापक क्षेत्र प्रदान किया। उसे जीवन की खुली धूप में स्वस्थ-विकास करने का अवसर प्राप्त हुआ। रीतिकालीन विलासिता एवं कामुकता के

स्थान पर जीवन के उच्च नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई। सम्पूर्ण-साहित्य में सुरुचि एवं नैतिकता का स्वर मुखरित हो उठा। रीतिकाल की कविता में चमत्कार की प्रधानता थी। कल्पना की उड़ान एवं उक्ति वैचित्र्य ही उस काल की कविता के प्राण थे। द्विवेदीजी ने अपने निबन्धों में काव्य-स्वरूप को विवेचन करते हुए उसके आत्मा का निरूपण किया है। वे अर्थ-सौरस्य को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। द्विवेदीजी का अर्थ-सौरस्य प्राचीन रस एवं ध्वनि सिद्धान्त का ही दूसरा रूप है। हाँ उनके विवेचन में उतना गाम्भीर्य नहीं आ पाया है। विवेचन की प्रक्रिया भी पाश्चात्य शैली से प्रभावित है। पर वस्तुतः सिद्धान्त वही प्राचीन है। द्विवेदीजी ने काव्य में कल्पना के महत्व को अस्वीकार नहीं किया है। पर वे श्रेष्ठ कवि में अनुभूति तत्व का ही प्राधान्य मानते हैं। जब तक कवि वर्ण्य-विषय के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित नहीं कर लेता है तब तक वह अर्थ-सौरस्य का सृजय करने में असमर्थ रहता है। उक्त-चमत्कार एवं अलंकार-विधान भी अर्थ-सौरस्य के लिए ही होने चाहिए। कवि-हृदय की अनुभूति जब असाधारण एवं असंभव का आश्रय लेती है, तब भी अर्थ-सौरस्य की हानि होती है। अनुभूति की काव्योपयोगिता का मानदण्ड असलियत ही है। इससे दूर जाने पर तो सम्पूर्ण काव्य केवल कल्पना-जगत् की वस्तु रह जाता है। उसमें न अर्थ-सौरस्य की सृष्टि हो पाती है और न वह प्रभावोत्पादक ही बन पाता है। द्विवेदीजी काव्य के प्रभाव पक्ष की उपेक्षा नहीं करते हैं। वे काव्य को मनोरंजन का साधन मात्र नहीं मानते हैं, अपितु उसके नैतिक प्रभाव को महत्व देते हैं। इस प्रकार द्विवेदीजी ने काव्य-स्वरूप का पुनर्संगठन प्रारम्भ किया था। इसमें अनुभूति और कल्पना रस और चमत्कार, नीति और मनोरंजन यथार्थ और आदर्श तथा व्यक्ति और समाज क

है। हिन्दी-साहित्य के अतीत के युगों में वीर, भक्ति, रति आदि जिन भावनाओं का प्राधान्य रहा, उन सभी को इस काल में प्रश्रय मिला है। उन युगों में जिस प्रकार ये भावनायें जीवन का मूलभूत आधार थीं, उसी प्रकार इस युग में हृदय की किसी एक वृत्ति का निर्देश नहीं हो सकता है। यह बुद्धिवादी युग है। इसमें जीवन के नवीन मान-मूल्यों की परख हो रही है, उसको नवीन आदर्श में ढालने का प्रयत्न किया जा रहा है। आज का जीवन-दर्शन इतना सरल नहीं है कि हृदय की एक वृत्ति में साकार हो सके। फिर भी ऐसी एक-आध भावना का निर्देश संभव है जिसकी आधुनिक कविता में प्रमुख रूप से अभिव्यक्ति हुई है। इसमें से सबसे प्रमुख है, प्रेम। प्रेम जीवन की व्यापक भावना है, किसी भी युग और देश का साहित्य इस भावना की उपेक्षा नहीं कर पाता है। इसलिए इसका स्वरूप निर्धारण ही महत्वपूर्ण है। भक्ति और रति दोनों दो प्रेम के ही रूपान्तर हैं। पर आधुनिक काल का प्रेम इन दोनों छोरों से छूता हुआ भी इनसे भिन्न है। उसका आलम्बन भक्ति की तरह अलौकिक नहीं, पर उसमें रीतिकाल की सी पार्थिव विलासिता भी नहीं है। एक तरफ उसमें भक्ति की सी पवित्रता एवं स्वर्गीयता है तो दूसरी तरफ रति की मादकता एवं मांसलता भी है। उसकी स्वर्गीयता आलम्बन की आलौकिकता पर निर्भर नहीं, परन्तु वह तो स्वरूप से ही ऐसी है। आज के प्रेम का आलम्बन यथार्थ जगत् का मानव है; गुण-दोषमय सामान्य मानव। यह रूढ़िग्रस्त प्राचीनता का प्रतीक नहीं, अपितु नवीन आदर्शों का अग्रदूत मानव है। वह अतीत और भविष्य की अपेक्षा वर्तमान के प्रति अधिक सजग है। अतीत के गौरव के प्रति उसके हृदय में जो सम्मान है, वह भी वर्तमान के निर्माण की अपेक्षा से ही वह भविष्य की कल्पना भी वर्तमान के लिए ही करता है। इस प्रकार

आज के युग के प्रेम का आलम्बन वर्तमान संघर्षमय जीवन है। युग की प्रतिक्रियाशील प्रवृत्तियों के विरुद्ध आज के मानव के हृदय में क्षोभ तथा अपने असामर्थ्य की भावना से जनित नैराश्य एवं अवसाद भी है। व्यापक दृष्टि से इन सभी में प्रेम-भाव का सूत्र अनस्यूत है। एक प्रकार से प्रेम का यह उपर्युक्त स्वरूप इस युग के जीवन-दर्शन का प्रमुख तत्व कहा जा सकता है।

रीतिकाल प्रमुखतः मुक्तक रचनाओं का युग था। द्विवेदीजी ने कवियों को विभिन्न काव्य-रूपों को अपनाने की प्रेरणा प्रदान की। उन्होंने प्राचीन पौराणिक एवं ऐतिहासिक वीरों के आख्यानों पर कविता करने के लिए कवियों को प्रोत्साहित किया। संस्कृत तथा अंग्रेजी-साहित्य से काव्य की विभिन्न शैलियों, रूपों एवं छंदों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया। इसके परिणाम-स्वरूप द्वितीय उत्थान में अनेक काव्य-रूपों का विकास प्रारंभ हुआ। उसमें मुक्तक, प्रबन्ध गीति आदि सभी रूपों को कवियों ने अपनाया तथा उनका कलात्मक विकास भी किया। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रथम उत्थान एवं द्वितीय उत्थान के प्रथम चरण में मुक्तक रचनाओं का ही प्राधान्य रहा। मुक्तक-रचना की यह शैली रीति काल का ही अवशेष थी। नाथूराम शंकर अदि के छंदों में अलंकार का चमत्कार था। दीनजी तथा हरिऔधजी ने जो चौपदे लिखे उनमें बक्रता तथा अभिव्यंजना-कौशल है, उर्दू की सी वचनभंगिमा के भी दर्शन होते हैं। प्रारंभिक काल में प्रतापनारायण मिश्र ने बुढ़ापा आदि विषयों पर पद्यात्मक निबन्ध भी लिखे, जिनमें भावात्मकता एवं विचार का बहुत सुन्दर मिश्रण था। पर द्विवेदीजी की प्रेरणा से आधुनिक साहित्य इतिवृत्तात्मकता की ओर बढ़ने लगा। उसमें वैसी भाव-प्रवणता नहीं रह गई। कवियों ने ऐतिहासिक, पौराणिक, अथवा काल्पनिक आख्यानों के आधार पर खण्ड-काव्य, महाकाव्य तथा आख्यानमक गीतों (Ballads) का सृजन किया। रीतिकाल में

में प्रकृति स्वतंत्र रूप में भी काव्य का वर्ण्य-विषय बन गई है। आज के कवि को प्रकृति-निरीक्षण से सहज आनन्द की अनुभूति होती है। वह उसके अपूर्व एवं अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध होजाता है। पर यह मुग्धता संस्कृत-कवियों की तरह प्रकृति के दृश्यों में घुल मिलकर अपने आपको विस्मृत कर देने की कोटि तक नहीं पहुँच पाई है। आज का युग व्यक्तिवादी एवं बुद्धिवादी है, इसलिए प्रकृति के सहज स्वरूप में भी किसी अन्य वस्तु के दर्शन करना चाहता है। यही कारण है कि आज के काव्य की प्रकृति मानव-सापेक्ष अधिक है। कहीं तो वह मानव की पृष्ठ-भूमि का कार्य करती है। कहीं वह मानव की तरह व्यवहार करती हुई चित्रित की जाती है। छायावादी कवियों ने तो प्रकृति में अपनी ही भावनाओं के दर्शन करने प्रारंभ कर दिये। द्विवेदी-युग की अपेक्षा छायावाद के कवि ने अपने काव्य में प्रकृति को अधिक स्थान दिया है। उन्होंने प्रकृति को मानव का प्रतिरूप ही मान लिया। उसकी प्रकृति मानव के सुख-दुःखों से अत्यन्त प्रभावित होती है। छायावादी कवियों ने अपने ही मन के अवसाद एवं नैराश्य से प्रकृति को कहीं-कहीं आक्रान्त भी देखा। इस प्रकार उनके प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण में संवेदना के हेत्वाभास (Pathetic Fallacy) का प्राधान्य हो गया। छायावादी कवियों ने तो प्रकृति में सर्वव्यापी चैतन्य के भी दर्शन किये। उनका दर्शन सर्वात्मचेतनवाद (Panthcism) है। छायावादी कवि ने प्रकृति के प्रत्येक दृश्य को मानव की तरह व्यष्टि चेतन समझा है। आधुनिक काल में उपदेश के लिए भी प्रकृति का ग्रहण हुआ है। इस रूप का सुन्दर विकास तो उन कविताओं में हुआ है जिनमें प्रकृति चेतन रूप में मानव को संदेश एवं जीवन की प्रेरणा प्रदान करती है। इस काल में प्रकृति-चित्रण की विविध शैलियाँ रही हैं और उनका विकास हुआ है। प्रकृति-चित्रण की रीतिकालीन शैलियों का भी इस काल में विकास

हुआ है। प्रकृति का उद्दीपक रूप तथा अप्रस्तुत विधान के लिए उसका प्रयोग—ये दो रूप रीतिकालीन प्रकृति-चित्रण की प्रधान विशेषतायें थीं। इस काल में इन दोनों स्वरूपों की भी उपेक्षा नहीं हुई है। आधुनिक काल में नवीन उपमानों के निर्माण के लिए प्रधान स्रोत प्रकृति ही रहा है। प्रकृति के मादक चित्रों में उसका उद्दीपक रूप अत्यन्त स्पष्ट है। इस काल में प्रकृति के उद्दीपक रूप के साथ ही मानव-भावना से उसके तादात्म्य एवं चित्रण की यथार्थता का भी सुन्दर मिश्रण है। इसलिए उसका उद्दीपक रूप केवल परम्परा-भुक्त नहीं रह गया है, अपितु उसमें अनुभूति-जन्य मार्मिकता है।

आधुनिक कविता का तीसरा प्रमुख विषय है, राष्ट्र। इसके भी अनेक स्वरूपों का विकास हुआ है। अत्यन्त प्राचीन भावना की परम्परा के अनुकरण पर जन्म-भूमि की देवता के रूप में प्रार्थना से लेकर उसके नदी, नाले पहाड़ी वाले स्थूल एवं बाह्य रूप तक के प्रति सम्मान और प्रेम का चित्रण हुआ है। भारत के अतीत के गौरव के प्रति गर्व तथा वर्तमान पतन से जनित विक्षोभ भी इस काल की प्रमुख भावनायें हैं। इनके मूल में भी राष्ट्रीयता ही है। इसलिए इनका भी इसी विषय में ही अन्तर्भाव है। मातृभूमि की बलिवेदी पर मर मिटने वाले वीरों पर प्रशस्तियाँ भी इस काल में लिखी गईं। उनमें उन वीरों के हृदय के उत्साह एवं उल्लास के चित्र हैं। वे कवितायें देश को त्याग और आशा का संदेश देती हैं। वस्तुतः मातृ-भूमि के प्रति प्रेम इस युग की व्यापक एवं प्रतिनिधि भावना है। वह अनेक रूपों में व्यक्त हुई है। यह अहिंसात्मक एवं ध्वंसात्मक दोनों प्रकार की क्रान्तियों को आधार बना कर अभिव्यक्त हुई हैं।

यह हम कई स्थानों पर कह चुके हैं कि आधुनिक काल की कविता अनेक प्रवृत्तियों और भावनाओं का विचित्र संघात

विचारों के सांकर्य की अभिव्यक्ति के लिए अनेक छन्दों की मात्राओं के मिश्रण से बना हुआ नवीन छन्द ही उपयुक्त सिद्ध हुआ।

व्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली का प्रयोग एक क्रान्तिकारी परिवर्तन था। खड़ीबोली इसके पूर्व के विद्वत्साहित्य के लिए मान्य भाषा के रूप में नहीं रही। कुछ कवियों ने चाहे इसको प्रश्रय दिया हो, पर किसी निश्चित परम्परा का निर्माण नहीं हो सका। इसलिए खड़ी बोली के पास उपयुक्त शब्द-भण्डार का अभाव था। फिर यह काल तो साहित्य के बहुमुखी विकास का काल था, इसमें तो बहुत विशाल शब्द भण्डार की आवश्यकता थी। व्रजभाषा ने जो शब्द-समूह एकत्र किया था, वह तो विलासिता अथवा भक्ति की अनुभूति के ही उपयुक्त था। इस प्रकार हिन्दी को अपने शब्द-कोष की समृद्धि के लिए परमुखापेक्षी होना पड़ा। उसने संस्कृत अंग्रेजों और उर्दू से बहुत बड़ा शब्द-समूह लिया। संस्कृत तो उसके लिए प्रधान स्रोत था ही, इसके अतिरिक्त उसको नवीन विचार एवं भाव-धारा के अभिव्यक्त करने के लिए अंग्रेजों के शब्दों और मुहाबरों को रूपान्तर भी करने पड़े। द्वितीय उत्थान में खड़ीबोली अपने शब्द-भण्डार की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि में लगी रही और इसमें उसने पर्याप्त प्रगति भी की। द्विवेदीजी ने खड़ी बोली को व्याकरण-सम्मत एक समर्थ स्वरूप भी प्रदान किया। पर इस काल की भाषा में इतिवृत्तात्मकता ही रही। वह साधारण वर्णन एवं परिचय के ही उपयुक्त बन सकी। प्रौढ़ विचारों को अभिव्यक्ति के उपयुक्त उसमें गम्भीरता भी आई। पर नवीन भाव एवं नूतन विचार-धारा की अभिव्यक्ति के लिए जिस प्रकार का अभिव्यंजना-कौशल अपेक्षित तथा चिन्तन की विविधता एवं सूक्ष्मता के लिए उसकी गहराई में प्रवेश करने की भाषा की जिस क्षमता की आवश्यकता थी

वह तो तृतीय उत्थान में ही आ सकी। तृतीय उत्थान में अंग्रेजी के ध्वन्यात्मक शब्दों तथा चित्रमय विशेषणों का प्रयोग प्रारंभ हुआ इस युग मे संस्कृत की भाववाचक संज्ञाओं का प्रयोग बहुत बढ़ गया। द्वितीय उत्थान में अलंकारों के लिए नवीन उपमानों की उद्भावना तो होने लगी; अलंकार-चमत्कार की सृष्टि करने न होकर भाव-प्रेरित ही अधिक हुए है। पर अंग्रेज़ी के अनुकरण पर मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय में ध्वनिचित्रण आदि नवीन अलंकारों की कल्पना तो तृतीय उत्थान हीं की वस्तु है। उस काल में ध्वनात्मकता भाषा की प्रधान विशेषता हो गई।

द्वितीय उत्थान में काव्य के क्षेत्र का पर्याप्त विकास हुआ नवीन काव्य रूपों की सृष्टि हुई। उसमें जीवन की व्याख्या की गम्भीरता भी आई पर उसकी कलात्मकता ध्वनात्मकता एवं भाव-सौष्ठव का वास्तविक तृतीय उत्थान में हीं हुआ। द्विवेदी युग तो कविता में सूक्ति उपदेश एवं चमत्कार की प्रवृत्ति से आगे बढ़कर वर्णनात्मक तथा भावात्मक ही हो पाई। उसमें सहज, एवं सरल भावों की हृदय स्पर्शिता की सृष्टि करने में तो कुछ कवि सफल हुए। पर वे उसमें अभिव्यंजना-कौशल की सूक्ष्मता एवं वैचित्र्य नहीं ला पाये। यही कारण है कि इस युग की सम्पूर्ण कविता की प्रमुख विशेषता को इतिवृत्तात्मकता के नाम से अभिहित किया जा सकता है। और ऐसा हीं हुआ है।

प्रमुख कवि

पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध'

उपाध्यायजी द्विवेदीजी के पहले ही काव्य क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। ये पहले ब्रजभाषा में काव्य-रचना किया करते थे उन कविताओं का आदर्श प्राचीन था, उनका वर्ण्य-विषय भी नायिका भेद ही था। इनकी ऐसी कवितायें रसकलश में संकलित

प्रबन्ध-काव्यों की परम्परा प्रायः क्षीण होकर समाप्त सी हो चली थी। आधुनिक हिन्दी-कविता के प्रारंभिक काल में भी कवियों का ध्यान इस ओर नहीं जा पाया। गुप्तजी, हरिऔधजी आदि ने, प्रबन्ध-काव्य लिखने प्रारंभ किये। उसके बाद तो यह परम्परा बराबर विकसित हो होती गई है। आज भी इस परम्परा में काव्य लिखे जाते हैं। पहले के प्रबन्ध-काव्यों में इतिवृत्त और नीति के उपदेश ही अधिक रहे। उनमें उच्च-कोटि के भाव-सौष्ठव की सृष्टि नहीं हो सकी। हाँ, भाषा का निर्माण अवश्य हुआ तथा छन्दों में भी प्रयोग द्वारा सुघरता आई। लेकिन बाद में धीरे-धीरे इन प्रबन्ध-काव्यों में नवीन कला-कौशल एवं भाव-सौन्दर्य के भी दर्शन होने लगे। भाव-सौष्ठव की वास्तविक उत्कृष्टता तो तृतीय उत्थान में ही आ सकी। पर द्वितीय उत्थान के अन्तिम चरण में ही कथा-प्रवाह की रोचकता के लिए नाटकीयता तथा अन्य तत्वों को कवि लोग अपनाने लगे थे। गुप्तजी के 'जयद्रथ-बध' तथा हरिऔधजी के 'प्रियप्रवास' की अपेक्षा रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' और 'मिलन' में कथानक का वैचित्र्य एवं नाटकीयता अधिक है। आगे चलकर इन काव्यों में चरित्र-वैचित्र्य की भी सृष्टि होने लगी। छायावादी युग के प्रबन्ध-काव्यों मे जातीयता तथा चरित्र-वैचित्र्य का ही सौन्दर्य अधिक रह गया। उनमें कथा के सूत्र अत्यन्त क्षीण एवं संकेतात्मक हो गये। अंग्रेजी के बैलेड के अनुकरण पर हिन्दी में भी आख्यानक गीत लिखे गये। इनमें गुप्तजी के 'रंग में भंग' 'विकट भट' सुभद्रा कुमारी की 'झाँसी की रानी' सियारामशरण का 'मौर्य्यजिय' आदि प्रसिद्ध है। ऐसे काव्यों में वीरता और पराक्रम का वर्णन रहता है तथा कथा सहज सरल तथा स्वच्छन्द वेग से बढ़ती है। ऐसे काव्यों में वर्णन अधिक नहीं रहते। गीति-काव्य का वास्तविक विकास तृतीय उत्थान में ही हुआ उस पर वहीं विचार किया जायेगा। इस काल में ही

नाथूराम शंकर ने 'व्यंग-गीति', गुप्तजी ने 'पत्र-गीति' तथा हरिऔधजी आदि ने 'शोक-गीति' लिखे हैं। पर यह विधा तृतीय उत्थान की ही है, इसलिए इन सब पर भी वहीं विवेचन करेंगे।

आधुनिक काल छन्दों की क्रान्ति का भी युग है। इसमें हिन्दी के परम्परागत छन्दों के अतिरिक्त संस्कृत, लोक-साहित्य, बंगला अंग्रेजी और उर्दू से भी छन्द ग्रहण किये गये इतना ही नहीं विभिन्न छन्द-पद्धतियों के मिश्रण से नवीन छन्दों की सृष्टि भी हुई। मुक्तक-काव्य के लिए विभिन्न वर्णिक एवं मात्रिक छंदों का प्रयोग होता रहा। पर जब हिन्दी में गीति-काव्य की परम्परा का प्राधान्य होने लगा तो छन्द की समस्या भी प्रस्तुत हुई। हिन्दी में गीति-काव्य के लिए 'पद' के अतिरिक्त कोई दूसरा छन्द नहीं था हिन्दी काव्यों ने गजल, लावनी और कजरी को भी अपनाया। पर बाद में हिन्दी के वर्णिक अथवा मात्रिक छन्दों के साथ इनके अन्त्यानुप्रास के मिश्रण से नबीन छन्दों की सृष्टि हुई। पं० माथुराम शंकर ने ऐसे कई एक छन्दों की उद्भावना की। 'कलाधरात्मक राजगीत' आदि ऐसे कई एक नवीन छन्दों का जन्म हुआ। हिन्दी में प्रबन्ध-काव्य के लिए वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ। प्रसादजी ने अतुकान्त मात्रिक छन्द लिखने की परम्परा को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध काव्य के लिए भी दो एक नये छन्दों की सृष्टि हुई। कविन्त के आधार पर अतुकान्त मुक्तक छन्द तथा गुप्तजी का 'मधुप' छन्द ऐसे ही दो नवीन छन्द है। छायावादी कवियों ने भी कई नवीन छन्दों की उद्भावना की। पन्तजी का 'स्वच्छन्द-छन्द' तथा निरालाजी का 'मुक्तक-छन्द' इसके उदाहरण है। छायावाद के कवियों ने एक ही छन्द की विभिन्न पंक्तियों में मात्राओं की संख्या भिन्न-भिन्न रखी। यह उनकी स्वच्छन्द अनुभूति को व्यक्त करने के लिए आवश्यक सा हो गया था। एक छन्द में अनेक मनोभावों तथा

हैं। उसी समय इनका उपनाम हरिऔधजी हो गया था। तब से ये इसी नाम से प्रसिद्ध हैं। पर जब स्वच्छन्दतावादी युग का प्रारम्भ हुआ तथा खड़ीबोली को काव्य की भाषा स्वीकार करने का आन्दोलन हुआ, उसी समय इन्होंने भी समय की प्रगति के साथ अपना दृष्टिकोण बदला। ये भी खड़ीबोली में कविता करने लगे। 'हरिऔध' हिन्दी-साहित्य की उन प्रारंभिक महान् प्रतिमाओं में से हैं, जिन्होंने खड़ीबोली को काव्य की भाषा के सिंहासन पर आरुढ़ किया था। प्रारम्भ में खड़ीबोली की अभिव्यंजना-क्षमता में लोगों को संदेह था, पर उपाध्यायजी, द्विवेदीजी आदि के अथक परिश्रम से उसका परिमार्जन हुआ। उसमें काव्योपयोगी सरसता, माधुर्य और शक्ति आगई। इस दृष्टि से उपाध्यायजी खड़ीबोली के प्रारंभिक निर्भायकों में से हैं। पहले वे खड़ीबोली के ठेठ रूप को उर्दू के छन्दों में ढ़ालने के ही समर्थक थे। उन्होंने इस शैली में काव्य-रचना भी की। पर बाद में जब द्विवेदीजी ने संस्कृत छन्दों की ओर हिन्दी-जगत् का ध्यान आकृष्ट किया तथा उपाध्यायजी को भी हिन्दी के विकास की वास्तविक क्षमता सस्कृत से निकट सम्पर्क स्थापित करने में ही प्रतीत हुई तो वे भी संस्कृत वर्णवृत्तों की रचना करने लगे। उन्होंने इस शैली में भाषा को अत्यधिक संस्कृत-गर्भित कर दिया। इससे उनकी भाषा में खड़ीबोली का सहज सौन्दर्य तो नहीं रहा, वह संस्कृत से आक्रान्त हो गई, पर हिन्दी के शब्द-भण्डार की वृद्धि हुई। संस्कृत के अतुल शब्द-भण्डार का द्वार हिन्दी के लिए उन्मुक्त हो गया। यह एक क्रान्ति थी जिसमें हिन्दी के भावी विकास के बीज अन्तर्हित थे। इसी प्रकार संस्कृत के वर्ण-वृत्तों के प्रयोग द्वारा भी उपाध्यायजी ने हिन्दी को प्रबन्ध-काव्य के लिए उपयुक्त छन्द प्रदान कर दिये। इससे हिन्दी केवल मुक्तक शैली की सीमा में बंधी न रह कर प्रबन्ध-काव्यों के विस्तृत क्षेत्र में आकर विकसित हो सकी।

जीवन के अनेकमुखी गम्भीर प्रसंगों के चित्रण के लिए खड़ीबोली को संस्कृत के वर्णवृत्तों में ढ़ालना तथा संस्कृत की कोमलकांत पदावली से उसकी श्री वृद्धि करना—दोनों महत्वपूर्ण एवं युग-प्रवर्त्तक कार्य थे। उपाध्यायजी भी इस श्रेय के भागी हैं।

इनकी प्रधान काव्य-रचनायें 'प्रिय-प्रवास' और 'वैदेहीवनवास' हैं। 'प्रिय-प्रवास' उस काल की रचना है जब हिन्दी में प्रबन्ध-काव्यों का अभाव था। यह हिन्दी का सर्वप्रथम महाकाव्य है। इसकी कथा तो अत्यन्त प्राचीन और बहुत छोटी है। कृष्ण के मथुरा चले जाने के कारण यशोदा, नन्द तथा गोपियों की विरह-व्यथा—इतनी छोटी सी कथा को लेकर महाकाव्य का सृजन ही इनकी बड़ी भारी विशेषता है। कथा-भाग के परिचित तथा बहुत सूक्ष्म होने के कारण ही इसमें प्रबन्ध की धारा की अपेक्षा भाव-व्यंजनात्मक और वर्णनात्मक स्थलों का प्राचुर्य है। कृष्ण जन्म के समय का आनन्दोत्सव. ब्रज की सजावट, गोचारण का दृश्य, विरह की विभिन्न मानसिक दशाओं का बहुत ही हृदयग्राही वर्णन है। मानसिक दशाओं के चित्रण के समान ही बाह्य-प्रकृति तथा रूप-माधुरी का भी बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। इस दृश्य-चित्रण में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। इन दोनों में ही कवि का दृष्टिकोण प्राचीन रहा है। इसमें परम्परा का पालन अधिक है। फिर भी कुछ दृश्य अत्यन्त सजीव है। 'वैदेही वनवास' में प्रबन्ध की धारा अधिक स्पष्ट है। कथा में गति है। कवि को 'प्रिय प्रवास' की तरह वर्णन-प्रधान स्थलों के द्वारा पुस्तक को महाकाव्य के उपयुक्त आकार देने की चेष्टा नहीं करनी पड़ी है।

हरिऔधजी ने राधा और कृष्ण के प्रेम में राष्ट्रीय भावना और सेवा-परायणता के भाव भर दिये हैं। यह आधुनिक मानवता-वादी विचार-धारा का स्पष्ट प्रभाव है। यह काव्य-विषयों में नवीनता ला देने की प्रवृति भी है। इसीलिए इतने प्राचीन विषयों में

नवीन विचार-धारा को स्थान मिल गया है। 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण का अलौकिक रूप नहीं रहा। उन्होंने यहाँ पर देश-सेवक का लौकिक तथा मानव रूप धारण कर लिया है। कृष्ण ने सब गोपों में एक संगठन और मैत्री का भाव जाग्रत कर दिया। गोपियाँ कृष्ण के विरह में व्यथित हैं। पर व्रज भूमि को छोड़कर कृष्ण से मिलने के लिये न जाने का कारण देश और जन्मभूमि का प्रेम भी है। वे ऐसे किसी स्थान में नहीं जा सकतीं जहाँ पर जमुना नहीं है। 'यदुनाथ' की अपेक्षा "ब्रजेस ही हमें प्रिय है" आदि वाक्यों द्वारा हरिऔधजी ने गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम अनन्यता के साथ ही ब्रजभूमि के प्रति प्रेम की भी व्यजंना की है। फिर भी राष्ट्र-प्रेम की उक्तियों द्वारा गोपियों के कृष्ण प्रेम की अनन्यता कुछ शिथिल पड़ जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर राष्ट्र-प्रेम की यह भावना उस काल की वस्तु नहीं प्रतीत होती है। ब्रजभूमि पवित्र है, वहाँ पर नित्य रास होता है, यह सब पुष्टिमार्गी भक्तों का विश्वास रहा है। इसलिए ये भक्त इस पवित्र भूमि को जीवन भर छोड़ना नहीं चाहते हैं। गोपियाँ भक्त होने के कारण इस भूमि को नहीं छोड़ रहीं हैं। इस दार्शनिक और भक्ति-सिद्धान्त को कारण न बनाकर राष्ट्र-प्रेम को कारण बनाने में कवि की नवीन उद्भावना का परिचय अवश्य मिलता है, पर कृष्ण-प्रेम की अनन्यता में थोड़ी सी बाधा भी आई है। फिर भी गोपियों में राष्ट्र-प्रेम की भावना दर्शनीय है:—

जहाँ न वृंदावन है विराजता
नहाँ नहीं है व्रज-भू-मनोहरा।
न स्वर्ग है वांच्छित, है जहाँ नहीं,
प्रवाहिता भानुसुता प्रफुल्लिता।

विरह दुःखिता राधा को इतनी अधिक सेवा-परायण बनाकर कवि ने अपनी प्रतिभा और नवीन उद्भावना का अधिक सफल प्रदर्शन किया है। विरह-वेदना में हृदय का अत्यन्त निर्मल एवं

पवित्र होकर पर दुःख-कातर हो जाना पूर्णतः श्लाघ्य और मानवीय है। राधा का यशोदा, नन्द तथा अन्य गोपी गोपियों को सान्त्वना देना, उनके कार्य में सहायता प्रदान करना, उनकी विरह-व्यथा को हार्दिक सहानुभूति द्वारा कम कर देना आदि बातों से राधा का चरित्र अत्यन्त उत्कृष्ट और प्रातः स्मरणीय हो गया है। वह कृष्ण के विरह की व्यथा मौन रह कर सह लेती है। इससे उसका चरित्र और भी ऊँचा हो जाता है। इस चरित्र-कल्पना में आधुनिक जीवन की प्रेरणा का प्रभाव भी स्पष्ट है। राधा में भारतीय नारी का आदर्श रूप दिखाने की चेष्टा है। कवि की यह नवीन उद्भावना आज के जीवन की दृष्टि से सराहनीय है। इसके द्वारा वे स्त्री-जीवन के उच्चतम आदर्श की ओर संकेत कर रहे हैं।

कृष्ण को कर्मयोगी महापुरुष तथा राधा को सेवा-परायणा स्त्री के केवल मानवीय एवं लौकिक रूप की कल्पना आधुनिक युग की काव्य-सम्बन्धी विचार-धारा का स्पष्ट परिणाम है। इस युग के काव्य में ईश्वर के अलौकिक रूप का स्थान मानव के लौकिक रूप ने ले लिया था। आधुनिक युग की प्रतिनिधि विचार-धारा का ही फल हरिऔधजी के कृष्ण और राधा हैं। दयानन्द आदि समाज-सुधारकों तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव ने अवतार-वाद के प्रति प्राचीन परम्परागत श्रद्धा-भावना को कुछ कमजोर कर दिया। अवतारवाद के प्रति जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया गया उसमें अवतार महापुरुष और लोकनायक हो गये। हरिऔधजी ने कृष्ण और राधा के आधुनिक संस्कार के स्वरूप को ही अपनाया है। इस प्रकार उन्होंने नये विषय एवं चरित्र सम्बन्धी आधुनिक युगान्तार में भी सहयोग दिया है।

हरिऔधजी ने प्रकृति-चित्रण खूब किया है। उन्होंने प्रकृति का बिंब ग्रहण कराने वाली पद्धति को ही अधिकतर अपनाया है। हाँ, कहीं कहीं वह वस्तु-गणना मात्रा भी रह गयी है। उपाध्यायजी

ने प्रकृति का आलंबन और उद्दीपन दोनों रूपों में ही चित्रण किया है। अनेक स्थलों में उनकी प्रकृति कृष्ण के विरह में व्यथित भी है। विरहिणी राधा के प्रति समवेदना के भाव में रंगी हुई प्रकृति का वर्णन तो अनेक स्थानों पर हुआ है। उपाध्यायजी में कहीं-कहीं प्रकृति के मानवी-करण तथा उसके चेतन रूप के वर्णन के संकेत भी मिलते हैं। हिन्दी साहित्य के भावीविकास का यह पूर्वाभास है। उपाध्यायजी की कविता में उस चेतना के संकेत मिलते हैं। जो परवर्ती काल के काव्य की प्रमुख प्रवृति ही बन गई।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की राम-कृष्ण आदि को महापुरुष के मानव एवं लौकिक स्तर पर रख देने की प्रवृत्ति के कारण उन चरित्रों की भक्ति-कालीन उदात्तता में कमी आगई। इस परिवर्तन से उन चरित्रों की प्रभावशीलता का ह्रास हुआ है। भक्ति काल के राम-कृष्ण में जिस अलौकिक आह्लाद की क्षमता थी, उसका सर्वथा अभाव हो गया। यह कविता का ह्रास ही है। 'हरिऔधजी' की चरित्र-कल्पना में भी यह दोष है। उनके कृष्ण और राधा भक्ति-काल के समान उदात्त और महान् नहीं बन पाये हैं। पाठक उनके चरित्रों में उस विराटता का अनुभव नहीं कर पाता है, जो भक्तिकाल में थी तथा जिससे काव्य आध्यात्मिक ऊँचाइयों का स्पर्श करता है तथा अलौकिक आह्लाद का जनक हो जाता है। सेवा-परायणा राधा कहीं कहीं सेवा को इतना अधिक महत्व देती है, कि उसकी विरह-व्यथा की मार्मिकता और गम्भीरता भी हलकी प्रतीत होने लगती है। कर्मयोगी कृष्ण में भी अपेक्षित सजीवता का अभाव ही प्रतीत होता है। आज के साहित्य में बुद्धि-तत्व की बहुत अधिक प्रधानता हो गई है। हरिऔधजी ने राधा और कृष्ण का रूप-संगठन बुद्धि से ही किया है, हृदय से उनके व्यक्तित्व में पूर्ण तन्मय नहीं हो पाये, इसीलिए पाठक को भी यही मनस्थिति है।

'प्रियप्रवास' में हरिऔधजी की भाषा में संस्कृत पदावली का सौन्दर्य है। कहीं कहीं तो वह प्रायः संस्कृत ही होगई है। क्रिया और कारक चिह्नों के अतिरिक्त जिनका प्रयोग भी अत्यन्त विरल ही है—उसमें हिन्दी का कुछ भी नहीं है। बाद में हरिऔधजी की भाषा इतनी अधिक संस्कृत-गर्भित नहीं रही। उसमें हिन्दी के प्रकृत स्वरूप का विकास हुआ है। उपाध्यायजी को 'चोखे चौपदे' की भाषा में मुहावरों के प्रयोग का बहुत ही आग्रह रहा है। वहाँ पर उनकी भाषा के सौन्दर्य का मूल रहस्य यही है। हरिऔधजी की भाषा में इतिवृत्तात्मकता और बौद्धिकता अधिक तथा कविता के उपयुक्त भावात्मकता, लय और संगीतात्मकता अपेक्षाकृत कम है।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त—

गुप्तजी आधुनिक युग के कृती कवियों में से है। उन्हें इस युग का प्रतिनिधि कवि कहा जाता है। वे इस गौरव के पात्र हैं। गुप्तजी अत्यन्त सरल प्रकृति के व्यक्ति हैं। उनकी यह सरलता और सादगी उनकी रचनाओं की भी विशेषता है। गुप्तजी आदर्शवादी कलाकार हैं। उनकी इस आदर्शवादिता में तुलसी का सा औदात्य तो नहीं है। वह भावुकतापूर्ण नैतिकता तथा सामयिक प्रभावों का परिणाम अवश्य है। कहीं-कहीं उनमें भावुकता का अपेक्षाकृत अभाव भी प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों पर उनकी नैतिकता उपदेशात्मक रूप धारण कर लेती है। प्रारंभ में तो गुप्तजी में उपदेशात्मक वृत्ति स्पष्ट रही, पर बाद में वही भावात्मक-व्यंजना में परिणत हो गई। 'भारत-भारती' में गुप्तजी स्पष्ट उपदेश देते हुए चलते हैं, पर पंचवटी, साकेत, यशोधरा आदि में उनका नैतिक दृष्टिकोण विकसित होता है।

गुप्तजी का कवित्व विकासशील रहा है। उनकी प्रारंभिक कविताओं में बौद्धिक प्रयास के स्पष्ट दर्शन होते हैं। उनमें इतिवृत्त कथन का रूखापन ही अधिक है। वे पद्य में कही गई कहानी ही

है। उनमें भावात्मक सरसता का अभाव है। 'भारत-भारती' आदि प्रारंभिक रचनायें ऐसी ही हैं। रीति-काव्य की अस्वाभाविक कोमलता और छेलेपन तथा उर्दू शायरी की कसक भरी हल्की भाव-व्यंजना की प्रतिक्रिया खड़ीबोली की ऐसी कवितायें ही कर सकीं। यह इतिवृत्तात्मकता उस प्रतिक्रिया का सहज परिणाम तो था, पर इसका रूखापन भावुक हृदय को संतुष्ट नहीं कर पाता था। इसीलिये द्विवेदी-युग का कवि धीरे-धीरे भावुकता और सरसता को अपनाने लगा। गुप्तजी समय की इस गति के साथ चले हैं तथा समय के विकास को प्रेरणा देते हुए आगे बढ़े हैं प्रारंभिक काव्य-रचना के बाद गुप्त जी बंगला साहित्य के अनुशीलन में प्रवृत्त हुए तथा इसके परिणामस्वरूप उनकी कविता में भी सरसता और भावुकता की वृद्धि हुई। पर तब भी उनकी रचनाओं में मनोभावों की स्थूलता ही रही। 'वैतालिक' तक की उनकी रचनाओं की यही अवस्था है। हिन्दी का सहृदय समाज तो इससे भी अधिक अनुभूति की सरसता, सजीवता, एवं सूक्ष्मता तथा शैली की वक्रता के लिए आकुल था। इसी आकुलता ने 'छायावाद' को जन्म दिया तथा गुप्तजी भी युग के साथ और आगे बढ़े। उनकी कविता में भी लाक्षणिक-वैचित्र्य तथा मनोभावों की सूक्ष्मता के साथ मार्मिकता की वृद्धि हुई। उनकी कल्पना भी अधिक चित्रमय एवं हृदयस्पर्शी हो गई। गुप्तजी का झुकाव भी गीति-काव्य की ओर हुआ। वे प्रचलित व्यक्तिनिष्ठ गीति-काव्य-धारा को तो नहीं अपना सके, पर उनकी रचनायें गीति-काव्यात्मक प्रबन्ध बन गई। गुप्तजी की यशोधरा, साकेत आदि का काव्य-सौन्दर्य इसी कोटि का है। तृतीय उत्थान के प्रबन्ध-काव्यों में गीति-तत्व की प्रधानता हो गई है। उनके सौष्ठव के मूल आधारभूत तत्वों में से यह भी एक है। गुप्तजी के प्रबन्ध-काव्यों का विकास भी इसी ओर हुआ है। उन्होंने गीतिकाव्य के तत्वों को अपनाया, इससे उनके काव्यों में सरसता

की वृद्धि हुई, पर उन्होंने प्रबन्ध की धारा की भी उपेक्षा नहीं की है। धीरे-धीरे गुप्तजी ने प्रबन्ध के प्रवाह को स्पष्ट करने के लिए व्यंजनात्मक शैली को अपनाया है। गुप्तजी की 'यशोधरा' में कथा की धारा, अन्तस्तल में ही बह रही है। उसका विकास संकेतात्मक पद्धति से ही व्यक्त हुआ है। काव्य का प्रगट सौन्दर्य तो गीतिकाव्य का ही है। गुप्तजी के कवित्व के विकास के साथ उनकी भाषा का बहुत अधिक परिमार्जन हुआ। उसमें धीरे-धीरे लाक्षणिकता, संगीत और लय के तत्वों का प्राधान्य हो गया।

गुप्तजी आधुनिक काल के प्रारम्भ में ही हिन्दी-कविता-क्षेत्र में प्रविष्ट हो गये थे। ये द्विवेदीजी की प्रेरणा द्वारा उद्भावित काव्य की नवीन धारा के प्रधान कवि हैं। रीतिकाल की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जिस मानवतावादी एवं नैतिक कविता का हिन्दी में प्रारम्भ हुआ था; उसके आप प्रमुख कवि हैं। गुप्तजी ने प्रारम्भ से ही उदात्त जीवन का सन्देश दिया है। उनकी 'भारत भारती' में भारत की प्राचीन संस्कृति का चित्रण हुआ है। यद्यपि उसमें भविष्य-निर्माण की कल्पना नहीं है तब भी प्राचीन संस्कृति के द्वारा प्रेरणा देने की क्षमता तो उसमें है ही। उसके बाद गुप्तजी ने जितनी रचनायें की हैं, उसमें जीवन की गम्भीर अनुभूति अत्यन्त स्पष्ट है। गुप्तजी में जीवन के परिवर्तनशील रूप के साथ चलने की पूरी क्षमता है। 'भारत भारती' में जो स्वदेश-प्रेम की भावना व्यक्त हुई है, वही प्रेम उनकी परवर्ती रचनाओं में राष्ट्र-प्रेम और नवीन राष्ट्रीय भावनाओं में परिणित हो गया है। उनकी कविता में आज की समस्यायें और विचारधारा के स्पष्ट दर्शन होते हैं। गाँधीवाद तथा कहीं-कहीं आर्यसमाज का प्रभाव भी उन पर पड़ा है।

कवि ने अपने काव्यों की कथा-वस्तु आज के जीवन से न लेकर प्राचीन इतिहास अथवा पुराण के क्षेत्र से ली है। इसीलिए वे आज की विचार-धारा को अपनी कविता में बहुत अधिक स्थान

नहीं दे सके हैं। फिर भी उनके काव्यों में वर्तमान जीवन के प्रभाव के स्पष्ट दर्शन होते हैं। वे अतीत की गौरव-गाथाओं को वर्तमान जीवन के लिए मानवतावादी एवं नैतिक प्रेरणा देने के उद्देश्य से ही अपनाते हैं। इस कार्य में उनका कृतित्व अत्यन्त स्पष्ट है। 'सिद्धराज' नामक काव्य में भी उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य तथा एक महान् राष्ट्र की कल्पना करली है। कहीं-कहीं वर्तमान विचार धाराओं को प्राचीन जीवन में दिखाने के कारण उनकी कविता में अनैतिहासिकता का दोष भी अत्यन्त सूक्ष्म रूप में आगया है। गुप्तजी की आदर्शवादी प्रवृति ने उन्हें प्राचीन कथानकों को लेने के लिए बाध्य किया है। वे आजकी विचारधारा में भी अपनी आदर्शवादिता का सम्पुट दे देते हैं।

गुप्तजी की चरित्र-कल्पना में जीवन की अनुभूति का स्वभाविक विवेक भी स्पष्ट है। उनके सारे चरित्र मानव हैं उनमें देव और दानव नहीं है। भगवान राम कृष्ण और बुद्ध अलौकिक शक्ति से सम्पन्न हैं क्योंकि प्राचीनकाल से ही ये चरित्र हमारे हृदय में इसी रूप में प्रतिष्ठित है। कोई भी स्वाभाविक विवेक वाला कवि परम्परा-प्राप्त चरित्रों के व्यक्तित्व को ऐसा नहीं बदलेगा, जिससे वे अपने प्राचीन गौरव तथा सर्वमान्य स्वरूप को खोदें। प्रताप को अकबर के दरबार में लाकर झुका देने पर उस चरित्र में आमूल परिवर्तन हो जायगा। वह प्रताप केवल कल्पित प्रताप होगा, हमारा हृदय-सम्राट प्रताप नहीं। उसके साथ हमारा तादात्म्य भी नहीं हो सकेगा। इस प्रकार की चरित्र-कल्पना में स्वाभाविक विवेक का नितान्त अभाव होता है। गुप्तजी इस दोष से मुक्त हैं। गुप्तजी की चरित्र कल्पना में कहीं भी अलौकिकता के लिए स्थान नहीं है। सभी पात्र मानव स्तर के लौकिक पात्र हैं। पर तब भी उनकी कल्पना में अस्वाभाविकता के दर्शन नहीं होते हैं। उनके राम कृष्ण, गौतम आदि सभी प्राचीन और चिरकाल से हमारी श्रद्धा प्राप्त किये हुए

ही पात्र हैं। उनसे हमें स्फूर्ति और जीवन-प्रेरणा मिलती है उसका अभाव तो स्वाभाविक विवेक का अभाव होता। इस प्रकार नवीनता के लोभ में प्राचीन और ऐतिहासिक पात्रों में अस्वाभाविक परिवर्तन दिखाने के दोषी गुप्तजी कहीं नहीं हुए हैं।

दूसरी तरफ गुप्तजी ने अपनी चरित्र-कल्पना मानवता की स्वाभाविक सीमा से बाहर नहीं होने दी है। उनके सभी पात्रों में मानवी सुख-दुःख की भावनायें हैं। उनके राम और कृष्ण सिद्धान्ततः सारे विश्व के स्वामी हैं, इसलिए उन पर साधारण नियमों का बन्धन न होना भी अस्वाभाविक नहीं है। पर लीला-क्षेत्र में आकार उन्हें भी नियति के सभी बन्धनों को स्वीकार करना पड़ता है। यही कारण है कि कवि ने अपने चरित्रों को कहीं भी मानव-स्वभाव का अतिक्रमण नहीं करने दिया है। जो परिस्थितियाँ जन साधारण के लिए सुख अथवा दुःख का हेतु हैं, उनके लिए भी वे वैसे ही सुख दुःख की हेतु हैं। कृष्ण और राम भगवान हैं पर उनका आमोद-प्रमोद रहन-सहन आदि सभी कुछ मानवीय है। गुप्तजी के पात्र देव और दानव केवल नाम के लिए ही हैं, वस्तुतः तो वे मानव ही हैं। गुप्तजी की रचना में मानवता के विभिन्न स्तरों को ही मानव दानव अथवा देव कहा गया है किसी आलौकिक शक्ति के प्रदर्शन अथवा नियति के नियमों के उल्लंघन या बन्धन के कारण नहीं। गुप्तजी तुलसीदासजी की तरह बार-बार यह याद नहीं दिलाते हैं कि उनके राम आलौकिक शक्ति-सम्पन्न तथा विश्व की उत्पति, स्थिति और प्रलय कर्त्ता भगवान हैं, यद्यपि वे हैं तो ऐसे ही। पर गुप्तजी के काव्य में ऐसा अनुभव नहीं होता। यही कारण है कि तुलसी के राम आराध्य हैं और गुप्तजी के राम हमारे में ही एक व्यक्ति। इनके सुख-दुःख में हमें अपने ही जीवन के दर्शन होते हैं। निश्चय ही गुप्तजी में 'मानस' के समान उदात्त चरित्रों की सृष्टि के द्वारा आलौकिक आह्लाद

प्रदान करने की क्षमता नहीं है। वे तुलसी के समान राम को आलौकिक गरिमा प्रदान नहीं कर सके हैं; क्योंकि गुप्तजी को तुलसी जैसा भक्त हृदय नहीं प्राप्त है। पर उनके चरित्रों में नैतिक मर्यादा और आदर्शवाद अवश्य है। आज के युग में इसका भी महत्त्व है। वह भी आनन्द का कारण है।

गुप्तजी की भाव-व्यंजना में सर्वत्र ही जीवन की गम्भीर अनुभूति के दर्शन होते हैं। उन्होंने कल्पना का आश्रय तो लिया है, पर उनके भाव कहीं भी मानव की स्वाभाविकता का अतिक्रमण नहीं कर गये हैं। अत्यन्त सीधी और सरल भाषा में इतनी सुन्दर भाव-व्यंजना हो जाने का एक मात्र कारण जीवन की गम्भीर अनुभूति ही है। उर्मिला की विरह-व्यथा में भी ऊहा का कम ही प्रयोग है। यशोधरा का विरह वर्णन तो जीवन के स्वाभाविक विवेक का कहीं भी अतिक्रमण नहीं करता है। यही कारण है कि कवि के चित्रण में कहीं भी उर्दू, शायरी के समान वेदना की वह कसक नहीं है जो कभी-कभी उपहासास्पद हो जाती है। मर्यादा तो गुप्तजी के काव्य की प्रधान विशेषता ही है। उनके रति-भाव के चित्रों में कहीं निर्ल्लजता एवं मर्यादा-हीनता नहीं है। गुप्तजी के सम्पूर्ण काव्य में पारिवारिक जीवन की मर्यादा के दर्शन होते हैं। उनके काव्य का संदेश भी यही है। यशोधरा और उर्मिला दोनों में ही जीवन का विवेक है, वे समझती हैं कि उनके पतियों को परिस्थितिवश ही जाना पड़ा है, इसलिए वे विरह-वेदना को प्रायः मौन रहकर सह लेती हैं। यशोधरा को तो पति के द्वारा किये गये अपने प्रति अविश्वास का अधिक दुःख है। इन पंक्तियों में नारी-समाज को निःश्रेयस-प्राप्ति में 'पथ-बाधा' मानने की पुरुष की मनोवृत्ति से जनित दुःख की व्यंजना भी है।

सखि वे मुझसे कह कर जाते।
तो कह क्या वे मुझको अपनी पथ बाधा ही पाते॥

गुप्तजी की भाव-व्यंजना में मार्मिकता और हृदय स्पर्शिता का एक मात्र कारण जीवन की गम्भीर अनुभूति और स्वाभाविक विवेक है।

पं० रामनरेश त्रिपाठी—

पं० श्रीधर पाठक ने जिस स्वच्छंदतावादी काव्य-धारा का सूत्रपात किया था, द्वितीय उत्थान में उसका विकास करने वालों में से त्रिपाठी जी प्रमुख है। इन्होंने 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' तीन खण्ड-काव्य लिखे हैं। त्रिपाठजी ने इतिहास अथवा पुराण से कथावस्तु न लेकर अपने खण्ड-काव्यों का सृजन काल्पनिक कथा-वस्तु के आधार पर किया है। इन काव्यों में कवि को मानव जीवन के बहुत से मर्म-स्पर्शी स्थलों के उद्घाटन का अवसर प्राप्त हुआ है। त्रिपाठीजी ने अपने काव्यों में देश-प्रेम एवं राष्ट्रीय-भावना को बहुत ही रमणीय रूप में प्रस्तुत किया है। कवि ने अपने प्रधान पात्रों के हृदय में विराजमान प्रेम तथा उनके कार्यों को देश-भक्ति की भावना से ओत प्रोत चित्रित किया है। त्रिपाठीजी देश-भक्ति के उपदेशक नहीं है, देश-प्रेम की भावना में उनका हृदय रमा है। यही कारण है कि वे राष्ट्रीय-भावना का मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थिति करने में सफल हुए हैं। त्रिपाठीजी के काव्यों की एक बड़ी भारी विशेषता स्वच्छन्द प्रकृति के मनोरम एवं रमणीय दृश्यों का चित्रण है। उन्होंने दूर-दूर की यात्राएँ की थी, इसलिए उन्हें प्रकृति के मनोरम दृश्यों का आनन्द लेने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। यही कारण है कि उनके प्रकृति-चित्रण में अनुभूति की सजीवता, रमणीयता और हृदयस्पर्शिता के दर्शन होते हैं। त्रिपाठीजी ने भारतीय भाषाओं के लोकगीतों के संकलन भी प्रकाशित किये हैं। इससे भी उनकी स्वच्छन्दतावादी रुचि का परिचय मिलता है।

पं० रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, गयाप्रसाद शुक्ल (सनेही) आदि इस काल के अन्य प्रमुख कवि है।

तृतीय उत्थान

पद्य-साहित्य

सम्पूर्ण आधुनिक युग जीवन एवं साहित्य के क्षेत्र में नूतन आदर्शों की स्थापना का युग है। इसमें प्राचीन रूढ़िवादी धारणाओं का खण्डन हुआ है। हम ऊपर देख चुके हैं कि द्विवेदी-युग से ही स्वच्छन्दतावादी धारा का प्रारंभ हो गया था। पर उस युग में स्वच्छन्दतावाद की बौद्धिक स्थापना मात्र हो हो पाई। नवीन आदर्शों को अपनाने तथा अतीत का पुनर्मूल्यांकन करने की स्वच्छन्दता को बौद्धिक स्वीकृति अवश्य प्राप्त हो गई। इसे स्वच्छन्दता की पूर्ण प्रतिष्ठा की अपेक्षा अतीत के पुनरुत्थान का युग कहना अधिक समीचीन होगा। स्वच्छन्दतावाद के लिए जिस व्यापक दर्शन कलात्मक चेतना तथा विशाल सामाजिक आधार-पटल की अपेक्षा थी, उनके बीज तो द्विवेदी-युग के अन्तिम चरण में—अर्थात् प्रथम विश्व युद्ध के प्रारभ होने से ठीक पूर्व ही स्पष्ट होने लगे थे। पर इस आन्दोलन को वास्तविक गति युद्ध के बाद ही मिली। यद्यपि 'इन्दु' के लेखों में प्रसादजी ने सन् १९१० के आस पास ही स्वच्छन्दतावादी विचार-धारा का आभास दे दिया था पर इसका वास्तविक प्रारंभ पन्तजी के पल्लव, के प्रकाशन से हुआ। इस से पूर्व तो इस धारा की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए उपयुक्त सामाजिक एवं साहित्यिक वातावरण तैयार करने का ही कार्य हो पाया।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक भारतवर्ष में अंग्रेजी सत्ता के प्रति कुछ थोड़ा विश्वास सा था। कुछ नेता यह स्वप्न देखते थे कि युद्ध के उपरान्त भारत स्वतन्त्र हो जायगा। अंग्रेज बहुत दिनों से अपनी सद्भावना की दुहाई देते आरहे थे, कुछ नेताओं को उनकी प्रतिज्ञाओं

की सच्चाई में विश्वास भी था। पर युद्ध के बाद सारी आशाओं पर पानी फिर गया। इधर युद्ध के उपरान्त धीरे-धीरे साधारण जनता की आर्थिक स्थिति भी गिरती ही गई। असहयोग आन्दोलन के रूपमें देश ने एक महान् अहिंसात्मक क्रान्ति की, पर वह पूर्णतः सफल नहीं हो सकी। उस आन्दोलन ने नवीन स्फूर्ति तो प्रदान की। उसके अच्छे परिणाम भी हुए। पर उसकी असफलता के कारण एक निराशा भी हुई। उपर्युक्त सब कारणों ने सम्मिलित रूप से एक नैराश्य और अवसाद का वातावरण प्रस्तुत कर दिया। इन परिस्थितियों ने तत्कालीन साहित्य में निराशावादिता, पलायनवाद नियतिवाद आदि प्रवृत्तियों का सूत्रपात्र कर दिया। इधर युद्ध के बाद, आर्थिक जगत में एक महान् परिवर्तन प्रारंभ हो गया। धन और शक्ति कतिपय व्यक्तियों के हाथों में एकत्र होती गई तथा उसके साथ प्रत्येक व्यक्ति में धन-संचय की आकांक्षा भी प्रबलतर हुई। सामाजिक दृष्टिकोण क्षीण होता गया और व्यक्तिवाद की प्रमुखता हो गई। इस भावना ने साहित्य में भी व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा कर दी। युद्धकाल में शान्ति के समय के कानून उस समय की मर्यादाओं के बन्धन बहुत कुछ शिथिल हो जाते हैं। यह शैथिल्य सम्पूर्ण जीवन को ही मर्यादाहीन कर देता है। उस समय मानव के नैतिक बन्धन प्रायः टूट जाते हैं। युद्धकाल में तो अप्राकृतिक शक्तियों के वेग से जीवन क्षिप्र गति से आगे बढ़ता रहता है। उस समय तो उस वेग के कारण मर्यादा के शैथिल्य का अनुभव नहीं होता है, पर युद्ध के बाद अप्राकृतिक शक्तियों के हट जाने से जीवन गति-शून्य होकर ज्यों ही स्थिर होता है, त्यों ही उसके मर्यादा के पुराने बन्धन विकीर्ण हो जाते हैं। युद्धोत्तर हिन्दी-साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति नैतिक बन्धनों का शैथिल्य भी है, यह इसी व्यापक शैथिल्य का प्रतिबिंबमात्र है।

ऊपर तो युद्ध के अस्थायी प्रभावों का निर्देश हुआ है। पर युद्ध

की प्रतिक्रिया स्वरूप भारत में एक नूतन सांस्कृतिक चेतना भी जाग्रत हुई। आन्दोलन की असफलता तथा आर्थिक संकटों से जहाँ एक तरफ क्षणिक अवसाद और सम्पूर्ण देश में नैराश्य का जन्म हुआ, वहाँ दूसरी तरफ. असहयोग आन्दोलन के प्रभाव से एक विचित्र आत्मविश्वास और आशा की लहर भी स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी। भारतवासियों में अंग्रेजों की अपेक्षा अपने को हीन समझने की भावना समाप्त ही नहीं हो गई, अपितु अपनी अतीत की संस्कृति के गौरव से जनित महत्व-बुद्धि भी जाग गई। उच्चता किसी की बपौती नहीं है। अनुकूल परिस्थितियाँ ही व्यक्ति को विकास का अवसर प्रदान करती हैं तथा उच्च बना देती है। इस दृढ़ धारणा ने समाज के पीड़ित एवं पतित व्यक्तियों के प्रति व्यापक सहानुभूति एवं समवेदना की भावना को जन्म दिया। मानवतावाद की इस क्रान्ति की सात्विक अभिव्यक्ति गांधीजी के असहयोग आन्दोलन के रूप में हुई। देश में नवीन सांस्कृतिक जागरण का प्रभात हुआ जो आध्यात्मिकता को अपनाते हुए भी प्राचीन रूढ़ियों का कायल नहीं, जो पश्चिम की वैज्ञानिक प्रगति का स्वागत करते हुए भी पूर्णतः जड़वादी नहीं है। इस जागरण में प्राचीन एवं नवीन का विचित्र मिश्रण हो गया। इस विचार-धारा की अभिव्यक्ति राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक कविताओं में सबसे अधिक हुई।

पाश्चात्य शिक्षा एवं वहाँ के जीवन के सम्पर्क से व्यक्ति नवीन मान मूल्यों से परिचित होने लगा। उसके प्राचीन संस्कार धीरे-धीरे जीर्ण-शीर्ण होने लगे। उसके हृदय में प्राचीन रूढ़िवादी दृष्टिकोणों की अपेक्षा नवीन मानमूल्यों के प्रति अधिक सम्मान हो गया। धीरे-धीरे यह आकर्षण इतना बढ़ गया कि अन्त में प्राचीनता के विरुद्ध उसका हृदय विद्रोह हो कर उठा। शिक्षित व्यक्ति अंग्रेजी के रोमांटिक-साहित्य की व्यक्तिवादी धारा से प्रभावित हुआ। उसके रसास्वाद के समक्ष उसे अपनी इतिवृत्तात्मक

कविता की स्थूलता अरूचिकर प्रतीत होने लगी। उसे अपना साहित्य फीका सा लगने लगा। लाक्षणिक शैली में लिखे हुए व्यक्तिवादी साहित्य के आस्वाद की आकुलता उसमें भी जाग गई। इन सब शक्तियों और प्रवृत्तियों ने मिलकर एक नूतन 'स्वच्छन्दतावादी-धारा' को जन्म दिया, जिसका प्रारंभिक रूप 'छायावाद' के नाम से अभिहित गिया गया। छायावाद की प्रतिक्रिया स्वरूप परवर्तीकाल में अन्य काव्य-धाराओं का भी विकास हुआ। द्विवेदी-युग में निर्मित स्वच्छंदतावाद के बौद्धिक आधार-पटल छायावादी काव्य-धारा तथा उसके एवं उसकी प्रतिक्रियास्वरूप सभी परवर्ती विकासों का अन्तर्भाव इस स्वच्छन्दतावादीधारा में हो जाता है। इस स्वच्छन्दतावादी विचार-धारा ने जीवन और साहित्य के उन नवीन मान-मूल्यों की प्रतिष्ठा की जिनको बिना समझे, इस युग के साहित्य का रसास्वाद नितान्त असंभव नहीं तो कम से कम अपूर्ण अवश्य है।

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध से लेकर आज तक का हिन्दी साहित्य अनेक प्रवृत्तियों का विचित्र संघात है जिनमें से कुछ भारतेन्दु युग से ही विकसित होती आ रही थी, तथा कुछ का पाश्चात्य-प्रभाव एवं युद्ध के परिणामस्वरूप जन्म हो गया था। इन प्रवृत्तियों में से बहुत सी परस्पर में विरोधी भी प्रतीत होती है। एक तो युद्ध के प्रभाव ही अनेक मुखी थे, दूसरे हिन्दी-साहित्य में कुछ प्रवृत्तियां युद्ध के सीधे प्रभाव का परिणाम थीं, तथा कुछ युद्ध के बाद की व्यापक सांस्कृतिक चेतना एवं उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थीं। एक तरफ तो आध्यात्मिक एवं आदर्शवादी विचार-धारा ने काव्य के स्वरूप का नियन्त्रण किया तथा दूसरी तरफ भौतिकवाद और यथार्थवाद ने काव्य की अनेक प्रवृत्तियों को जन्म दिया। आज भी हिन्दी-साहित्य में सम्पूर्ण —भारतीय जीवन में ही—इन्हीं दो विरोधी विचार-धाराओं का

संघर्ष है। इस युग की प्रारंभिक नवीन साहित्यक चेतना की अभिव्यक्ति छायावाद के रूप में ही हुई। पर वही धारा बाद में विकसित होकर व्यक्तिवाद में परिणत हो गई। जब इस घोर व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारंभ हुई तो कुछ कवि आध्यात्मिक लोकचेतना की ओर अग्रसर हुए, जिसे हम छायावादी काव्य-धारा की आधुनिकतम विकास-अवस्था कह सकते हैं। यह प्रसाद, पंत आदि की विचार-धारा के स्वाभाविक विकास का परिणाम है, इसलिए इसे अन्तः प्रेरित कह सकते हैं। इसमें भारतीय आध्यात्मिकता एवं गांधीवादी दर्शन के तत्वों का मिश्रण है। यह भौतिकवादी यथार्थ को ही सब कुछ न समझते हुए भी उसकी उपेक्षा नहीं करता है। इसमें व्यक्ति और समाज दोनों का सापेक्षिक महत्व है। प्रतिक्रिया की दूसरी शक्ति पाश्चात्य देशों का उग्रतर होता हुआ प्रभाव है। ये शक्तियाँ भौतिकवाद एवं यथार्थवाद की हैं। पश्चिम के दो भिन्न सम्प्रदायों के प्रभाव से हिन्दी में दो भिन्न काव्य-धाराओं का सूत्रपात हुआ है मार्क्सवाद के प्रभाव से प्रगतिवादी तथा फ्रायड आदि के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त के प्रभाव से प्रयोगवादी काव्य-धाराओं का जन्म हुआ है। इनके अतिरिक्त तृतीय उत्थान में द्विवेदी-युग की काव्यधारा भी विकसित होती रही है तथा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक कविताओं की भी एक पृथक् काव्य-धारा हो गई। इन सब प्रवृत्तियों का क्रमिक विकास भी हुआ है। तृतीय उत्थान की साहित्यिक प्रवृत्तियों में काल तथा विकास की दृष्टि से पूर्वापर सम्बन्ध भी स्थापित किया जा सकता है तथा इस दृष्टि से यह सम्पूर्ण काल तीन दर्शकों में बाँटा जा सकता है। इन प्रवृत्तियों का विकास एक दूसरे की प्रतिक्रिया तथा संघर्ष के परिणामस्वरूप हुआ है। इस विकास के सूत्रों का निर्देश हम गद्य के विकास के प्रसंग में कर चुके हैं।

इस युग की प्रमुख नवीन एवं व्यक्त काव्य-धारायें निम्नलिखित

हैं—(१) छायावादी, (२) व्यक्तिवादी, (३) प्रगतिवादी, (४) प्रयोगवादी। इनके अतिरिक्त ब्रजभाषा-काव्य का भी विकास होता रहा है। उसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं। इस काल में एक तरफ नवीन काव्य-धाराओं का जन्म हुआ है तथा दूसरी तरफ द्विवेदी-युग की काव्य-धारा भी नूतन स्वच्छन्दतावादी मार्ग का उद्घाटन करके विकसित हुई है।

द्विवेदी-युग के अन्तिम चरण में ही उस युग की इतिवृत्तात्मक कविता की नीरसता और स्थूलता के प्रति अरुचि जागने लगी थी। सहृदय पाठक उसमें व्यंजना की सजीवता एवं हृदय के आवेग के दर्शन करना चाहता था। ब्रज-भाषा की सी सरसता तथा अंग्रेजी कविता की सी लाक्षणिकता के लिए भी हिन्दी का पाठक लालायित था। इसके परिणामस्वरूप गुप्तजी आदि की परवर्ती कविता के क्षेत्र का भी विस्तार हुआ। उनकी दृष्टि प्रकृति के व्यापक क्षेत्रों की ओर उन्मुख हुई। उसमें वे रहस्य भरे और मार्मिक संकेतों तथा व्याप्त सौन्दर्य के दर्शन करने लगे। उनकी भाषा में भी चित्रमयता का समावेश प्रारंभ हो गया। भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति तथा मार्मिकता का प्रसार हुआ। शुक्लजी इसी को हिन्दी के सच्चे स्वच्छन्दतावाद के विकास का वास्तविक प्रारंभ मानते हैं। इस विकास में वर्ण्य-विषय का विस्तार भावों की हृदयस्पर्शिता, अभिव्यंजना-कौशल की नवीनता के तो दर्शन हुए, पर विचार-धारा और मानमूल्यों की व्यापक क्रान्ति के नहीं। यह परिवर्तन केवल उस आकांक्षा का आभास भर देता है, जो छायावाद के जन्म के मूल में थी। गाँधीवाद, आन्दोलन की असफलता, युद्ध की समाप्ति, पूंजीवाद का बढ़ता हुआ स्वर, रूढ़ियों के प्रति अविश्वास तथा नूतन मानमूल्यों के ग्रहण कीआकांक्षा आदि अनेक प्रबल शक्तियों का आकलन यह स्वच्छन्दतावाद नहीं कर सका। इसी से छायावाद का जन्म हुआ। इस प्रकार इस स्वच्छन्दतावाद ने

छायावाद की पृष्ठभूमि का कार्य किया अथवा यह भावी परिवर्तन का सूचक मात्र रहा, पर काव्य की इस धारा का भी तृतीय उत्थान में स्वतंत्र विकास हुआ है। उसी की विशेषताओं का ऊपर निर्देश किया गया है।

छायावाद

द्विवेदी-युग की कविता इतिवृत्तात्मक थी। उसमें वाह्यवर्णना तथा मनोभावों के स्थूल एवं रूढ़िगत स्वरूपों का प्राधान्य था। कविता बौद्धिकता, नैतिकता, एवं सामूहिकता की स्थूल तथा दृढ़ शृंखलाओं से जकड़ी हुई थी। वह जीवन और साहित्य की परंपरागत रूढ़ियों से आक्रान्त थी, इसलिए कवि को स्वच्छन्दता-पूर्वक आत्माभिव्यंजन का अवसर नहीं मिल पाता था। यही कारण है कि उसकी आत्मा इस स्थूल रूढ़िवादिता के विरुद्ध विद्रोह कर उठी। कवि बाह्य से अन्तर्मुखी हो गया। प्रसादजी के शब्दों में वह 'वाह्य वर्णना' के स्थान 'वेदना पर आधारित सानुभूतिमयी अभिव्यक्ति' के लिए विकल हो उठा। नगेन्द्रजी के शब्दों में 'वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की प्रवृत्ति' कवि में जाग उठी। इसप्रकार भावों की यह अन्तर्मुखी सूक्ष्म दृष्टि प्रसादजी के शब्दों में आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थी। स्वानुभूति के इस तीव्र आवेग का प्रयास विहीन सहज भावस्रोत में फूट पड़ना अत्यन्त स्वाभाविक था। इस प्रकार स्वच्छन्दता एवं सूक्ष्म सौष्ठव की ओर उन्मुख अन्तर्मुखी काव्य-साधना ही छायावाद के नाम से अभिहित हुई है। इस प्रकार छायावाद जीवन और साहित्य की बद्धमूल एवं रूढ़िगत धारणाओं के विरुद्ध व्यापक क्रान्ति के साथ ही नवीन मानमूल्यों की स्थापना भी है।

इस स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को साहित्य की सभी विधाओं में

अभिव्यक्ति हुई, पर कविता में इसकी अभिव्यंजना अपेक्षाकृत अधिक अस्पष्ट एवं अपरिचित सी लगी। कविता में इस प्रवृत्ति को 'छायावाद' का नाम दिया गया। इस अस्पष्टता तथा अन्य कई कारणों से इसके स्वरूप का ठीक-ठीक निर्वाचन भी नहीं हो पाया। विभिन्न सम्प्रदायों के आलोचकों ने इसे अपने ही दृष्टिकोण से देखा। तटस्थ और निरपेक्ष भाव से देखना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य था। युद्ध ने समाज और जीवन को जिस रूप में परिवर्तित कर दिया था, उसका छायावाद की प्रवृत्तियों से अत्यन्त सीधा सम्बन्ध स्थापित करके नहीं देखा जा सका; इसीलिए किसी ने इस पर आध्यात्मिकता और अलौकिकता का आरोप किया, किसी ने इसे कुण्ठाओं का परिणाम माना, कोई इसे केवल शैली मात्र का परिवर्तन मानते रहे। प्रायः सभी ने अपने रंगीन चश्मे से इसके दर्शन किए; इसलिए इसके स्वरूप के सम्बन्ध में हिन्दी जगत् में पूर्णतः ऐकमत्य नहीं हो सका। महादेवीजी ने 'छायावाद' की आध्यात्मिक व्याख्या की है। उन्होंने इसे उपनिषद् की विचारधारा के विद्युत्-स्पर्श से जनित आज के कवि की वैयक्तिक अनुभूति कहा है। बुद्धि के द्वारा भावित जीवन की अखण्डता, हृदय के द्वारा साक्षात्कृत प्रकृति की सौन्दर्य सत्ता तथा कवि के अपने व्यक्तिगत सुख-दुखों की स्वानुभूति इन तीनों के मिश्रण ने ही छायावाद को जन्म दिया है। महादेवीजी का विचार है कि यह काव्य-धारा दर्शनक्षेत्र के ब्रह्म की ऋणी है। उन्होंने छायावाद, आध्यात्मवाद, रहस्यवाद और प्रकृतिवाद का प्रयोग एक ही काव्य धारा के लिए माना है।[1] वे इसे सर्वात्मचेतनवाद (Pantheism) से प्रभावित काव्य-धारा मानती हैं। कुछ कुछ इसी के स्वर में स्वर मिलाकर रामकुमार वर्मा गंगाप्रसाद पाण्डेय नन्ददुलारे बाजपेयी आदि भी छायावाद के स्वरूप

१ महादेवीजी का विवेचनात्मक गद्य पृष्ठ ६०-६१।

का निर्धारण करते हैं। इनके विवेचन के अनुसार 'छायावाद' रहस्यवाद का प्रथम सोपान है ; पर महादेवी रहस्यवाद और छायावाद में विशेष अन्तर ही नहीं मानना चाहतीं। कुछ की मान्यता है कि छायावादी कवि विश्व के कण-कण में अपने सर्व-व्यापी प्राणों को देखता है, वह अन्त में रहस्यवादी और दार्शनिक के लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है।[1] आध्यात्मिकता भी इस काव्य-धारा की एक प्रमुख विशेषता है। बाजपेयीजी के विचार में तो भौतिकवादियों द्वारा छायावाद के तीव्र विरोध का कारण ही उसकी आध्यात्मिकता है।[2]

कुछ आलोचक छायावाद को कुण्ठा का परिणाम मानते हैं। नगेन्द्रजी ने अपनी 'विचार और अनुभूति' नामक पुस्तक में इसी को छायावाद की प्रमुख प्रेरणा कहा है। वे अपने एक लेख में अचल ब्रिटिश राज्यसत्ता तथा सुदृढ़ नैतिकता को इस कुंठा का कारण मानते हैं। उनका कहना है इन दोनों कारणों से विद्रोह की भावना अन्तर्मुखी हो गई तथा छाया-चित्रों के रूप में व्यक्त होने लगी। उनके विचार से इन्हीं छाया-चित्रों के कारण ही इसका नाम छायावाद पड़ गया। मार्क्सवादी इसको पूँजीवादी मनोवृत्ति से आक्रान्त समझता है। शिवदानसिंह चौहान इस प्रवृत्ति के कवियों में असन्तोष भावना एवं निराशावादिता का प्राधान्य मानते हैं। पूँजीवाद की तरह यह भी विगत युग की वस्तु है, अतः प्रगति का गतिरोध करने वाली है। इसमें चित्रित निराशा का कारण उनकी दृष्टि से सामाजिक जीवन की चेतना को विकराल एवं भयावह समझना तथा मध्य वर्ग के स्वप्नों का भंग हो जाना है। इसी कारण से छायावादियों में पलायनवृत्ति जाग गई है। यह उनकी

---

१ गंगाप्रसाद पाण्डेय 'छायावाद और रहस्यवाद'

२ आधुनिक हिन्दी-साहित्य' पृष्ठ २१

मान्यता है। शुक्लजी ने 'छायावाद' को शैली विशेष ही कहा है। उन्होंने इसे एक प्रकार से प्रतीकवाद का पर्यायवाची भी ही मान लिया है। शुक्लजी का ध्यान इसकी आध्यात्मिकता, एवं शृंगारिकता की ओर भी गया है। इनमें से पहले तत्वों को प्रमुखता देने वाले काव्य को तो वे वस्तुतः रहस्यवाद के अन्तर्गत ही मानते हैं। लोग उन कविताओं को भी छायावाद के नाम से अभिहित करते हैं, शुक्लजी ने इस तथ्य को भी उन्होंने स्वीकार किया है। पर वे काम-वासनाएँ तथा इन्द्रियों के सुखविलास की मधुर कल्पनाओं वाले स्थलों का अन्तर्भाव भी छायावाद में ही करते हैं। इस प्रकार शुक्लजी ने छायावाद के भाव-पक्ष की नितान्त उपेक्षा तो नहीं की पर उसके लक्षण में शैली-तत्व को अधिक प्राधान्य दिया है। प्रसादजी ने भी छायावाद के शैली-पक्ष पर ही अधिक जोर दिया है। वे छायावाद को ध्वनात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की निवृत्ति मानते हैं। प्रसादजी के विवेचन में छायावाद के वस्तु-पक्ष का तो संकेत ही हो पाया है, पर अभिव्यंजना-पक्ष का अत्यन्त स्पष्ट एवं प्रामाणिक विवेचन हो गया है।

ऊपर छायावाद के सम्बन्ध में जो बिभिन्न दृष्टिकोण उद्धृत किये गये हैं, उनमें से प्रत्येक मत उसके सम्पूर्ण स्वरूप का उद्घाटन करनेमें असमर्थ है, पर सत्यांश उन सभी में है। आध्यात्मिकता अथवा अलौकिकता छायावाद का मूलभूत आधार तो नहीं है। उसमें इहलौकिक एवं भौतिक जीवन के प्रति विकर्षण नहीं है। वह रूढ़िवादी नैतिक और धार्मिक धारणाओं के विरूद्ध आधुनिक मानवतावादी लोकचेतना का विद्रोह है। छायावादी कवियों का प्रकृति और विश्व के प्रति रागात्मक दृष्टिकोण है। वे जगत् की दुःखमयता का भी स्वागत ही करते हैं। उनका केन्द्र ईश्वर नहीं, मानव है। वह मानव के पारलौकिक सुखों के प्रति सजग

नहीं हैं, आज की कविता तो इसी लोक को स्वर्ग बनाती है, किसी दूसरे लोक में नहीं विश्वास करती। छायावाद में जीवन का उल्लास है, हाँ, उसकी अभिव्यक्ति अतीन्द्रिय एवं सूक्ष्म अधिक है। उस पर स्वर्गीयता का आरोप भी है, इसी से आध्यात्मिक सा प्रतीत होता है। पर अनेक कवियों में वास्तविक आध्यात्मिकता का संस्पर्श भी है, कवियों ने प्रकृति में चैतन्य का चित्रण किया है। उनका सर्व-चेतनावाद के सिद्धान्त में दृढ़ विश्वास है। 'छायावाद' जिस सांस्कृतिक चेतना के विकास का परिणाम था उसमें भौतिकवादी तत्त्व कुछ प्रधान अवश्य हो गये थे, पर भारत जैसे अध्यात्म-प्रधान देश में आध्यात्मिकता और दार्शनिकता की नितान्त उपेक्षा सम्भव नहीं थी। फिर तत्कालीनजीवन ही दार्शनिक चिन्तन की ओर उन्मुख हो गया था। परमहंस-रामकृष्ण विवेकानन्द, अरविन्द, रामतीर्थ आदि के जीवन इसके प्रमाण हैं। इसलिए काव्य का उससे प्रभावित होना भी स्वाभाविक था। फिर अगर एक तरफ छायावाद का विकास व्यक्तिवादी एवं उपभोगवाद की कविता के रूप में हुआ है तो दूसरी तरफ उसी के एक स्वरूप का विकास रहस्यवादी काव्य-धारा के रूप में भी तो हुआ। उसके प्रमुख कवि प्रसाद पन्त आदि आध्यात्मिक लोकचेतना की ओर भी तो संकेत करते हैं। इस प्रकार 'छायावादी काव्य की आध्यात्मिकता का भी निषेध नहीं किया जा सकता है। यह आनुषंगिक अथवा आकस्मिक नहीं है, यह तो उस क्रान्ति का एक तत्त्व ही है। चाहे इसे छायावाद की प्रमुख प्रेरणा न मानी जाय। इस प्रेरणा को चाहे लौकिकता के नाम से ही पुकारा जाय, पर इस लौकिकता का आध्यात्मिकता से विरोध नहीं है।

छायावाद एक प्रकार से कुंठा और दमित वासनाओं का परिणाम भी है, पर यह वैयक्तिक नहीं, सामूहिक कुंठा है। इसमें नैराश्य और दुःखवाद भी है, पर इनका कारण कवियों का

व्यक्तिगत जीवन नहीं है ये राजनीतिक आन्दोलन की असफलता के ही परिणाम है। इससे उस काल का मानव ही कल्पना-लोक के निर्माण की ओर उन्मुख हुआ तथा व्यक्तिवादी होगया। छायावादी काव्य की कल्पनाशीलता और वैयक्तिकता उस काल के मानव की मनः स्थिति का ही प्रतिनिधित्व करते हैं पर सामाजिक चेतना के कारण कवि पूर्णतः व्यक्तिवाद की भी उद्घोषणा नहीं कर पाया। उसमें शृंगारिक चेष्टाओं की अभिव्यक्ति का मोह है; पर वह समाज और नीति के भय तथा संकोच के कारण उनको स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं दे पाता है। वे प्रतीकों के आवरण में ही स्पष्ट हो सकी हैं इसी लिए दमित एवं शयित होकर कुंठा का रूप धारण कर गई इस प्रकार छायावाद कवियों के वैयक्तिक जीवन की नहीं अपितु सामूहिक कुंठा का परिणाम है। बच्चन की कविता इसी की प्रतिक्रियाका परिणाम है इसीलिए उसमें व्यक्तिवाद और उपभोग स्पष्ट एवं प्रधान हो गया।

छायावाद का भाव-जगत् अन्तर्मुखी है, नवीन होते हुए भी इसका स्वरूप अस्पष्ट है। पर इसने शैली में जो नूतन क्रान्ति की है, लाक्षणिकता और उपचार-वक्रता के आधार पर शैली को जो नवीन स्वरूप प्रदान किया उसने सबका ध्यान आकृष्ट किया। वह परिवर्तन अत्यन्त स्पष्ट था। यही कारण है कि शुक्लजी और प्रसाद जी ने उसके शैली-पक्ष को प्राधान्य दिया है। प्रसाद जी की व्याख्या में शैली और वस्तु दोनों का सामंजस्य हो गया है।

साहित्य-क्षेत्र के प्रत्येक नवीन युग, तथा नई काव्य-धारा के साथ नूतन साहित्य-दर्शन का आगमन होता है। वही रचनात्मक साहित्य के नवीन स्वरूप एवं प्रवृत्तियों का निर्धारण करता है। छायावाद ने भी नवीन धारणाओं की उद्भावना की, जिनमें पाश्चात्य एवं पूर्वी दोनों प्रकार के समीक्षा-सिद्धान्त का समन्वय है।

द्विवेदी युग में नैतिकता और श्रेय का महत्व था पर छायावाद ने श्रेय और प्रेय का सामंजस्य कर दिया। छायावादी कवि जीवन के सूक्ष्म एवं आन्तरिक सत्य के उद्‌घाटन को ही काव्य का उद्देश्य मानते हैं, पर वह सत्य निरावरण, केवल सत्य मात्र न होकर 'श्रेय' भी होना चाहिए तथा उसकी अभिव्यक्ति का प्रेय और चारु होना आवश्यक है। प्रसादजी कहते हैं "यह (काव्य) श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है।" वे काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति का परिणाम मानते हैं। इससे कवि श्रेय सत्य (अर्थात् सत्य ज्ञान) को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेता है। छायावादी सत्य को वैयक्तिक केन्द्रों से ऊपर की शाश्वत वस्तु मानते हैं। छायावाद का कवि अपने व्यक्तिगत सुख दुःखों से ऊपर उठकर संसार के सुख दुःखों में अपने आपको व्याप्त देखने में ही कविकर्म मानता है। कविता के आत्मपरक (Subjection) और परात्मक (Objection) नाम से कृत्रिम भेदों को न मानकर 'अहम्' और 'सर्व' को एकाकार देखना चाहता है। कवि का 'अहम्' ही व्याप्त होकर 'सब' रूप धारण कर लेता है। छायावाद में वैयक्तिक अनुभूतियों को ही स्थान मिला है, पर सिद्धान्ततः वे समाज-विरोधी व्यक्तिवाद के समर्थक नहीं है। छायावदी काव्य का व्यक्ति तत्कालीन समाज की ही उपज है। उसमें मानव के सीमष्टगत नहीं अपितु व्यक्तिगत स्वरूप का ग्रहण हुआ है। छायावादी कवियों ने काव्य को आत्मा की अनुभूति ही कहा है। उसमें कल्पना, भावुकता और दार्शनिकता का सुन्दर समन्वय रहता है। इन्हीं को कल्पना, अनुभूति और चिन्तन के नाम से भी कुछ आलोचक कहना चाहते हैं।

छायावादी कवि भाव, अभिव्यक्ति एवं भाषा को भिन्न करके देखने के समर्थक नहीं है। वे इन तीनो को अभिन्न मानते हैं। अनुभूति ही अभिव्यक्ति बन जाती है। पन्तजी इन दोनों के

सामंजस्य को सेव के रस और उसकी बाहरी लालिमा के रूपक से स्पष्ट करते हैं। उनकी मान्यता है कि जैसे रस की मधुर लालिमा ही बाहर झलक पड़ती है, वैसे ही कवि की अनुभूति ही अभिव्यक्ति बन जाती है। प्रसादजी मानते हैं कि कवि-हृदय के पुलक से स्पर्श प्राप्त कर जब अनुभूति व्यक्त होना चाहती है, तो वह अभिधा के रूप में व्यक्त नहीं हो पाती है। उसमें अभिव्यक्ति की विचित्र भंगिमा आ ही जाती है। यही भंगिमा ध्वनात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता का स्वरूप धारण कर लेती है। छायावादी काव्य के अभिव्यंजना पक्ष की ये ही प्रधान विशेषतायें हैं। और उनका यही मुख्य आधार-पटल है।

छायावाद के प्रधान वर्ण्य-विषय व्यक्ति और प्रकृति रहे। द्विवेदी-युग का कवि बहिर्मुखी होकर काव्य सृजन करता था, पर छायावाद का कवि अन्तर्मुखी हो गया। वह आत्मलीन होकर काव्य का सृजन करने लगा। उसकी कविताओं में आत्मरति का प्रधान्य हो गया। छायावाद के विभिन्न कवियों के 'आनन्दवाद', 'अद्वैतवाद' आदि मतों में उनकी आत्मरति के ही दर्शन होते हैं, सिद्धान्त रूप से इन कवियों ने 'व्यक्ति' और जगत् का तादात्म्य ही माना है, व्यक्ति में सम्पूर्ण जगत् की अनुभूति व्याप्त होकर साकार हो उठती है। सिद्धान्त रूप से छायावादी कवियों का वर्ण्य-विषय ऐसा ही व्यक्ति है। पर उनकी रचनाओं में सर्वत्र ऐसा नहीं है। इन कवियों ने कहीं कहीं बाह्य वस्तुओं पर अपनी भावनाओं का इतना गहरा रंग चढ़ाया है कि उनका वह स्वरूप सामान्य द्वारा अनुभूत और ग्राह्य ही नहीं लगता है। इन कवियों ने प्रकृति का भी प्रधान रूप से वर्णन किया है। इन्होंने प्रकृति की चेतन माना है। वह उसमें चैतन्य सत्ता के दर्शन करता है। प्रकृति उसी चैतन्य के सौन्दर्य का आभास है। उसी का विलास है। इस प्रकार वह सर्वचेतनवाद के सिद्धान्त का समर्थक है।

छायावाद ने प्रकृति का मानवीकरण किया है। वह प्रकृति के वस्तुगत रूप की अपेक्षा उसके प्रति जागी हुई अपनी भाव-संवेदनाओं का अधिक वर्णन करता है। वह प्रकृति को अपनी भावनाओं के आवरण में देखता है। इस कोलाहलमय जीवन से उद्विग्न होकर वह प्रकृति की शान्त स्निग्ध गोद में विश्राम करने के लिये जाता है। वहाँ पर प्रकृतिउसे अपने ही भावों के अनुरूप प्रतीत होती है। वह उसमें स्नेह आदि मानव भावों के संकेत प्राप्त करता है। वह उसे मानव की चिरसहचरी, एवं जीवन का संदेश देती हुई सी प्रतीत होती है। इस सारे व्यापार में मानवीकरण तो अपेक्षित है ही, वह प्रकृति पर चैतन्य का आरोप तो कर ही लेता है। पर जब वह बहुत अधिक भावुक हो जाता है, आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत होकर प्रकृति को देखने लगता है, तो प्रकृति में व्यापक चेतनसत्ता के दर्शन भी करने लगता है। ऐसे स्थलों में वह सर्वचेतनवादी होकर रहस्यवाद की ओर भी उन्मुख हो सकता है। रहस्यवादी और छायावादी दोनों ही प्रकृति के सम्बन्ध में सर्वचेतनवाद का सिद्धान्त मानते हैं। छायावादी प्रकृति के दृश्यों में व्यक्ति चैतन्य का दर्शन करते हैं। उसमें चैतन्य के आरोप तथा मानवीकरण की पद्धति का अधिक अनुसरण होता है। रहस्यवादी प्रकृति को व्यापक चेतनसत्ता का ही विलास मानता है। इन दोनों के प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर महादेवी जी प्रसंग में विचार किया जायेगा। छायावादी कवि प्रकृति की गोद में विश्रान्ति प्राप्त करने का इच्छुक है, इसलिए उसे प्रकृति से ही प्रतीक चुनना भी अधिक रुचिकर हुआ है। इस प्रकार प्रतीक-विधान के लिए भी उसने प्रकृति का उपयोग किया है। श्रांगारिकता भी छायावादी कवियों की एक प्रमुख विशेषता है। द्विवेदीयुग के कठोर सुधारवादी नियन्त्रण तथा जीवन में स्वच्छन्द प्रेम के प्रति बढ़ते हुये आकर्षण ने कामवासना को दमित करके कुंठा का रूप दे दिया। वह

कविता में परोक्ष रूप से व्यक्त होने लगी। कवि ने प्रकृति पर नारी-भावना के आरोप तथा अपने प्रतीकों में चुम्बन आदि क्रियाओं के प्रयोग द्वारा इस वासना को अभिव्यक्ति का अवसर दिया है। छायावादी कवियों का हृदयनारी के आभ्यान्तर सौन्दर्य तथा प्रेम के स्वर्गीय रूप में रमा है। रीतिकाल की तरह उसमें नारी के बाह्य एवं मांसल रूप का वर्णन तथा स्पष्ट रति-भावना की अभिव्यक्ति नहीं है। उसमें नारी के उपभोग की कामना की अपेक्षा उसके सौन्दर्य के मोहक एवं विस्मयकारी प्रभावों का ही वर्णन अधिक है। इसीलिए उसकी श्रंगारिकता अशरीरी और अतीन्द्रिय सी प्रतीत होती है।

द्वितीय उत्थान में खड़ी बोली व्याकरण-सम्मत हो गई, उसके शब्द-कोष की भी वृद्धि हुई। उसमें विचारों और भावों के स्थूल रूप की व्यंजना के उपयुक्त क्षमता भी आगई। पर कवि हृदय के पुलक से पूर्ण सूक्ष्म एवं अन्तर्मुखी भाव भाषा की अभिधाशक्ति द्वारा व्यक्त नहीं हो सकते हैं। वे वाचक शब्दों की सीमित परिधि में बँध नहीं सकते हैं : भाषा केवल अपनी प्रेषणीयता से पाठक के हृदय में भावानुभूति जाग्रत कराती है। इसके लिए भाषा को लक्षणा और व्यंजना की अपेक्षा होती है। वह स्वभावतः ही लाक्षणिकता का मार्ग अपना लेती है। छायावादी काव्यधारा ने भाषा को इसी प्रकार की नूतन शक्ति प्रदान की। उसमें ध्वनात्मकता एवं संगीत के तत्वों की प्रधानता हो गई। वह बचन की वक्रता का सहारा लेने लगी। इसके लिए कई साधनों का उपयोग किया गया। भाववाचक संज्ञाओं का प्रयोग अधिक बढ़ गया। व्यक्ति के स्थान पर भाव का प्रयोग होने लगा। मूर्त वस्तुओं के लिए अमूर्त तथा अमूर्त के लिए मूर्त उपमानों के प्रयोग द्वारा भाषा में लाक्षणिकता की सृष्टि हुई। भाषा में संगीत एवं चित्रमयता के तत्वों का प्राधान्य हो गया। प्राचीन परम्परागत अलंकारों में

भी नवीन उपमानों की उद्भावना हुई तथा अंग्रेजी से गृहीत कुछ अलंकारों का प्रयोग सामान्य सा हो गया इनमें मानवी-करण, विशेषण-विपर्यय तथा ध्वनिचित्रण प्रमुख हैं। छायावादी-काव्य की भाषा की लाक्षणिकता बहुत कुछ अंग्रेजी और बंगला का अनुकरण है। छायावादी कवियों ने अंग्रेजी के अनेक शब्दों और मुहावरों के रूपान्तरों का प्रयोग किया है। शुक्लजी ने 'तारिकाओं की तान' 'स्वप्निल कांति' आदि कई एक ऐसे उदाहरण भी दिये हैं। छायावाद ने छन्दों के क्षेत्र में भी नवीन क्रान्ति की। मुक्त छन्दों की कल्पना हुई। इन पर पीछे विचार हो चुका है।

जब कवि की आत्मानुभूति, आनन्द-व्यथा, काम-वासना हृदय के आवेग के साथ संगीत एवं सुर का आश्रय लेकर अभिव्यक्त होती है, उस समय गीति-काव्य का सृजन होता है। इसमें कवि की वैयक्तिक अनुभूति का प्राधान्य होता है। 'छायावाद' सामूहिकता के विरुद्ध वैयक्तिकता की क्रान्ति भी है। इसलिए इसमें गीति-काव्य की प्रमुखता स्वाभाविक ही है। गीति-काव्य की परम्परा हिन्दी-साहित्य में अत्यन्त प्राचीन है। "विद्यापति" कबीर, मीरा आदि की रचनायें भी इसी कोटि में आती है। पर इस काव्य-रूप के वास्तविक विकास का युग तो हिन्दी कविता का आधुनिक काल ही है। द्वितीय उत्थान में गीति-काव्य के संबोधन गीति, शोक-गीति आदि अनेक रूपों को दर्शन होने लगे थे, पर इनका भाव-सौन्दर्य तो इसी उत्थान काल में निखर सका। इस काल में जो महाकाव्य लिखे गये उनका सौन्दर्य भी प्रबन्ध की अपेक्षा गीति तत्व से ही अधिक निखरा। इस काल में मानवीयता, प्रकृति प्रेम, देशप्रेम आत्म-दर्शन आदि विषयों ने की स्वानुभूति के अंश बनकर शब्द-वैचित्र्य, तथा प्रगीतात्मकता के द्वारा आधुनिक गीति-काव्य के वैभव एवं सौष्ठव की वृद्धि की है। गीति-काव्य की आत्मानभति और संवेदनीयता लोकसलभ

होना चाहिए। आज के युग और साहित्य में बुद्धितत्व की प्रधानता के कारण गीति-काव्य की संवेदनीयता का कुछ ह्रास ही हुआ है। फिर भी पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी ने इस विधा की पर्याप्त श्री वृद्धि की है। प्रसादजी के गीतों में संवेदनीयता की तीव्रता है। स्वर तथा संगीत के सृजन में निरालाजी पर्याप्त सफल हुए हैं। निरालाजी में प्रसादजी की सी तन्मयता के अधिक दर्शन होते हैं। महादेवीजी के गीतों में स्वर और चित्रमयता के साथ रस और सौन्दर्य का अद्भुत मिश्रण हुआ है। उनमें आत्म-निवेदन की तीव्रता है। पंतजी में तीव्र आत्मानुभूति की अपेक्षा शब्द-सौन्दर्य, चित्रमयता लाक्षणिकता और संगीत का आधिक्य है। इसलिए उनकी रचनाओं में गीति-काव्य के उपयुक्त आत्मानुभूति की अपेक्षा प्रगीतात्मक तत्व अधिक मिलता है।

व्यक्तिवादी कविता

छायावाद के मूल में जो प्रधान तत्व है, उनमें एक व्यक्तिवाद भी है। तत्कालीन परिस्थितियाँ भी इसके अनुकूल थीं। दर्शन के क्षेत्र में एक बार फिर से अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा हो गई थी अरविन्द-विवेकानन्द आदि के दर्शन इसके प्रमाण हैं। अर्थ के क्षेत्र में पूँजीवाद भी अपनी पूरी शक्ति से बढ़ता गया। प्रत्येक व्यक्ति अपने कौशल से धनसंचय के लिए ही प्रयत्नशील हो गया। समाज में मध्यम वर्ग की महत्ता ने भी व्यक्तिवाद को ही प्रोत्साहन दिया। छायावाद के प्रारंभिक दस वर्षों में उस पर आध्यात्मिकता नैतिकता और आदर्शवाद का प्रभाव था। पर असहयोग आन्दोलन की असफलता के बाद आदर्शवादी धारणाओं के प्रति विश्वास धीरे-धीरे शिथिल होता गया तथा पाश्चात्य देशों की विकासशील भौतिकवादी धारणाओं के प्रभाव के लक्षण भारत

में भी स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। समाजवादी धारणाओं की ओर भारत भी उन्मुख हुआ, पर बौद्धिक और भौतिक प्रभावों के फलस्वरूप व्यक्ति पहले की अपेक्षा अपने प्रति भी अधिक जागरुक हुआ। उसे व्यक्ति की उपेक्षा असह्य हो उठी। उसमें सुख दुःख काम-वासना आदि की स्वच्छन्दतापूर्वक बात करने की तीव्र आकांक्षा जाग उठी। छायावादी कविता नैतिक नियंत्रण से स्वच्छन्द नहीं हो सकी थी। पर बढ़ते हुए यथार्थवादी प्रभाव के परिणामस्वरूप कवि का वह नियन्त्रण भी असह्य हो गया। इससे मुक्त होकर वह अपनी भावात्मक प्रतिक्रियाओं तथा वासनाओं को स्वच्छन्दतापूर्वक काव्य में स्थान देना चाहता था। इन सब आकांक्षाओं और शक्तियों ने व्यक्तिवादी काव्य-धारा को जन्म दिया है, जो छायावादी की कुंठित एवं दमित वासनाओं का विस्फोट है, उसकी कुछ प्रवृत्तियों और शैली के कुछ तत्वों के विरुद्ध प्रतिक्रिया है, तथा उसकी कुछ प्रवृत्तियों का सहज विकास है। छायावादी कवियों ने अपने दर्प-विषाद का चित्रण प्रतीकों और संकतों के माध्यम से ही किया था। पर इन व्यक्तिवादी बच्चन आदि ने इन प्रतीकों के आवरण की आवश्यकता नहीं समझी। उन्होंने इस संकोच को दूर करके स्पष्टतापूर्वक कहने का साहस किया।

उस काल के जीवन में व्यक्ति के सम्मुख अर्थ और काम सम्बन्धी दो ही प्रधान समस्यायें थीं। प्रेम तो प्रारंभ से ही इस युग की कविता का प्रमुख विषय रहा है। इस संपूर्ण काल में उसका आलम्बन तो लौकिक ही रहा, इसलिए उसमें भक्तिकाल की अलौकिकता के दर्शन नहीं होते हैं। पर द्विवेदी-युग तक उस पर नैतिकता का कठोर नियन्त्रण था, इसलिए उसमें वासनाजन्य उच्छृंखलता के लिए अवकाश नहीं था। इसलिए प्रेम के सम्बन्ध में शारीरिक चेष्टाओं की अपेक्षा उसके स्वस्थ

तथा आन्तरिक प्रभाव की सूक्ष्मता तथा मार्मिकता का ही अधिक चित्रण होता था। छायावादी युग में तो प्रसाद महादेवी आदि द्वारा प्रेम के स्वरूप को और भी स्वर्गीयता प्रदान की गई। पर उस काव्य-धारा में प्रेम के वासनात्मक रूप तथा उसकी शारीरिक चेष्टाओं का भी संकेतात्मक वर्णन प्रारंभ हो गया था। पर जीवन में स्वच्छन्द तथा रोमानी प्रेम की दिन प्रतिदिन तीव्र होती हुई भावना के संकेतों के आवरण से संतोष नहीं था। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन, सह-शिक्षा सिनेमा आदि से व्यक्ति पर प्रेम के स्वच्छन्द एवं वासनात्मक स्वरूप का बहुत गहरा प्रभाव पड़ गया था। ये प्रभाव अत्यन्त तीव्र आकांक्षाओं का रूप भी धारण करते गये। पर स्वच्छन्द अभिव्यक्ति के अवसरों के अभाव से उनको अवचेतन मन में दमित होकर कुंठा का रूप धारण करना पड़ा। अब चेतन में दमित वासनायें धीरे-धीरे इतना प्रखर वेग धारण करने लगी कि उन्होंने प्रतीकों और संकेतों के कृत्रिम आवरण को उतार कर फेंक दिया। व्यक्ति जीवन में काम और उपभोग की स्वच्छन्दता के अवसर न प्राप्त कर सकने के कारण कविता में विलास-चेष्टाओं की स्पष्ट अभिव्यक्ति करके मानसिक योग से ही संतुष्ट हो लेना चाहता था। व्यक्तिवादी काव्य-धारा की प्रेरणाओं में से यह सबसे प्रमुख प्रेरणा रही है। इसीलिए उसमें पहले-पहले रसिकता और ऐच्छिक प्रेम का चित्रण ही सबसे अधिक हुआ।

पूंजीवाद की उन्नति तथा बेकारी की बढ़ती हुई समस्या के कारण अर्थ आज के व्यक्ति के जीवन की प्रमुख समस्या बनती गई है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद जब उसे अपनी योग्यता के अनुरूप काम नहीं मिलता था तो व्यक्ति में असन्तोष क्षोभ और विद्रोह की भावना का जागना स्वाभाविक था। उसका असन्तोष बहुत बार विद्रोह और आक्रोश में परिणित हो जाता था। उस

समाज के प्रति जाग्रत क्रोध की भावना अनेक स्थानों पर घृणा का रूप भी धारण कर जाती थी। विक्षोभ, क्रोध, घृणा और अवसाद के इस वातावरण के मूल में व्यक्ति की महत्व बुद्धि थी। उसके चिन्तन और प्रेम का वह स्वयं, केन्द्र बन गया इसका कारण अर्थ और काम की समस्यायें थीं। इस प्रकार व्यक्तिवादी काव्य-धारा की प्रमुख प्रेरणा में अर्थ और काम हैं। पहले-पहल उसके विषय भी वासनाजन्य चेष्टायें, भोग, की आकांक्षा, विद्रोह, असन्तोष घृणा आदि ही रहे। पर विद्रोह केवल आन्तरिक ही रहा। उसमें सामूहिक स्थिति पर आघात करने की क्षमता का अभाव था। इसलिए यह केवल वैयक्तिक विक्षोभ मात्र ही रह सका, इसमें सामूहिक व्यापक क्रान्ति का वेग नहीं आया। फिर भी विद्रोह की भावना व्यापक थी। वह ईश्वर, सामाजिक संस्थाओं रूढ़ियों और नियति के विरुद्ध प्रकट हुई। जो वस्तु व्यक्ति के हर्ष-विषाद और वासना की मुक्त अभिव्यक्ति में बाधक हुई उसी के विरुद्ध कवि का व्यक्तित्व हुँकार कर उठा। जहाँ कहीं से भी व्यक्तित्व के महत्व की अस्वीकृति की आशका हुई है, उसी के विरुद्ध कवि का हृदय उबल पड़ा।

इस काव्य-धारा का मूल आधार भौतिक व्यक्तिवाद है। इसमें नैतिक एवं सामाजिक विधि-विधानों और पुराने मान्य विश्वासों के विरुद्ध विद्रोह, और घृणा की अभिव्यक्ति हुई है। इस धारा की कविता में प्राचीन आस्थाओं के प्रति संदेह और नियतिवाद की प्रमुखता है। यहाँ तक कि बाद में तो कवि नाश और शून्य का भी स्वागत करने लगा। दिनकर जैसे कवि के द्वारा भी नाश का आह्वान इस भावना के प्रबल प्रभाव का द्योतक है। प्रसादजी के 'जड़ता' 'अवसाद' और 'शून्य' के स्वागत में भी इसी प्रभाव की ध्वनि प्रतीत होती है। दमित कामवासना के कारण यह कविता भोगवाद की ओर उन्मुख हुई है। ज्यों-ज्यों कवि नियतिवादी होता

गया त्यों-त्यों उसमें उपभोग की कामना भी उग्रतर होती गई। भविष्य अनिश्चित है तथा मानव के नियन्त्रण से बाहर है, इसलिए जितना समय मिलता है, उसे उल्लास, आनन्द विलास और उपभोग में बिताना चाहिए। यही इन कवियों की मनोवृत्ति हो गई। भविष्य की चिन्ता न करके वर्तमान में उल्लास का अनुभव करना हो, इस कविता की प्रमुख देन है। यह एक प्रकार से छायावादी कविता के दुःखवाद नैराश्य और पलायन की प्रबल प्रतिक्रिया परिणाम थी, इसलिए दूसरे चरम पर पहुँच गई। प्रारंभिक वर्षों के विद्रोह की आँधी, विलास और उपभोग का वेग जब कुछ शान्त हुआ तो यह काव्य-धारा भी कुछ स्वस्थ स्वरूप की ओर उन्मुख हुई। इसमें भी मानव के प्रति सहानुभूति की भावना प्रबल होने लगी तथा इसने मानव के बन्धनों के विरुद्ध संग्राम छेड़ दिया। इस धारा के कवियों की मानसिक स्थिति भी बदली। वे अस्वस्थ रोमांस के स्थान पर स्वस्थ मानवीय प्रेम की ओर अग्रसर हुए। बच्चन, नरेन्द्र अंचल आदि सभी कवियों का स्वर बदला। इस काव्य-धारा का प्रारंभ छायावाद की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के विकास के रूप में प्रारंभ हुआ था, पर उसका पर्यवसान मानवतावादी काव्य-धारा की पृष्ठभूमि के निर्माण में हुआ। प्रचीन रूढ़ियों के खण्डन, जीवन की याथार्थ स्थिति के चित्रण तथा भौतिकवाद को इसी काव्य-धारा में अभिव्यक्ति मिलने लगीं। इस प्रकार इस काव्य ने प्रगतिवादी विचार-धारा के लिए भूमिका का कार्य किया है। पर इस काव्य-धारा के प्रभाव-स्वरूप जो अपरिपक्व बुद्धि के युवकों की बाग्धारा बह निकली, उसमें रतिक्रीड़ा के मादक एवं नग्न संकेतों का ही प्राधान्य रहा। इन कविताओं में अति यथार्थवाद (Survalism) को अभिव्यक्ति मिली है। इनमें जीवन को स्वस्थ प्रगति देने की क्षमता नहीं हैं। वैसे तो यह सम्पूर्ण काव्य-धारा ही विकास की एक साधारण कड़ी मात्र है। इसने हिन्दी कविता को कोई स्थायी

वस्तु प्रदान नहीं की। इसके कवि यौवन के उन्माद तथा आर्थिक संकटों से उत्पन्न विद्रोह की ही अनुभूति लेकर आये थे। उनमें जीवन की किसी स्वस्थ और स्थायी बौद्धिक एवं भावात्मक वृत्ति का अभाव था। इस काव्य-धारा में जीवन के नकारात्मक पक्ष को ही अभिव्यक्ति मिली है। स्थायी साहित्य जीवन की नकारात्मक वृत्तियों पर नहीं अधिष्ठित होता है। उसके लिए जीवन के भावात्मक स्वरूप का ठोस आधार अपेक्षित है। इसीलिए व्यक्तिवादी काव्य-धारा केवल फैशन की तरह आई और चली गई।

इन कवियों ने गीत और मुक्त छन्दों में ही कविता की है। आत्माभिव्यंजन के काव्य के लिए यही माध्यम सबसे अधिक उपयुक्त भी है। वैसे यह सम्पूर्ण युग ही गीति-काव्य का रहा है। इस काव्य-धारा ने जैसे भावाभिव्यंजना में प्रकृतवाद (Naturalism) को अपनाया है उसी प्रकार ये शैली में भी अधिक यथार्थता और सरलता की ओर झुके हैं। इनके भावों में अधिक नग्नता और मादकता है, तथा अभिव्यंजना में अधिक स्पष्टता और सरलता। छायावाद की तरह इन्होंने अधिक अलंकरण लाक्षणिकता, और प्रतीक पद्धति को नहीं अपनाया है क्योंकि इस काल के कवियों में वह संकोच ही नहीं रह गया था, जिसके कारण भावों पर प्रतीक और संकेतों का आवरण चढ़ाना आवश्यक समझा जाता है।

प्रगतिवाद

किसी युग की एक विचार-धारा जब रूढ़ होकर जीवन, संस्कृति और कला के सहज एवं स्वाभाविक विकास का अवरोध करने लगती है, उस समय उस रूढ़ दृष्टिकोण को छोड़कर अन्तस्तल में प्रवाहित जीवन के उस सत्य एवं शक्ति का जिसमें जीवन के भावी स्वस्थ स्वरूप के विकास के बीज अन्तर्हित है, उद्घाटन तथा उसके विकास को वेग प्रदान करना ही प्रगतिशीलता है। जीवन में प्रगतिशीलता की शक्ति शाश्वत है।

कभी वह उसके सतह पर ही प्रवाहित होती हैं तथा कभी अन्तस्तल में चली जाती है। प्रत्येक महान् प्रतिभा इसी शक्ति को अधिक वेगवान करती है। प्रगति का यह अर्थ सम्प्रदाय-विशेष की संकुचित सीमाओं से मुक्त एवं व्यापक है। पर आज हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद एक विशिष्ट एवं साम्प्रदायिक अर्थ में प्रयुक्त होता है। उसका आधार मार्क्स-दर्शन है।

यह हम ऊपर देख चुके हैं कि किस प्रकार छायावादी कविता व्यक्ति के चारों ओर केन्द्रित होकर जीवन के समष्टिगत रूप से विमुख हो गई थी। व्यक्तिवादी काव्य-धारा के प्रारंभिक वर्षों में छायावाद के ही प्रमुख कवियों को ही छायावादी-विचार धारा की अशक्तता पर विश्वास हो चला था। पन्तजी ने छायावाद की असमर्थता की घोषणा करते हुए कहा है "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन-आदर्शों का प्रकाश और भावना का सौन्दर्य और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था। "महादेवीजी ने भी इसको विकास के लिये सक्षम जीवन के उस यथार्थ को ग्रहण करने में असमर्थ बताया, जो भावी युग के आदर्श की रूपरेखाओं में प्रस्तुत कर पाता।" इधर छायावाद से ही विकसित व्यक्तिवादी काव्य-धारा भी कुछ वर्ष तक नियतिवाद, विद्रोह और क्षोभ के गीत गाकर मानव-सहानुभूति के व्यापक स्वरूप की ओर उन्मुख हो गई थी। इस प्रकार जब छायावाद के पन्द्रह-सोलह वर्ष व्यतीत हो चुके थे तो परिस्थितियाँ स्वतः ही बदल गई और छायावादी कवि ही यथार्थ जीवन की ओर उन्मुख होने लगे। पन्तजी का ही ध्यान शोषित मानवता की ओर गया। वे 'युगवाणी' 'ग्राम्या' आदि में भौतिकवाद को अपनाते हुए तथा समाजवाद के स्वर में स्वर मिलाते हुए से प्रतीत होते हैं। पर भौतिकवाद में उनका दृढ़

विश्वास नहीं जम सका। वे फिर आध्यात्मिकता की ओर लौट आये। यही बात निराला और महादेवीजी के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, ये दोनों भी आध्यात्मिकता का परित्याग नहीं कर सके। आध्यात्मिकता गाँधीवाद तथा भारत की अतीत संस्कृति पर अधिष्ठित लोकचेतना के विकास का पूर्वाभास मात्र इन कवियों की वर्तमान कवितायें हैं। मार्क्सवादी विचार-धारा के विपरीत दिशा में विकसित होती हुई बिना समान आध्यात्मिक लोकचेतना की पृष्ठ-भूमि इन कविताओं का मानना चाहिए। पर पन्तजी की कुछ रचनाओं को मार्क्सवादी प्रगतिवाद के अन्तर्गत मानने की भूल हो गई है।

सन् १९३६ में डा० मुल्कराज आनन्द तथा सज्जाद जहीर के उद्योग से प्रेमचन्दजी के सभापतित्व में भारत में भी प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। उसका दूसरा अधिवेशन कवीन्द्र रवीन्द्र के सभापतित्व में हुआ। लेकिन हिन्दी-साहित्य में साम्प्रदायिक प्रगतिवाद का प्रारंभ तो सन् ३७ से माना जाना चाहिए। प्रेमचन्दजी ने साहित्य के उपयोगितावादी दृष्टिकोण का तो समर्थन किया, पर उनकी विचार-धारा पर मार्क्सवाद का प्रभाव ही नहीं प्रतीत होता है। सन् ३७ में शिवदानसिंह चौहान ने हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता के नाम से एक निबन्ध लिखा था। उसमें तत्कालीन साहित्य को पूँजीवाद की देन कहा गया था। तभी से हिन्दी में प्रगतिवाद का सम्बन्ध मार्क्सवाद से हो गया है। पन्त आदि का समष्टि की समस्याओं की ओर झुकना तथा मार्क्सवादी विचार-धारा का हिन्दी-साहित्य पर आरोप प्रायः समसमायिक सा ही था। इससे उनमें आलोचकों को मार्क्सवाद की भ्रान्ति हो गई है। अस्तु आज मार्क्स दर्शन के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों से प्रेरित साहित्य ही प्रगतिवादी साहित्य कहलाता है, इसलिए इसके

स्वरूप को समझने के लिए मार्क्स के दर्शन का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

मार्क्स जगत् के पार्थिव और आधिभौतिक स्वरूप को ही परम सत्य मानता है। आधिदैविक और आध्यात्मिक सत्ता इसी जगत् की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। हीगल ने बाह्य जगत् को विचारों की अभिव्यक्ति मात्र माना था। पर मार्क्स ने उसके विपरीत विचार, मन और आत्मा को बाह्य जगत् का प्रतिविम्ब कह दिया। एंजिल्स ने कहा है कि इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष जगत् ही सत्य है और इन्द्रियातीत प्रतीत होने वाली चेतन सत्ता तो इसी भूत-तत्त्व का विकास है। मार्क्स मस्तिष्क को पदार्थ का ही विकास मानते हैं। इनका दूसरा सिद्धान्त है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु में दो विरोधी तत्त्वों का शाश्वत संघर्ष चल रहा है। इससे यह जगत् चिरन्तन विकासशील है, उन्नति ही कर रहा है। मार्क्स की दृष्टि से परिवर्तन हमेशा ही उन्नयन और उत्कर्ष का हेतु है। इन दो विरोधी तत्त्वों को क्रमशः विकासमान (Positive) और मरणशील (Negative) के नाम से अभिहित किया जाता है। वस्तु में ही अपने वर्तमान स्वरूप के विनाश तथा भावी स्वरूप के विकास के तत्त्व विद्यमान रहते हैं। वस्तु का प्रस्तुत अवस्थान (Thesis) अपने ही विरोधी तत्त्वों के संघर्ष से प्रत्यवस्थान (Antithesis) में परिणत हो जाता है। संघर्ष और भी आगे चलता रहता है तथा दोनों विरोधी तत्त्वों में सामञ्जस्य स्थापित होकर वस्तु साम्यावस्था (Synthesis) को पहुँच जाती है। इसी क्रम से तीनों अवस्थाओं में वस्तु परिणित होती रहती है। इन दोनों तत्त्वों का विपर्यय होता रहता है। एक अवस्था का विकासमान तत्त्व दूसरी अवस्था में मरणशील बन जाता है। जब तक एक तत्त्व जीवन को गति प्रदान करने में समर्थ रहता है, तब तक तो वह विकासशील है, उसके बाद मरणशील हो जाता

है। साहित्य और कला का उद्देश्य इसी विकासशील तत्त्व का समर्थन तथा उसकी गति प्रदान करना एवं गतिरोध करने वाले मरणशील तत्त्व का विनाशक है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर समाज का विकास तथा समाज और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन ऐतिहासिक भौतिकवाद कहलाता है। भौतिक जीवन ही समाज के विकास का नियन्त्रण करता है। राजनीति, नीतिशास्त्र, धर्म, संस्कृति, कला आदि सभी कुछ भौतिक परिस्थितियों से निर्मित होती हैं तथा इनके बदलने पर उनका बदल जाना भी अपरिहार्य है। इसलिए जीवन के मानमूल्य एक युग की वस्तु है, वे शाश्वत नहीं माने जा सकते। इसीलिए मार्क्सवाद धर्म, नीति साहित्य, संस्कृति आदि के किसी ऐसे मानदण्डों को स्वीकार नहीं करता है जो शाश्वत कहा जा सके। प्रत्येक मानदण्ड और आदर्श समय-सापेक्ष है। एक युग का विकासशील तत्त्व दूसरे युग में मरणशील हो जाता है, इसलिए वह जीवन का गतिरोध करने लगता है। ऐसे तत्व का विनाश आवश्यक हो जाता है।

मार्क्सवाद के अनुसार समाज और व्यक्ति के जीवन की गति विधि का नियामक अर्थ है। उत्पादन का प्रकार ही समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध का स्वरूप निश्चित करता है तथा इसी से संस्कृति धर्म, राजनीति साहित्य आदि के नियम बनते हैं। ज्यों ज्यों उत्पादन के प्रकार बदलते हैं, त्यों त्यो समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध भी बदलता है और उसी के अनुरूप साहित्य में भी परिबर्तन होते हैं। इसीं से मार्क्सवादी आलोचक को साहित्य का मूल आधार आर्थिक मानने का आग्रह है। कॉडवेल ने कविता के मूल आधार को जातीय नहीं आर्थिक ही माना है। इसमें सभी मार्क्सवादी एक मत है। पर वे अर्थ अथवा उत्पादन के प्रकार का साहित्य-दर्शन आदि पर परोक्ष नियन्त्रण मानते हैं, सीधा

नहीं। एंजिल्स, यूदिन आदि ने साहित्य और अर्थ का सीधा सम्बन्ध मानने को मार्क्सवाद की हत्या करना कहा है। पर हिन्दी के मार्क्सवादी अर्थ और साहित्य का सीधा सम्बन्ध मान बैठने की गलती कर रहे हैं। अर्थ वर्ग-विभाजन का आधार है। उसी के अनुरूप समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों की कल्पना होती है तथा वर्ग की मान्यतायें बन जाती हैं। ये मान्यतायें नियम और सिद्धान्तों का रूप धारण करके समाज के विकास का नियन्त्रण करती हैं। मार्क्सवाद साहित्य और कला को समष्टिगत चेतना की अभिव्यक्ति मानता है। उसमें एक युग के शासक-वर्ग के प्रतिनिधि विचारों और सामूहिक भावों को अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। मार्क्सवादी इस अभिव्यक्ति का माध्यम व्यक्ति को ही मानता है। पर वह व्यक्ति सभीष्टि का प्रतिनिधि मात्र होता है। इस प्रकार मार्क्सवाद द्वारा प्रतिपादित समाज के जीवन की मूल नियामक अर्थ-शक्ति साहित्य में वर्ग की प्रतिनिधि विचारधारा तथा कलाकार के व्यक्तित्व के दो हरे आवरण में से ही अभिव्यक्त हो पाती है और इसका नियन्त्रण भी इस प्रकार परोक्ष हो जाता है। मार्क्सवादी उत्पादन के प्रकारों से उद्भूत विचार धाराओं के स्वन्त्र विकास के सिद्धान्त को भी मान लेता है। अगर वह विचारों की स्वतन्त्र सत्ता न माने तो विकास को समझाना कठिन हो जाय।

मार्क्सवाद साहित्य में यथार्थ के चित्रण का समर्थन करता है, पर अतियथार्थ (Surlism) अथवा प्रकृतिवाद (Naturalism) का नहीं। उसकी मान्यता है कि कलाकार को जीवन की बाह्य एवं स्थूल परिस्थितियों के यथार्थ चित्रण के साथ ही उनकी नियामक शक्तियों का भी उद्घाटन करना है। इतना नहीं, उसे जीवन के अन्तस्तल में विराजमान उस विकासशील सत्य को भी पहचानना है, जो जीवन को भावी गति प्रदान करने में सक्षम है

तथा उस सत्यसे उन तत्वों को अलग कर लेना है जो मरणशील हैं तथा जीवन का गतिरोध कर रहे हैं। उस सत्य को विकास की प्रेरणा देना तथा प्रतिक्रियात्मक शक्ति के विरुद्ध घृणा जाग्रत करके उसे नष्ट करने का प्रयत्न ही वस्तुतः प्रगतिशील साहित्यकार का कर्त्तव्य है। इसी व्यापक मानदण्ड के आधार पर मार्क्सवाद साहित्य के एक रूप को प्रतिक्रियावादी और दूसरे को प्रगतिशील कहने की अनुमति देता है। अगर कलाकार समाज की कुत्साओंका नग्न एवं रोचक चित्र प्रस्तुत करेगा, व्यक्ति में उन्हीं कुत्साओं के प्रति प्रेम जाग्रत करके, तथा उन्हें अपनाये रखने की प्रेरणा देकर समाज के लिए घातक सिद्ध होगा। यहाँ तक तो मार्क्सवाद साहित्य में उस यथार्थवाद का समर्थक है, जो सार्वदेशिक और सार्वभौम सिद्धान्त हैं, तथा जिसका विरोध कोई भी सच्चा साहित्य-विज्ञ नहीं करेगा। पर मार्क्सवाद इतने से संतुष्ट नहीं है उसने प्रत्येक युग के विकासशील सत्य का स्वरूप पहले से ही निश्चित कर रखा है। उसके विरुद्ध जाने वाले कलाकारों को वह प्रतिक्रियावादी घोषित कर देता है। मार्क्सवाद ने आगामी युग की पहले से भविष्यवाणी कर रखी हैं। आज पूँजीवाद का युग है। अर्थ की इस पूँजीवादी व्यवस्था को वह आज जीवन की सहज प्रगति में बाधक मानता है, इसलिए इस व्यवस्था के नाश तथा समाजवादी व्यवस्था के निर्माण के प्रोत्साहन को ही वह प्रगति कहता है। इसी का चित्रण उसकी दृष्टि से यथार्थवाद है। इसको मार्क्सवाद समाजवादी यथार्थवाद के नाम से अभिहित करता है। प्रगति के मूल्यांकन का यह मुख्य पृष्ठाधार है। आज पूँजीवाद शोषक एवं मरणशील तत्व है, उसका नाश तथा समाजवाद की प्रतिष्ठा ही सबसे अधिक वाञ्छनीय है। इसलिए सम्पूर्ण साहित्य की शक्ति इस ओर प्रेरित की जानी चाहिए। संक्षेप में यही मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन की रूपरेखा है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि मार्क्सवादी साहित्य की मूल चेतना सामाजिक है। वह सम्पूर्ण समाज के सुख-दुःख को अभिव्यक्ति देता है। वह व्यक्ति की समस्याओं में उलझे रहने तथा अपने ही हृदय को रुचिकर प्रतीत होने वाले सौन्दर्य का आस्वाद करते रहने को विकृत मनोभावना का परिचायक मानता है। प्रगतिशील लेखक समाजिक समस्याओं के समाधान तथा उसको स्वास्थ्य प्रदान करने को ही साहित्य का प्रकृत उद्देश्य मानता है। आज वह सम्पूर्ण समाज का कल्याण समाजवाद की स्थापना में समझता है, इसलिए वह उसी के लिए प्रचार करता है। तथा पूँजीवादी नीति, धर्म, और साहित्य का खण्डन करता है। उसके साहित्य में राष्ट्रीय भावनाओं की भी अभिव्यक्ति होता है, पर उसकी राष्ट्रीयता का आधारभूत सिद्धान्त विध्वंसात्मक क्रान्ति है। वह मजदूर और सर्वहारावर्ग के कल्याण को ही महत्व प्रदान करता है। शेष वर्गों के साथ तो उसे सहानुभूति ही नहीं है, अपितु कुछ वर्गों के विरुद्ध तो वह घृणा का प्रचार भी करता है। पंडे, पुजारी, ब्राह्मण, धनवान, जमींदार आदि के तो नाम से ही उसे घृणा है। जहाँ मार्क्सवाद सिद्धान्तों में वर्ग-हीनता की दुहाई देता है वहाँ वह व्यवहार में वर्गवादिता तथा उस पर अधिष्ठित घृणा को प्रश्रय देता है। हिन्दी का मार्क्सवादी साहित्य वर्गहीन समाज का निर्माण नहीं कर पा रहा है, अपितु उल्टा वर्गवाद की कटुता को प्रोत्साहन दे रहा है। भारत का मार्क्सवादी स्वस्थ वैज्ञानिक दृष्टि कोण नहीं अपना सका है। उसका भारत के जन-जीवन, के साथ गहरा सम्पर्क नही है। शोषित व्यक्ति के प्रति उसकी सहानुभूति केवल बौद्धिक एवं वाचिक हैं, उनमें सच्ची एवं स्वस्थ अनुभूति की मार्मिकता नहीं है। वह शोषक नीति का विरोध करने की अपेक्षा विशेष वर्ग के व्यक्ति के विरुद्ध घृणा का प्रचार अधिक करता है। प्राचीन इतिहास एवं पुराण की कथाओं को अपने

सिद्धान्तों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए विकृत रूप में प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार रूढ़िवादिता के खण्डन के आवेश में वह प्राचीन संस्कृति की उपेक्षा ही नहीं अपितु उसके प्रति व्यापक घृणा के प्रचार का कार्य भी कर रहा है। ब्राह्मण आदि उच्च वर्गों के प्रति जो गुप्त एवं प्रकट रूप से साहित्य घृणा का प्रचार कर रहा है उसमें वर्गहीन समाज के निर्माण की तथाकथित स्वस्थ प्रेरणा की अपेक्षा वैयक्तिक कारण अधिक है। मनोविश्लेषण शक्तियों को इन कारणों की खोज करनी है। सिद्धान्ततः आज का भारतीय मार्क्सवादी फ्रायड आदि के दृष्टिकोणों का विरोधी है, पर साहित्य-सर्जन में वह उसके प्रभावों से मुक्त नहीं हो सका है। वह काम का नग्न चित्र उपस्थित करने में जैसा आनन्द लेता है, उससे वह अतियथार्थवादी से ऊपर उठा नहीं प्रतीत होता है। हिन्दी का अधिकांश तथाकथित प्रगतिवादी-साहित्य एक विशेष राजनीतिक वाद का प्रचार-साहित्य मात्र है। उसकी प्रेरणा का स्रोत भारत-भूमि की संस्कृति एवं जीवन नहीं, कवि का सच्चा हृदय नहीं, अपितु रूस की पुस्तकें हैं। भारत का प्रगतिवादी उन्हीं के शब्दों में कुत्सित समाजशास्त्री परिधियों से बाहर नहीं निकल पाया है।

मार्क्सवाद के प्रभाव से हिन्दी में कविता कहानी आदि की अपेक्षा आलोचना-साहित्य का अधिक निर्माण हुआ। अभी सर्जन के उपयुक्त उत्कृष्ठ भावभूमि नहीं तैयार हो पाई है। प्रगतिशीलता को अभी हिन्दी वालों ने बुद्धि से परखने की ही चेष्टा अधिक की है। उनका दृष्टिकोण विध्वंसात्मक अधिक है। शायद निर्माण के पूर्व व्यापक विध्वंस आवश्यक होता है। वे नई बात कहने के आवेश में भारतीय संस्कृति के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि तुलसी जैसी प्रतिभा का भी हृदय से स्वागत नहीं कर सके हैं। मानवतावाद की कृत्रिम सी व्याख्या करके सूर,

तुलसी, कबीर की पारस्परिक तुलना में उल्टी सीधी बातें कह गये हैं।

हम गद्य-साहित्य के प्रसंग में प्रगतिवादी उपन्यासों कहानियों आदि पर विचार कर चुके हैं। कविता के क्षेत्र में नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगलसिंह 'सुमन' केदार, नागार्जुन आदि प्रमुख हैं। अब तक के प्रगतिवादी साहित्य पर पार्टी का अधिक नियन्त्रण रहा है। अगर भविष्य में यह नियन्त्रण कम होगा तो हिन्दी की उत्कृष्ट प्रतिभायें उसकी ओर आकृष्ट होंगी तथा स्वस्थ प्रगतिशीलता का जन्म हो सकेगा जिसका आधार भारतीय संस्कृति और विचार-धारा होगी।

प्रगतिवादी ने काव्य की अभिव्यक्ति के माध्यम में भी परिवर्तन किया है। उसमें मनोरम, सुन्दर और कोमल को अपनाने की भावना नहीं रही। अब कवि स्थूल, अनगढ़ और नित्य-प्रति के व्यवहार की वस्तुओं को अधिक महत्व देने लगा है। उसकी शब्द-योजना में पहले का सा कला-विलास नहीं है। वह खड़ी और सीधी है। उसमें अनगढ़पन अधिक है। उसमें अलंकरण की तड़क भड़क और भावों का माधुर्य नहीं अपितु आलोचना का तीखापन है।

प्रयोगवादी

छायावाद की सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति तथा अभिव्यंजन की बारीकी एवं कौशल वाली काव्य-शैली को तत्कालीन जीवन की गतिशील विषम और अव्यवस्थित अवस्थाओं को अभिव्यक्त करने में असमर्थ पाकर कुछ नवीन पीढी के कवियों में उस पद्धति के प्रति असन्तोष जाग्रत हो गया था, यह हमपहले कह चुके हैं। उस कविता के विरुद्ध वस्तुन्मुखी प्रतिक्रिया प्रारंभ हुई। इस प्रतिक्रिया ने दो रूप धारण किये। एक ने मार्क्सवादी विचार-धारा को अपनाकर निश्चित जीवन-दर्शन से कविता कोनूतन स्वरूप प्रदान किया। उस

वर्गने कविता को मार्क्सवादी विचार-धारा के प्रचार का साधन बना दिया। पर दूसरे वर्ग ने इनकी अपेक्षा अधिक बौद्धिकता स्वतंत्रता का परिचय दिया। उसने अपना किसी भी राजनीतिक अथवा सामाजिकवाद से गठबंधन नहीं किया। अपने को वादों से स्वतंत्र रखकर वह नवीन मार्ग का अनुसंधान करने में प्रवृत्त हो गया। यह वर्ग काव्य और जीवन की अबतक की मान्य धारणाओं, पद्धतियों और शैलियों के प्रति अपना विश्वास खो चुका है, पर अब तक किसी नवीन मार्ग, विचार-धारा और शैली का निर्माण नहीं कर पाया है, इसलिए किसी नूनत वस्तु स्थिति का निर्माण करने के लिए प्रयोग कर रहा है। इन कविताओं को 'प्रयोगवादी' कहने का यही रहस्य है। यह नाम इस वर्ग के कवियों ने स्वयं ही अपने लिए चुना है।

इस धारा की प्रतिनिधि रचनाओं का एक संग्रह 'तारसप्तक' के नाम से अज्ञेयजी द्वारा संकलित हुआ है। उस संग्रह के सभी कवियों ने अपने काव्य और जीवन सम्बन्धी विचारों की विवृत्ति दी है। उन सबमें सबसे बड़ी एकता और समता यही है कि वे सब राह के अन्वेषक हैं, प्रयोगकर्त्ता हैं। इसके अतिरिक्त उनका परस्पर में किसी भी बात में मतैक्य नहीं है। अज्ञेयजी मतभेद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते है "प्रत्येक विषय में इनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे साथी जगत् के ऐसे सर्वसामान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे स्वीकार नहीं करते जैसे लोकतंत्र की आवश्यकता, उद्योगों का सामाजीकरण, यांत्रिक युद्ध की उपयोगिता, बनस्पति घी की बुराई, काननवाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता इत्यादि"। अज्ञेयजी यह भी स्वीकार करते हैं कि ये कवि एक दूसरे के रुचि-विश्वासों पर भी हँसते हैं। इस प्रकार इस काव्य-धारा में विरोधों का विचित्र मिश्रण हो गया है।

प्रयोगवादी कवि अपनी संवेदनाओं को उलझी हुई

मानता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति के लिए भी उसे आड़ी-तिरछी लकीरों का उपयोग करना पड़ता है। इस उलझन के कारणों का भी अज्ञेयजी संकेत कर देते हैं। पहला आभ्यान्तर संघर्ष है तथा दूसरा बाह्य संघर्ष। एक तरफ इन कवियों में काम-कुंठा है तथा दूसरी तरफ ये बाह्य-संघर्ष के प्रति बौद्धिक रूप से सजग हैं। वे अपनी दमित वासनाओं को प्रतीकों के माध्यम से यथावत् अभिव्यक्ति देना चाहते हैं। पर ऐसा संभव नहीं है। इसलिए ये भावनायें अर्ध-व्यक्त एवं अस्पष्ट ही रह जाती हैं। पाठक तक इनका प्रेषण नहीं हो पाता है।

प्रयोगवादियों ने आज तक की जीवन-सम्बन्धी विचार-धारा, साहित्य-शास्त्र के मान्य सिद्धान्तों, अभिव्यजना-शैलियों—सभी बातों के प्रति आस्था खो दी है। वैसे आज जीवन में ही अविश्वास एवं अनास्था बढ़ती जा रही है। उसको न आध्यात्मिक-दर्शन में विश्वास है, न भौतिक दर्शन में। इस अव्यवस्थित अवस्था की बहुत ठीक अभिव्यक्ति प्रयोगवादियों में हो रही है। वे प्रयोग कर रहे हैं, पर किसी आदर्श को ध्यान में रख कर नहीं। गन्तव्य-विहीन राही की जो अवस्था होती है, वही इन कवियों की है। इससे एक तरफ उनकी कविता में सुनिश्चित विचार-धारा का अभाव है, तो दूसरी तरफ वर्ण्यविषयों में भी कोई व्यवस्था नहीं प्रतीत होती है। लघु-गुरु का सारा भेद ही समाप्त हो गया है। कवि चाँदनी रात और 'मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत के गदहे' की बात एक साथ करने लगा है अब तक काव्य में सौन्दर्य के मधुर एवं रमणीय रूप को ही महत्व था। पर ये कवि भेद से और अनगढ़पन की ओर ही अधिक झुके हैं। उनको मान्यता है कि आज जीवन में भदेसपन ही अधिक है, उसी की चेतना ही कवि के लिए अधिक स्वाभाविक है। अब तक साहित्य-शास्त्र के साधारणीकरण तथा लोकसामान्य की भावभूमि के सिद्धान्त

सर्वमान्य रहे हैं, पर प्रयोगवादी इस सिद्धान्त को भी नहीं मानना चाहता है। उसने कविता में भाव और कल्पना के स्थान पर बौद्धिकता को प्रधानता दी है। उसमें रागात्मकता नहीं है।

भाषा के क्षेत्र में भी प्रयोगवादी कविता नवीन दिशा की ओर उन्मुख है। वह सर्वसाधारण द्वारा समर्थित तथा आज तक के मान्य एवं प्रचलित अर्थ-व्यंजना के साधनों को अनुपयुक्त तथा अभिव्यक्ति को संकुचित घेरे में बाँधने वाला मानता है, इसलिए वह इस क्षेत्र में भी नवीन प्रयोगों का समर्थक है। वह शब्दों में साधारण से अधिक अर्थ भरना चाहता है पर वह अर्थ उसी को स्पष्ट रहता है। भाषा सर्व-सामान्य के लिए होती है, पर वह इस क्षेत्र में वैयक्तिकता को महत्व देता है। ये प्रयोग व्यक्तिगत है। प्रयोगवादी कवि का जब भाषा की शब्द शक्तियों और प्रतीकों द्वारा काम नहीं चल पाता है, तो वह विरामादि चिह्नों, आड़ी तिरछी लकीरों तथा मोटे-महीन टाइप का आश्रय लेता है। भाषा में अभिव्यक्ति के लिए इन सभी साधनों का प्रयोग होता हैं, पर ये सब साधन बुद्धि-जगत् की वस्तु हैं। विचारों के जड़ रूप के प्रेषण और सूचना के लिए ये स्थूल साधनमात्र हैं। इन साधनों का प्रयोग गद्य की भाषा में होता रहा है। पर वहाँ पर भी ये भाषा के असामर्थ्य के ही द्योतक रहे हैं। फिर काव्य की भाषा के तो संगीत, भावात्मकता लय अनिवार्य गुण हैं। इन आडी-तिरछी रेखाओं मोटे-महीन टाइप संगीत और लय के अभाव की पूर्ति नहीं हो पाती है। ये उनका स्थान नहीं ले पाते हैं।

इन प्रयोगवादी कविताओं में गद्यमयता ही अधिक है, इसलिए इनका छन्द-विधान भी पहले की अपेक्षा भिन्न है। ये कवि मुक्तक छन्दों का ही अधिक प्रयोग करते हैं। ये छन्द के अन्त में तुकों के प्रयोग का विरोध करते हैं। उनको नादमयता विषय की गम्भीरता को नष्ट करने का कारण प्रतीत होती है।

बीच-बीच में कहीं-कहीं यह कवि लय, तुक आदि का भी थोड़ा प्रयोग करता है। इन कवियों ने विभिन्न मात्रिक और वर्णिक छन्दों का मिश्रण किया है। इनकी कवितायें रागात्मक तत्वों के अभाव, अस्पष्ट प्रतीकों विचित्र अनुभवों के यथार्थ चित्रण के आग्रह, अत्यधिक बौद्धिकता साधारणीकरण के त्याग तथा भाषा के वैयक्तिक और अव्यवस्थित रूप के कारण दुरूह हो गई है।

इस धारा के सबसे प्रमुख कवि अज्ञेयजी हैं। इनके अतिरिक्त केदार, शमशेरसिंह, गिरिजाकुमार, प्रभाकर माचवे आदि और हैं।

आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना भी हिन्दी-साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है। तृतीय उत्थान की कविता की भी यह एक विशेषता है। कुछ कवियों के काव्य का तो यह प्रमुख स्वर ही है। पर छायावाद, प्रगतिवाद आदि की तरह इस प्रवृत्ति पर किसी सम्प्रदाय या धारा विशेष का आरोप करना समीचीन नहीं है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति होते हुए भी इसने अपना कोई अलग मार्ग नहीं बनाया है। छायावादी, प्रगतिवादी और द्विवेदीयुगीन सभी कवियों की वाणी में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना मुखरित हुई है। यह भी हमारे वर्तमान जीवन का प्रमुख स्वर है। यही कारण है कि राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक भावनाओं को सभी प्रकार की काव्य-शैलियों में स्थान मिला है। इनका कोई काव्य सम्बन्धी अपना पृथक् दृष्टिकोण नहीं है, जो किसी अलग काव्य-धारा या सम्प्रदाय में विकसित होता। यह तो काव्य के वर्ण्य-विषय अथवा भाव-धारा की एक प्रमुख प्रवृति मात्र है।

यह प्रवृत्ति बराबर विकासमान रही है। भारतेन्दुयुग में इसका स्वर समाज-सुधारवादी था। देश अन्य देशों की तरह उन्नति करे, यही राष्ट्रीयता थी। द्विवेदी-युग के कवियों का ध्यान

अपने अतीत गौरव की ओर अधिक गया, इसलिये उससे पूर्व भारतवासियों में जो हीन-भावना थी वह धीरे-धीरे समाप्त होने लगी। साम्राज्यवाद के प्रति जो अब तक उपेक्षाभाव था, वह भी घृणा में परिणत होने लगा तथा अंग्रेजी राज्य को वरदान के स्थान पर अभिशाप मानने की प्रवृत्ति भी प्रबल हो गई। पराधीनता-जनित व्यथा और क्रोध को भी काव्य में अभिव्यक्ति मिलने लगी। प्रथम महायुद्ध ने गोरी जातियों की रही-सही महत्ता की भी कलई खोलदी। भारतवासी उनकी संस्कृति की महत्ता के कायल नहीं रह गये। उन्हें अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता में अडिग विश्वास होने लगा। द्विवेदी युग की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक कविताओं में हिन्दुत्व का स्वर प्रमुख था। तृतीय उत्थान में हिन्दुत्व की भावना का ह्रास तो नहीं हुआ, पर उसमें साम्प्रदायिकता का अभाव होगया। उसके विश्वव्यापी मानवीय आदर्शों का स्वागत होने लगा। इधर जीवन और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में साम्प्रदायिकता का स्पष्ट रूप से उग्र विरोध भी हुआ। हिन्दु-संस्कृति वर्गवाद, साम्प्रदायिकता, या दशगत राष्ट्रीयता की संकोचशील परिधियों में बँधी रहने वाली नहीं है। उसके आदर्श हमेशा ही महान् रहे हैं। तृतीय उत्थान की राष्ट्रीय भावनाओं को अन्तर्राष्ट्रीयता एवं विश्वव्यापी सांस्कृतिक चेतना के स्वर प्राप्त हुये हैं। उसमें सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की बातें भी सोची जाने लगी। पन्तजी आदि कवियों की वाणी इसी महान् भावना को प्रेरणा देने लगी। प्रगतिवादियों ने वर्गवाद के खण्डन को ही राष्ट्रीयता मानना शुरू किया। वे पूँजीवाद को राष्ट्र और संस्कृति के लिए घातक मानते हैं, उसका विरोध ही राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिकता है। दूसरी तरफ विशुद्ध व्यापक मानवतावादी दृष्टि-कोण को भी प्रश्रय मिला।

गाँधीजी के सिद्धान्तों के प्रभाव-स्वरूप तथा देश की राज-

नीतिक अवस्थाओं के कारण हिन्दी में राष्ट्रीय भावनाओं ने अहिंसात्मक पद्धति को अपनाया। उसमें उत्साह एवं वीर भावों ने त्याग तथा बलिदान का स्वरूप धारण किया। यहाँ आक्रान्ता के उत्साह का वर्णन नहीं अपितु मातृभूमि की बलिवेदी पर हँसते-हँसते प्राण देने वाले के उत्साह का वर्णन हुआ है। हँसते-हँसते मर मिटने में क्रुद्ध होकर आक्रमण करने से कम उत्साह अपेक्षित नहीं है। जीवन का मोह ही व्यक्ति को कायर बनाता है; वीर जीवन-मरण का निर्भय एवं निरपेक्ष भाव से स्वागत करता है। प्रसन्नता पूर्वक मृत्यु का आलिंगन करने के उत्साह का ही आधुनिक हिन्दी-साहित्य में अधिक वर्णन हुआ है। गुप्तजी, सुभद्राकुमारी चौहान, नवीन, दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी आदि सभी राष्ट्रीय कवियों ने त्याग और बलिदान के गौरव का चित्रण किया है। इन राष्ट्रीय कवियों ने अतीत के गौरव, वर्तमान की आशा तथा भविष्य के उज्ज्वल स्वप्नों के भी चित्र दिये हैं। इस प्रकार जहाँ एक तरफ वीरोचित उत्साह को बलिदान तथा विद्रोह एवं क्रान्ति की प्रेरणा में अभिव्यक्ति हुई है वहाँ दूसरी तरफ इनके उत्साह में निर्माण की कामना भी विद्यमान है। इनका स्वर आशावादी है। इसी आशा और आस्तिकता से अनुप्राणित होकर हिन्दी के राष्ट्रीय कवि ने प्रत्येक कण-कण को क्रान्ति का उद्बोधन गीत सुनाया है।

इन राष्ट्रीय कवियों ने देश के प्रति अनुराग की अनेक रूपों में अभिव्यक्ति की है। विंध्य, हिमालय, गंगा सिन्धु, आदि के बाह्य सौन्दर्य का तो वर्णन हुआ ही है इसके अतिरिक्त उनका भारतीय संस्कृति के गौरव के प्रतीकों के रूप में भी ग्रहण हुआ है। कवि उनमें भारत की सांस्कृतिक गरिमा का अनुभव करता है। तृतीय उत्थान के कवियों ने नदी, पहाड़, और देशों अथवा अतीत के इतिहास में ही भारत के दर्शन नहीं किये हैं, अपितु देश के

समूचे जनसाधारण में, उसके बच्चे-बच्चे में भारत की प्रतिमा का साक्षात्कार किया है। उसने देश के निर्धन किसानों, शोषित मजदूरों, भूखी नंगी जनता, घरबार हीन भिखारियों में भारत की पीड़ित आत्मा के दर्शन किये हैं। क्रूर अत्याचारों में पिसी हुई मातृभूमि की दुर्दशा पर कवि का हृदय आँसुओं में बह उठा है। इस प्रकार भारत की पीड़ित मानवता के प्रति समवेदना जाग्रत करके राष्ट्रीय कवियों ने व्यापक क्रान्ति को जन्म दिया है। उसके संवेदनशील हृदय ने देश के जड़ स्थूल एवं बाह्य रूप से हटकर उसके चैतन्य स्वरूप के साथ तादात्म्य स्थापित किया है। उसने बच्चे-बच्चे में, कण-कण में देश की आत्मा के दर्शन किये हैं। आज वह देश की जड़ परिधियों के बन्धनों को तोड़ कर विराट् मानवता को अपनाने के लिए उन्मुख है।

प्रमुख कवि

बाबू जयशंकर प्रसाद 'प्रसाद'—

प्रसादजी आधुनिक हिन्दी-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा हैं। साहित्य-क्षेत्र में इनका पदार्पण द्वितीय उत्थान के दूसरे चरण में ही हो गया था तथा उसी समय से इन्होंने अपना कार्य प्रारम्भ भी कर दिया था। साहित्य को नवीन स्वर प्रदान करने की अकांक्षा के दर्शन इनकी चित्राधार में संकलित प्रारम्भिक रचनाओं में ही होने लगे थे। पर इनका युग-प्रवर्तक रूप तृतीय उत्थान में ही निखरा। द्विवेदी-युग की कविता स्थूल अनुदात्त एवं रूढ़िबद्ध सी थी। उसमें रमणीयता और माधुर्य का अभाव था। द्विवेदी युग की नैतिकता के रूढ़ दृष्टिकोण ने शृङ्गार-रस की कविताओं को नीरस एवं प्रभाव शून्य कर दिया। जीवन का यह महत्वपूर्ण पक्ष अपनी मार्मिकता ही खो बैठा। रीतिकाल के कवियों के समक्ष इसके अतिरिक्त कुछ कहने को नहीं था और

इतिवृत्तात्मक कवियों के हृदय में इसकी मार्मिकता की अनुभूति नहीं थी। ये दोनों ही चरम एवं अतिवादी दृष्टिकोण काव्य-क्षेत्र को संकीर्ण करने वाले असमीचीन दृष्टिकोण हैं। प्रसादजी ने इन दोनों को ही अस्वीकार करके काव्य के लिए समीचीन एवं प्रकृत दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने काव्य के वर्ण्य-विषय का क्षेत्र विस्तृत कर दिया। उसमें शृङ्गार, प्रेम, नीति आदि सभी का समावेश है। एक तरफ उनका शृङ्गार और प्रेम वर्णन ऐन्द्रिक विकार का जनक मात्र नहीं है, तो दूसरी तरफ उनकी कविता नैतिकता के बाचिक उपदेश की सीमाओं में आबद्ध नहीं हो गई है।

प्रसादजी का दृष्टिकोण विशुद्ध मानवीय है। उसमें आध्यात्मिक आनन्दवाद की प्रतिष्ठा है। प्रसादजी ने प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के जड़ उपदेशों का आश्रय नहीं लिया है अपितु इन दोनों से ऊपर के उदात्त मानवीय दृष्टिकोण को अपनाया है। उनके इस दृष्टिकोण का आधार उच्च आध्यात्मिक नैतिकता है। प्रसादजी जीवन की समस्याओं से नितान्त पराङ्मुख नहीं हैं। पर वे जीवन की स्थूल भौतिक अथवा आर्थिक समास्याओं में बँध भी नहीं जाते हैं। न वे इन समस्याओं के जड़ आर्थिक समाधान खोजने में काव्य की इतिकर्त्तव्यता मानते हैं। प्रसादजी जीवन की चिरन्तन समस्याओं का कोई चिरन्तन मानवीय समाधान खोजना चाहते हैं। ऐसे समाधान के लिए उन्हें दार्शनिकता एवं आध्यात्मिकता का आश्रय लेना पड़ा है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सामंजस्य ही उच्च मानवता है। प्रसादजी ने अपने साहित्य द्वारा मानव को इच्छा, ज्ञान और क्रिया-नामक शाश्वत शक्तियों की अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करके उनमें सामंजस्य स्थापित करने की प्रेरणा दी है। इसमें जीवन की चिरन्तन समस्याओं का शाश्वत समाधान है जिसमें प्रवृत्ति एवं

निवृत्ति दोनों का समन्वय है। यही भारतीय संस्कृति की अनुपम देन है। यही सन्देश प्रसादजी ने 'कामायनी' द्वारा सम्पूर्ण विश्व की मानवता को दिया है। प्रसादजी ने जीवन दर्शन की व्यापकता एवं संदेश की महानता के साथ ही काव्य को उदात्त, मधुर एवं रमणीय भावात्मक स्वर भी प्रदान किया है। आधुनिक काल के काव्य में जो कुछ भी स्थायी एवं गौरव पूर्ण है, वह प्रसादजी के साहित्य में साकार हो गया है। अगर आधुनिक हिन्दी-साहित्य ने विश्व-साहित्य के लिए कुछ दिया है तो वह है प्रसाद, अगर साहित्य के शाश्वत विकास की शृंखला में कोई कड़ी जोड़ी है तो वह है प्रसाद।

कविता तो प्रसादजी का प्रधान-क्षेत्र है ही। पर उन्होंने काव्य की अन्य विधाओं में भी युगान्तकारी परिवर्तन किया है। कहानी, नाटक, और उपन्यास के क्षेत्रों में प्रसादजी ने नवीन क्रान्ति उपस्थित की है, उस का हम यथास्थान पहले भी निर्देश कर चुके हैं। छोटी कहानियों और उपन्यासों में प्रसादजी का दृष्टिकोण बहुत कुछ यथार्थवादी प्रतीत होता है। प्रसादजी यथार्थ से विमुख तो कहीं भी नहीं हैं, पर उपन्यास और कहानी की विधायें ही ऐसी हैं जिनमें यथार्थ अधिक निखर उठता है। इन विधाओं में समाज के निम्नस्तर के प्रति प्रसादजी की जागरूक समवेदना को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। प्रसादजी रूढ़ियों का खण्डन करते हैं, पर उनकी शैली अन्य व्यक्तियो से भिन्न हैं। वे मानव के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन करके निम्नस्तर के प्रति सहानुभूति जाग्रत करते हैं। वहीं पर भी उनकी उदात्त मानवीय कल्पना वैसी ही है जैसी अन्यत्र है। प्रसादजी की कहानियों में भावात्मक चित्रमय कल्पना तथा आलंकारिक शैली के साथ चरित्र-चित्रण की मानोवैज्ञानिक पद्धति का सुन्दर संयोग मिलता है। कहानियों में भी उनके पात्र चाहे ऊपर से सामान्य कोटि के लगते हों, पर उनका आभ्यान्तर उच्च एवं

उदात्त मानवता का परिचायक है। प्रसादजी ने कहानियों में भी अन्तर्द्वन्द्व मनोविश्लेषण, और भावसंवेदना के लिए प्रचुर स्थान बना दिया है। कहानी कला के विकास में प्रेमचन्दजी के बाद प्रसादजी का दूसरा कदम है। प्रसादजी ने अपने दोनों उपन्यासों में भी रुढ़िवादी दृष्टिकोण का खण्डन किया है। उनमें उच्च वर्ग एवं जातीयता के विरुद्ध आन्दोलन है। पर इन विधाओं में भी उनका जीवन-संदेश केवल स्थूल सुधारवादी दृष्टिकोण से नियन्त्रित नहीं हैं। वही उच्च मानवतावादी दृष्टि है, जो प्रवृत्ति निवृत्ति के सामंजस्य की आध्यात्मिकता पर टिकी हैं।

प्रसादजी ने नाट्य-साहित्य को भी नवीन पद्धति को जन्म दिया। भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों प्रकार की पद्धतियों के मिश्रण से एक नवीन नाट्य-पद्धति के निर्माण की आकांक्षा तो भारतेन्दु जी के समय में ही स्पष्ट दृष्टिगत होने लगी थी, पर उसका व्यावहारिक एवं वास्तविक रूप-संघटन प्रसादजी द्वारा ही हो सका। प्रसादजी ने रस-प्रधान भारतीय नाट्य-शैली में चरित्र-चित्रण के तत्त्व का सम्मिश्रण कर दिया। उनके पूर्व के नाटकों के पात्र व्यक्तित्व शून्य थे। प्रसादजी ने उन्हे स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान किया। उनके पात्र मनोवैज्ञानिक पृष्ठ भूमि पर खड़े हैं। प्रसादजी के पात्र विभिन्न विरोधी मनोभावों के प्रतिनिधि हैं, इससे उनके नाटकों में संघर्ष का सुन्दर तथा सफल समावेश हो सका है। पाश्चात्य नाटकों की तरह प्रसादजी के नाटकों में अन्तर्द्वन्द भी है। प्रसादजी के नाटकों में उत्कृष्ट भावसंवेदनात्मक स्थलों के नियोजन से रस-सृष्टि भी हो जाती है। प्रसादजी ने कार्य-व्यपार में प्रयत्न एवं संघर्ष का मिश्रण कर दिया है, इससे उनके नाटकों में कार्य-व्यापार की अवस्थायें भी पाँच से अधिक हो जाती हैं। उनके प्रत्येक नाटकों में पाश्चात्य-पद्धति की चरम सीमा की कार्यावस्था मिलती है। उसके बाद कार्य नियतासि की ओर बढ़ता है, पर

इन दोनों अवस्थाओं के बीच में निगति की स्थिति भी प्रसाद जी के नाटकों में अत्यन्त स्पष्ट रहती है। इस प्रकार उन्होंने दोनों प्रकार की कार्यावस्थाओं में सामंजस्य स्थापित कर दिया है। अंकों और दृश्यों के सम्बन्ध में भी उन्होंने नवीन पद्धति का ही अनुसरण किया है। इन सभी बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रसादजी ने नवीन नाट्य-प्रद्धति का सूत्र पात किया है। इस नाट्य-पद्धित का स्वरूप-संघटन पाश्चात् और भारतीय दोनों नाट्य-शास्त्रों के तत्त्वों के सामान्य मिश्रण से नहीं अपितु उनके वास्तविक सामंजस्य से हुआ है।

आधुनिक काल में नाट्य रचना की जितनी शैलियाँ प्रचलित हैं उन सब का प्रारंभ प्रसादजी ने ही कर दिया था, इसका निर्देश नाटक के विकास के प्रसंग में हो चुका है। पर प्रसादजी को सबसे अधिक ख्याति ऐतिहासिक नाटकों द्वारा ही प्राप्त हुई है। उनके ऐतिहासिक नाटकों में भारतीय संस्कृति के चित्र सफलता पूर्वक उभर सके हैं। उनके नाटकों पर बौद्ध दर्शन के दुःखवाद तथा नियतिवाद का गहरा प्रभाव है। इससे उनके नाटकों के वातावरण में गम्भीरता है, पर फिर भी प्रसादजी का आशामय संदेश कहीं भी निर्बल नहीं हो पाया है। दुःखवाद प्रसादजी का जीवन-दर्शन नहीं है। उनकी दार्शनिक मान्यता की प्रयोगशीलता की एक अवस्था मात्र है। उस अवस्था में भी आनन्दवाद के झुकाव के स्पष्ट संकेत हैं। यही कारण है कि प्रसादजी के साहित्य में जीवन का आशामय संदेश सर्वत्र है।

प्रसादजी का कवि प्रारम्भ से ही विकासशील रहा है। कुछ कहने की आकुल चेतना के दर्शन उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में ही होते हैं। पर पहले-पहले कवि को कुछ झिझक और संकोच थी। वह अपनी अनुभूति को आवृत्त करके ही पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहता था। 'आँसू' में जाकर ही प्रसादजी अपनी

अनुभूति को अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत कर सके हैं। 'चित्राधार' में प्रसादजी प्रकृति की रमणीयता और माधुर्य पर मुग्ध है। वहाँ पर उनका जिज्ञासा भाव है, वे प्रकृति में चेतन-सत्ता के दर्शन करते हैं। उनका जिज्ञासा जनित माधुर्य भाव ही आगे चालकर रहस्यवाद में परिपक्व हो जाता है। 'प्रेम पथिक' में प्रकृति मानव की पृष्ठभूमि का कार्य करती है। कवि के हृदय में मानव-सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा का भाव जागता है। प्रसादजी की मानव-प्रेम सम्बन्धी भावना अत्यन्त स्वच्छ एवं सात्विक है। उसमें त्याग का महत्त्व है। 'आँसू' प्रसाद जी की बहुत उत्कृष्ठ रचना है। उसमें पहले का सा हल्कापन नहीं, गम्भीरता है। यह विशुद्ध मानवीय विरह-काव्य है। इसमें प्रसादजी ने विलास-वैभव का उत्कर्ष पूर्ण एवं आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया है। इस चित्र की विराटता के अनुरूप ही इस काव्य की शैली भी गरिमामय है। विलास के मद और वैभव का अभाव ही व्यथा में परिणत होकर आँसू के रूप में वह पड़ता है। यह नितान्त मानवीय स्तर की रचना है, पर इसमें चित्रित प्रेम के अन्तस्तल में आध्यात्मिकता एवं स्वर्गीयता की झलक भी अत्यन्त स्पष्ट है। विलास की ऐन्द्रिक चेष्टाओं का इस काव्य में अभाव नहीं है, पर कुल मिलाकर 'आँसू' द्वारा प्रेम के स्वर्गीय रूप का प्रभाव ही अधिक पड़ता है। यही कारण है कि कुछ लोग इसे आध्यात्मिक विरह का काव्य कहना चाहते है। वस्तुतः 'आँसू' मानव जीवन के लौकिक स्तर का विरह-काव्य है, जो आध्यात्मिक ऊँचाई का स्पर्श करता है।

'आँसू' के बाद प्रसादजी के साहित्य में एक अवसाद और स्थिरता भी प्रतीत होती है। यह स्थिरता उनके जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण के परिवर्तन की सूचक है। कवि जीवन के कल्पनाविशिष्ट एवं रोमाण्टिक वातावरण से हटकर जीवन की गहराइयों में प्रवेश करना चाहता था। वह जीवन की समस्याओं के प्रति

अधिक जागरूक हो गया। उसका दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा अधिक यथार्थोन्मुखी हुआ, वह जीवन की समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने में व्यस्त हो गया, पर वास्तविक समाधान तो वह 'कामायनी' में ही प्रस्तुत कर सका। 'झरना' काल की साधना 'कामायनी' में जाकर पूर्ण हुई। उसमें लेखक अवसाद और दुःखवाद से ऊपर उठकर आनन्द में पहुँचा है। वहाँ पर उसने जीवन की समस्याओं का चिरन्तन समाधान प्रस्तुत किया है। उसी में कवि ने सामंजस्य के सिद्धान्त की स्थपना की है। कवि ने रोमांस का पल्ला न छोड़ते हुए भी जीवन को प्रगतिशील एवं आशामय संदेश दिया है। इस संदेश का मूल आधार आध्यात्मिक लोक-चेतना है। प्रसादजी मूलतः आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी कवि हैं। पर उनके आध्यात्म का जगत् के यथार्थ से विरोध नहीं सामंजस्य है। इसी से वे मानव के शाश्वत स्वरूप का चित्रण कर सके हैं। यहाँ उनकी प्रगतिशीलता और यथार्थोन्मुखता है।

'कामायनी' प्रसादजी की अन्तिम एवं सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह उनकी काव्य-साधना का पूर्ण परिपाक है। इसमें कवि ने मनु और श्रद्धा के बहाने नारी और पुरुष के शाश्वत स्वरूप का चित्रण किया है। इसमें मानव के मूल मनो भावों का काव्यमय चित्र है। इसमें मनोवैज्ञानिक रूपक के द्वारा आनन्दवादी दर्शन की स्थापना हुई है। विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति श्रद्धा द्वारा मानव की बौद्धिक रागात्मक एवं क्रियात्मक वृत्तियों में सामंजस्य स्थापित होता है, तथा ये सब आनन्दमय हो जाती है। रागात्मिका वृत्ति श्रद्धा ही मानव को कल्याण के मार्ग पर ले जाती है। इड़ा या बुद्धि-वृत्ति मानव को भौतिकवादी एवं हेतुवादी बनाकर हमेशा चंचल रखती है। इससे मानव उद्विग्न ही रहता है। मनुष्य को वास्तविक आनन्द रागात्मिक वृत्ति के आश्रय से ही प्राप्त होता है। यही वृत्ति सब क्रियाओं में मूल प्रेरक शक्ति है। पर श्रद्धा के द्वारा अनियन्त्रित

तथा बुद्धि वृत्ति से संम्पृक्त रसने से रागात्मिका वृत्ति मनुष्य को उन्मुक्त भोग में प्रवृत्ति कर देता है। पर श्रद्धा के संयोग से यह प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के सामंजस्य का मार्ग बन जाता है। इसी से मानव की सब समस्याओं का समाधान होता है। इसमें व्यवहार और अध्यात्म दोनों का समन्वय हुआ है। 'कामायनी' आधुनिक काल की सर्वोत्कृष्ट सांस्कृतिक रचना है। इसमें कविता दर्शन और मनोविज्ञान का जैसा सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है तथा प्रसादजी की प्रौढ़ प्रतिभा का परिचायक है।

श्री सुमित्रानन्दन पंत—

पन्तजी छायावाद के जन्मदाताओं में से अग्रगण्य तथा इस धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, परिवर्तन की आकांक्षा तो महायुद्ध के पहले से ही विद्यमान थी, पर यह परिवर्तन युद्ध के बाद ही साकार हो पाया। इसी दृष्टि से प्रसादजी ने यद्यपि पहले ही नवीन क्रान्ति का संदेश दे दिया था, पर कविता के क्षेत्र में इस युगान्तर का शिलान्यास पन्तजी के 'पल्लव' से ही माना जाना चाहिए। 'पल्लव' ही पन्तजी की प्रथम प्रौढ़ रचना है। इसमें संगृहीत कवितायें तो नूतन स्वर से झंकृत हैं ही, इसकी भूमिका भी काव्य-सम्बन्धी रूढ़िवादी धारणाओं को चुनौती दे रही है। इसमें हम नूतन काव्य-धारणाओं की स्थापना का सूत्रपात देखते हैं। पन्तजी ने काव्य के प्रयोजन, वर्ण्य-विषय आदि की स्थूलता के साथ भाषा की जड़ सीमाओं का खण्डन करके उसकी सूक्ष्म व्यंजना-शक्ति के उद्घाटन की विस्तृत संभावनाओं तथा प्रक्रियाओं पर भी विचार किया है। पन्तजी ने अपनी आगामी रचनाओं में इसी पद्धति का अनुसरण करके खड़ी बोली की भाव-व्यंजना की शक्ति में विस्तार भी किया है। उसकी कर्कशता का स्थान माधुर्य, रमणीयता एवं संगीतात्मकता ने ले लिया।

भाषा के क्षेत्र में इस नवीन प्रगति का श्रेय सबसे अधिक पन्तजी को ही है।

कल्पना पन्तजी के काव्य की प्रमुख विशेषता है। उन्होंने अप्रस्तुत-विधान में, अलंकार आदि के नियोजन में ही कल्पना का प्रयोग नहीं किया है, अपितु उनके काव्य में अनुभूति एवं वर्ण्य-विषय पर भी कल्पना का आवरण है। छायावाद में कवि की वैयक्तिक अनुभूति, उसकी शृंगारी भावना को अभिव्यक्ति मिली है। लेकिन सामाजिक संकोच के कारण उसकी यथार्थ एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति में बाधा थी। छायावाद की अत्यधिक लाक्षणिकता तथा प्रतीकों की बहुलता का यह भी एक मुख्य कारण है। उन्हीं के आवरण में कवियों ने अपनी बात कही है। छायावाद के उत्तरार्द्ध में यह संकोच धीरे-धीरे कम हो गया और अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में अपेक्षाकृत यथार्थता के दर्शन होने लगे। पंतजी के कवित्व में भी विकास का यह सूत्र स्पष्ट है। पर पन्तजी व्यक्तिवादी धारा के कवियों की तरह प्रकृतवाद (Naturalism) को नहीं अपना सके हैं। इसलिए उनकी कविता में सर्वत्र ही कल्पना का आवरण है। वह क्रमशः झीना अवश्य होता गया है, कहीं-कहीं बौद्धिकता अथवा अनुभूति की गहराई के कारण पन्तजी की कविता में यथार्थता के भी दर्शन हो जाते हैं।

पन्तजी के प्रारंभिक काव्यों के दो ही प्रधान वर्ण्य-विषय हैं, प्रकृति-चित्रण, और शृंगार-भावना। उनका संयोग शृंगार कल्पना के आवरण के कारण साधारणतया संयमित और पवित्र ही है। उसमें श्रांगारिक अनुभूति की मादकता का नग्न रूप नहीं, अपितु व्यंजनात्मक है। प्रकृति से गृहीत उपमानों के माध्यम से व्यक्त होने के कारण इनमें अनुभूति की मार्मिकता रहते हुए भी ऐन्द्रिक विकार नहीं हैं। पन्तजी का वियोग-वर्णन तो कहीं कहीं कल्पना के आवरण से मुक्त होकर अधिक यथार्थ एवं सहज

हो गया है; इसलिए उसमें संयोग की अपेक्षा मार्मिकता भी अपेक्षाकृत अधिक है। पन्तजी का शृंगार-वर्णन लौकिक हो है, पर कहीं-कहीं आध्यत्मिक ऊँचाई का भी स्पर्श करता है।

पन्तजी बाल्यकाल से हो प्रकृति के क्षेत्र में पले हैं, इससे उनके हृदय में प्रकृति के प्रति अत्यधिक अनुराग है। उन्हें प्रकृति अपने एकांकी जीवन की चिर-सहचरी प्रतीत होती हैं। कवि उससे जीवन की प्रेरणा ग्रहण करता है। कवि का मन प्रकृति की रमणीयता में खूब रमा है। पन्तजी ने प्रकृति के मधुर रूप का ही अधिक चित्रण किया है। कवि ने प्रकृति के वस्तून्मुखी चित्र की अपेक्षा उसके मानव-सापेक्ष रूप का अधिक चित्रण किया है। पन्तजी ने प्रकृति का मानवीकरण किया है। उनमें वे मानवीय भावनाओं के दर्शन करते हैं। उनकी प्रकृति चेतन है। कहीं-कहीं उनकी प्रकृति आध्यात्मिक संस्पर्श प्राप्त करके रहस्यवाद को सीमा तक पहुँच जाती है। प्रकृति के प्रति आधुनिक सभी कवियों की अपेक्षा पन्तजी के हृदय में अधिक आकर्षण है, पर उनका प्रकृति चित्रण भी नितान्त निर्लेप-भाव का वस्तून्मुखी नहीं हो पाया है। वह चित्रण भी व्यक्ति-निष्ठ ही कहा जा सकता है।

पन्तजी के विचार, उनकी भाव-धारा तथा कृतित्व विकास-शील हैं। प्रारंभ में प्रकृति के रमणीय रूपों के प्रति जो आकर्षण पन्तजी के हृदय में था, वही परवर्ती रचनाओं में मानव के प्रति हो गया। प्रारंभ की भावुकता, और कल्पनाशीलता का स्थान परवर्ती अनुभूति की सजीवता एवं यथार्थता ने ले लिया। पन्तजो में धीरे-धीरे भावात्मकता के स्थान पर बौद्धिकता की प्रधानता होती गई है। 'गुंजन' में पन्तजी का दृष्टिकोण जीवन के प्रति पहले की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी है। वे जीवन के सुख-दुःख हर्ष-विषाद का सहर्ष स्वागत करते हैं। इसमें उनके जीवन-सम्बन्धी बिचार अत्यन्त व्यापक है। वे जीवन को जन्म और मृत्यु के द्वारा सीमित वस्तु नहीं

मानते हैं। उन्होंने उसको व्यापक और शाश्वत माना है। पन्तजी ने जलधारा के रूपक से अपने मन्तव्य को स्पष्ट किया है। जन्म और मृत्यु इस जीवन-धारा के दो किनारे मात्र हैं। उनके जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संस्पर्श भी है। 'ग्राम्या' आदि में पन्तजी ने जीवन के निम्नस्तर का चित्रण किया है। उसमें तो वे और भी यथार्थवादी है। शोषित मानव के प्रति उनका सहानुभूति-मय दृष्टिकोण है। इन रचनाओं में पंतजी की शैली भी यथार्थवादी हैं। उसमें छायावाद की लाक्षणिकता, कल्पनाशीलता और उक्ति वैचित्र्य नहीं है। वह बाच्यार्थ के अधिक निकट है। पन्तजी इन कविताओं में समाजवाद की ओर उन्मुख प्रतीत होते हैं। उन्होंने साम्यवादी विचार धारा का स्वागत भी किया है। इसी कारण से कुछ आलोचक इनके इस झुकाव में मार्क्सवादी विचार-धारा के दर्शन करने लगते हैं। पर जड़वादी मार्क्स-दर्शन पन्तजी की प्रकृति के अनुरूप नहीं प्रतीत होता है। वे उसके साम्यवाद को नहीं अपना सकते हैं। उन्होंने उस पर भी आध्यात्मिकता का रंग चढ़ा दिया हैं। पन्तजी की आधुनिकतम रचनाओं में दार्शनिकता का स्वर और भी प्रबल हो गया है। उन पर अरविन्द के दर्शन का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। उनकी ये कवितायें भाव के क्षेत्र से बुद्धि की ओर अग्रसर हुई हैं। ये कवितायें बिचारों से अधिक बोझिल है, अतः उनमें पहले की अपेक्षा कवित्व की कमी हो गई है। इन्हें आलोचक कविता की अपेक्षा गद्य-गीतों की कोटि में रखना अधिक ठीक समझते हैं। पन्तजी के विकास की यही सरणी है। वे कल्पना से अनुभूति तथा भावात्मकता को अपनाते हुए बुद्धि-प्रधान हुए हैं। पन्तजी छायावाद से समाजवाद की ओर बढ़ते हुए आध्यात्मिकता को अपना रहे हैं। उनके प्रतीकों में बौद्धिक व्यंजना की प्रधानता होती गई है। अनेक कबिताओ को समझने के लिये कवि की

व्याख्या भी अपेक्षित है। लोकसामान्य भावभूमि के स्थान पर चिन्तन की विचित्रता का प्राधान्य होने के कारण ऐसी रचनाओं में काव्य के अनिवार्य तत्त्व प्रेषणीयता की कुछ न्यूनता भी आगई है।

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—

निरालाजी छायावाद की बृहत्त्रयी में से एक हैं। काल-क्रम की दृष्टि से ये पन्तजी से कुछ पूर्व हिन्दी-साहित्य में प्रविष्ट हुए थे। पर ये पन्तजी के समान लोक-प्रिय नहीं हो सके, उसके कई कारण हो सकते हैं। उनमें से एक प्रमुख कारण है इनकी कविता की बौद्धिक प्रखरता तथा दार्शनिक गम्भीरता। बुद्धि-तत्त्व तो निराला जी की कविताओं की प्रमुख विशेषता तथा उनकी प्रधान देन ही है। निरालाजी का जन्म तथा शिक्षा दीक्षा बंगाल में ही हुई थी, इसलिए उन्हें बंगला-साहित्य के निकटतम सम्पर्क में रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। बंगला साहित्य के अध्ययन का उनके व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव भी पड़ा है। वे बंगला-साहित्य की स्वच्छन्दतावादी तथा रहस्यवादी धारा के गहरे संस्कारों के साथ हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में आये। इसलिए उनकी कविता की एक प्रमुख विशेषता स्वच्छन्दता प्रेम भी है।

आधुनिक हिन्दी-कवियों में निरालाजी सबसे अधिक स्वच्छन्दतावादी प्रकृति के हैं। उन्होंने काव्य के सभी क्षेत्रों में स्वच्छन्दतावाद की घोषणा की है। जो गतानुगतिक मान्यतायें कविता को संकुचित सीमाओं में बाँध कर उसके स्वाभाविक विकास-मार्ग को अवरुद्ध तथा उसके प्रकृत स्वरूप को आवृत कर देती हैं, उनका निरालाजी ने तीव्र विरोध किया है। छन्द और कविता को एक मानने की प्रवृत्ति का खण्डन करने के लिए ही निरालाजी ने मुक्त छन्दों की कल्पना की है। निरालाजी संगीत को कविता की रमणीयता तथा प्रेषणीयता के लिए अपरिहार्य तत्व

मानते हैं तथा छन्द को उसका सक्षम माध्यम समझते हैं, इसीलिए उन्होंने छन्दहीनता का नहीं छन्दों के मुक्त प्रयोग का समर्थन किया है। इसमें उसका अभिप्राय कवि की वैयक्तिक अनुभूति को प्राधान्य देने तथा छन्द की जड़ कारा को अस्वीकार करके उसकी अनुभूति की दृष्टि से अनुपयुक्तता सिद्ध करने में ही है। निरालाजी वर्ण्य-विषय के चुनाव तथा पात्र-कल्पना में भी गतानुगतिक नहीं है। शूर्पणखा का मानवी रूप चित्रित करने में उन्होंने स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण को ही अपनाया है। बुद्धितत्व कविता का मेरुदण्ड है, उसी के चारों ओर कल्पना और भावना द्वारा काव्य के शरीर का निर्माण होता है। बुद्धितत्व का आधार लेकर ही कल्पना और भावना खड़ी होती है। रीतिकाल की कविता में से बुद्धि तत्व प्रायः लुप्त सा हो गया था। इतिवृत्तात्मक कविता भी इस तत्व को काव्य में समुचित स्थान प्रदान करने में असफल रही। निरालाजी ने बुद्धितत्व को इतना प्राधान्य देकर काव्य के प्रकृत स्वरूप की प्रतिष्ठा करने की अपनी आकांक्षा को ही व्यक्त किया है। इसके द्वारा भी उन्होंने स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा को ही प्रगति प्रदान की है।

निरालाजी दार्शनिक कवि हैं। उनकी दार्शनिकता का आधार केवल ग्रन्थों का अध्ययन नहीं है, पर वे तो प्रकृति से ही दार्शनिक हैं। उनका अद्वैत में दृढ़ विश्वास है। उस एक तत्व को वे शाश्वत ज्योति मानते हैं। निरालाजी इस शाश्वत ज्योति के सर्वत्र जड़ और चेतन में सम्पूर्ण जगत् के दर्शन करते हैं। इसी विराट्-सत्ता को निरालाजी अनेक नामों से पुकारते हैं। 'श्यामा' 'अतीत' आदि नामों से कवि इसी का संकेत कर रहे हैं। निरालाजी विश्व की प्रत्येक वस्तु का उसी विराट्-सत्ता में पर्यवसान मानते हैं। इस प्रकार निरालाजी का दृष्टिकोण पूर्णतः आध्यात्मिक है।

निरालाजी की प्रारंभिक कविताओं में तो दार्शनिक तथ्यों की

प्रमुखता रही। उस समय उसकी वाणी में ओज था पर धीरे-धीरे उनका छन्द-विधान संगीत और भावात्मकता को प्रश्रय देता हुआ मधुर होता गया है। उनके 'परिमल' की कविताओं में बुद्धितत्व तथा संगीत का सुन्दर मिश्रण है। 'बादलराग' 'यमुना' आदि कविताओं में बुद्धि तथा भावना का बहुत मधुर मिश्रण हुआ है। इसके बाद उनके गीतों का युग आता है। इन गीतों में कुछ दार्शनिक तथा अनेक प्रेम और शृंगार-सम्बन्धी हैं। दार्शनिक गीतों में बुद्धि तत्व तथा भावना का सामंजस्य पहले की अपेक्षा भी कहीं अधिक रमणीय हो गया। इन गीतों में निरालाजी मधुर चित्र उपस्थित करने में बहुत ही सफल हुए हैं। शृङ्गार सम्बन्धी चित्रों में कहीं भी असंयम, दुर्बलता तथा ऐन्द्रिक विकार के दर्शन नहीं होते हैं। निरालाजी के गीतों में आलंकारिकता की वृद्धि हुई और इससे पहले की सी सहज स्वच्छन्दता नहीं रह सकी। निराला में कथा सूत्र को आश्रय लेने की भी प्रवृत्ति है। उनकी प्रायः सभी उत्कृष्ट कविताओं में कथा का क्षीणक सूत्र मिलता है, जो कवि की गहरी अनुभूति के तीव्र आवेगों का ग्रथित किये रहता है। निरालाजी की यह विशेषता उन्हें छायावाद के पन्त आदि अन्य कवियों से अलग करती है। निरालाजी संगीत के अच्छे ज्ञाता है, इसलिए उन्होंने अपनी काव्य-भाषा का परिमार्जन करके उसे संगीतात्मकता प्रदान की है। वे अनुप्रास आदि का प्रयोग भी इसीलिए करते हैं।

निरालाजी की प्रतिभा बहुमुखी है। उन्होंने कहानी, उपन्यास, निबन्ध और आलोचनायें भी लिखी है। सौष्ठववादी आलोचना के स्वरूप-निर्माण में जो छायावादी युग की ही एक देन है निरालाजी ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। निरालाजी ने अपने उपन्यास और कहानियाँ में मृदुल प्रेम का ही चित्रण किया है। ये सभी नायिका-प्रधान रचनायें हैं। इनमें नारी के सुशिक्षित एवं

सुसंस्कृत स्वरूप का चित्रण हुआ है। प्रेम ही इन नारियों का सर्वस्व है। इनका वातावरण रोमेण्टिक एवं कवित्व-मय है। घटनाओं की अपेक्षा चरित्र का अधिक महत्व है। लेखक उनके सुसंस्कृत एव भावमय व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के लिए ही घटनाओं की उद्भावना करता है। घटनायें उनके इस व्यक्तित्व को केवल प्रकाश में ला देती हैं, कोई नवीन परिवर्त्तन नहीं कर पाती हैं। उपन्यास और कहानियाँ में उन्होंने रूढ़िवादी संकुचित दृष्टिकोण पर कठोर आघात किया है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि निरालाजी का भावुक, दार्शनिक एवं स्वच्छन्द व्यक्तित्व है, उसी की अभिव्यक्ति कविता, कहानी, उपन्यास, और निबन्ध आदि में हुई है। बुद्धितत्व उनके कृतित्व का मेरुदण्ड है, इसलिए उसकी प्रौढ़ता भी उनके साहित्य की रमणीयता का एक प्रधान तत्त्व है।

सुश्री महादेवी—

महादेवीजी का साहित्य के क्षेत्र में उस समय प्रवेश हुआ जब हिन्दी-साहित्य में छायावाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी तथा वह धारा अपने पूर्ण वैभव के साथ तत्कालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति एवं चेतना बन कर विराज-मान थी। महादेवीजी इस नूतन चेतना से प्रभावित हुई है, उन्होंने भी नवीन काव्य-पद्धति में ही काव्य-सर्जन प्रारंभ किया। पर तब भी उनकी काव्य-साधना छायावादी काव्य-धारा में पूर्णतः अन्तर्भूत नहीं हो पाती है। वह छायावाद की सीमाओं का स्पर्श करती हुई उसकी परिधि से बाहर निकल जाती है। महादेवीजी का प्रकृत क्षेत्र रहस्यवाद है, छायावाद नहीं। महादेवीजी के काव्य की विशेषताओं को समझने के लिए हमें छायावाद और रहस्यवाद के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट समझ लेना पड़ता है। 'छायावाद' के प्रसंग में हम छायावाद के सम्बन्ध में फैली दो एक भ्रान्तियों का निराकरण कर चुके हैं।

छायावाद और रहस्यवाद को एक ही मानना अथवा छायावाद को केवल शैली की वस्तु तथा रहस्यवाद को केवल वर्ण्य-विषय पर अधिष्ठित मानना—ये सभी असमीचीन एवं भ्रान्त दृष्टिकोण है। इसी तरह छायावाद का आध्यात्मिकता अथवा दार्शनिकता से कुछ भी सम्बन्ध न मानना भी ठीक नहीं है। छायावाद प्रकृति और मानव के सौन्दर्य के सम्बन्ध में आध्यात्मिक दृष्टिकोण का स्वागत करता है, पर वह तब भी रहस्यवाद से सैद्धान्तिक आधारों पर भिन्न है। यह तो मानी हुई बात है कि काव्य में जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक संकेत मिलते हैं, वे सभी रहस्यवाद के अन्तर्भूत नहीं है। रहस्यवाद का अपना पृथक् क्षेत्र है। इसलिए रहस्यवाद के स्वरूप की व्याख्या कर लेनी आवश्यक है।

परम आनन्दमय, तथा परम प्रेममय दिव्य एवं अलौकिक चेतन सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करने तथा उसकी मानव और प्रकृति-समस्त विश्व में चलने वाली शाश्वत लीला का रसास्वाद करने की जीवात्मा की आकांक्षा की अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद है। रहस्यवाद में लीला-निकेत चिरंतन प्रिय के प्रति दृढ़ विश्वास अपेक्षित है। रहस्यवाद में अपरोक्ष अनुभूति द्वारा 'अहं' का, जीवात्मा का,) 'इदं' के (जगत् के) साथ समनवय हो जाता है। रहस्यवादी सम्पूर्ण विश्व में, सम्पूर्ण प्रकृति में चैतन्य के दर्शन करता है। कण-कण में उसी अखंड और अव्यक्त को व्याप्त देखता है; प्रत्येक कण को उसी का विलास समझता है। सुख-दुःख के सम्बन्ध में रहस्यवादी का दृष्टिकोण आध्यात्मिक हो जाता है। वह इन दोनों को उसी अव्यक्त परम आनन्द सत्ता में पर्यवसित समझता है। छायावाद का आध्यात्मिक दृष्टिकोण इतना व्यापक नहीं होता है। छायावाद सूक्ष्म और व्यक्त सौन्दर्य का उपासक है, रहस्यवादी सूक्ष्म एवं अव्यक्त सौन्दर्य का। छायावादी में प्रकृति मानव के समान ही चैतन्य के दर्शन करता है, वह उसे व्याप्त परम

चेतन सत्ता का विलास नहीं समझता। जहाँ वह प्रकृति को अखंड एवं अव्यक्त सत्ता का स्वरूप मात्र अनुभव करने लगता है, वहाँ वह रहस्यवाद के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। छायावाद प्रकृति को उसी प्रकार चेतन समझता है, जैसे एक व्यक्ति दूसरे को। यह एक आत्मा का दूसरी आत्मा से सम्बन्ध है; आत्मा का परमात्मा से नहीं। रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित होता है। रहस्यवाद में चैतन्य सत्ता का अपरोक्ष ज्ञान, दृढ़ विश्वास अपेक्षित है। छायावाद में चैतन्य की परोक्ष एवं बौद्धिक प्रतीति मात्र से काम चल जाता है। छायावादी में प्रकृति पर चैतन्य का आरोप होता है, पर रहस्यवादी विश्व और प्रकृति में चैतन्य की अखंडता की अनुभूति करता है। छायावाद और रहस्यवाद का यही सैद्धान्तिक भेद है। इस दृष्टि से महादेवी पूर्णतः रहस्यवादी कही जा सकती है।

रहस्यवाद काव्य-क्षेत्र की अत्यन्त प्राचीन वस्तु है। अखण्ड और अव्यय चेतन सत्ता के परम आह्लादमय स्वरूप का जैसा चित्रण उपनिषदों में हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी-साहित्य में प्रारम्भ से ही रहस्यवादी प्रवृत्ति के कवि हुए हैं। कबीर आदि निर्गुण-सम्प्रदाय के कवियों को काव्य की अन्य-प्रवृत्तियों की तरह रहस्यवादी प्रवृत्ति भी परम्परा से प्राप्त हुई थी। 'सिद्ध-साहित्य' में इस प्रवृत्ति के प्रौढ़ रूप के दर्शन होते हैं। यह निर्गुण निराकार की उपासना की पद्धति है, जिसके आह्लाद-तत्त्व में सारा विश्व, उसके सम्पूर्ण सुखदुःख की तरंगों का अन्तर्भाव है। रहस्यवाद की दूसरी परम्परा पश्चिम से सूफी लोगों के साथ आई। प्रेम-मार्गी भक्त-कवियों का रहस्यवाद दूसरी परम्परा का है। सूफी कवियों ने प्रेम के प्रतीक तथा प्रकृति-चित्रण के माध्यम से उस अव्यक्त परोक्ष सत्ता के प्रति प्रगाढ़ प्रेम की व्यंजना की है। वे उस प्रेम-सत्ता की लीला का आनन्द लेते हुए उस अखण्ड सत्ता के

साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। सूफी कवियों ने परोक्ष सत्ता के प्रति अपनी प्रणय की अनुभूति की व्यंजना कथानक के आवरण में की है। कहीं कहीं कथा के निर्वाह की चेष्टा के कारण इन कवियों को रहस्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति में कठिनाई भी हुई है। पर फिर भी इन कवियों ने परोक्ष-सत्ता के प्रति रहस्यात्मक भावना के सच्चे स्वरूप का चित्रण किया है। सगुण भक्तों में भी कहीं-कहीं रहस्यवादी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। पर सगुण भक्ति मार्ग रहस्यवाद की सीमाओं के बाहर ही रह जाता है। उसमें अव्यक्त सौंदर्य-सत्ता को व्यक्त स्वरूप प्रदान किया जाता है। यद्यपि सगुण भक्त अपने चरित्रनायक के दिव्य एवं आलौकिक रूप की ओर संकेत करता रहता है, पर तब भी वह काव्य अव्यक्त और परोक्ष सत्ता के प्रति प्रेम व्यंजित करने वाला काव्य नहीं कहा जा सकता है। उसमें निराकार को सगुण एवं मधुरतम स्वरूप प्रदान करके साकार स्वरूप दे दिया जाता है। इसमें कवि अपने आराध्य देव के व्यक्त लोलाओं वाले स्वरूप के प्रति आत्मनिवेदन करता है। वह उन सब पर आध्यात्मिकता का आवरण चढ़ा देता है, उन सब लीलाओं के अन्तस्तल में आध्यात्मिकता विराजमान रहती है, तब भी वह काव्य रहस्यवाद के प्रकृत क्षेत्र की वस्तु नहीं हो पाता है। 'राम' आदि एक दो प्रसङ्गों के अतिरिक्त सगुण भक्ति-काव्य में स्पष्टतः रहस्यवाद की प्रवृत्ति के दर्शन प्रायः नहीं होते हैं।

आधुनिक काल में रहस्यवादी प्रवृत्ति के दर्शन छायावादी कवियों में ही मिलते हैं। इस प्रवृत्ति की दो मूलभूत प्रेरणायें हैं एक जिज्ञासा और दूसरी वेदना। इन्हीं दो कारणों से आधुनिक कवियों ने परम प्रेममय, आनन्दमय, अखण्ड, अव्यय चेतन सत्ता की कल्पना की है। इन्हीं से उन्हें विश्व के कण कण में इस व्यापक सौंदर्य सत्ता की अखण्डता प्रतीति हुई है। जिज्ञासा के

मार्ग से प्रसादजी उस अव्यक्त सत्ता के प्रति रहस्यात्मक अनुभूति तक पहुँचे हैं तथा वेदना से महादेवीजी। आधुनिक हिन्दी-साहित्य की रहस्यवादी काव्य-धारा के ये ही दो प्रधान कवि हैं। इसलिए इस काल की प्रमुख रहस्यवादी भावना का अन्तर्भाव प्रकृति के रहस्यवाद में ही हो जाता है। प्राचीन कवियों की रहस्यवादी भावना का आधार साधना और अनुभूति हैं, पर आधुनिक कवियों में इनका अभाव है। वह बुद्धि-वृत्ति द्वारा जनित रहस्य भावना है। इसलिए इसमें पहले की सी मार्मिकता नहीं है।

ऊपर हम कह चुके हैं कि महादेवीजी की रहस्य-भावना वेदना जनित है। वे प्रसादजी की तरह विराट सत्ता की नहीं अपितु प्रियतम के कोमल स्वरूप की कल्पना करती हैं। महादेवीजी ने परोक्ष अव्यक्त-सत्ता पर मधुर व्यक्तित्व का आरोप किया है। इसलिए वे भक्ति-भावना के अधिक समीप प्रतीत होती हैं। उनमे प्रसादजी की तरह परोक्ष सत्ता से तादात्म्य स्थापित करने की आकांक्षा की अपेक्षा करुणा और भक्ति-भावना का अधिक प्राबल्य है। सम्पूर्ण सांसारिक सुख-दुःखों को एक ही चेतन सत्ता में पर्यवसित कर देने की आध्यात्मिकता के दर्शन भी महादेवीजी में नहीं होते हैं। महादेवीजी प्रारम्भ में प्रकृति के दृश्यों को अलग अलग एक व्यक्ति चेतन के रूप में ही देखती थी, यह छायावादी काव्य का दृष्टिकोण है। धीरे-धीरे उनकी प्रकृति के सब रूप एक ही वेदना को व्यक्त करने के साधक बन गये हैं। वेदना महादेवीजी की कविता के प्राण है। पहले यह रूढ़िगत तथा वैयक्तिक अधिक थी, धीरे-धीरे तप कर सुन्दर संवेदना का आश्रय लेकर निखर गई है। महादेवीजी के काव्य में धीरे-धीरे आध्यात्मिक अनुभूति का विकास हुआ है। 'सांध्यगीत' में उनकी प्रौढ़ आध्यात्मिकता के दर्शन होते हैं।

महादेवी जी में प्रकृति के एक-एक रूप का कल्पनापूर्ण वर्णन करने की प्रवृत्ति है। कल्पना का बाहुल्य उनके तथा छायावाद के काव्य की एक विशेषता है। पर महादेवीजी की कल्पना प्रायः क्लिष्ट हो जाती है। वे उनके द्वारा जो सौन्दर्यानुभूति जाग्रत करना चाहतीं हैं, वह कर नहीं पाती हैं। बाजपेयीजी ने इसका एक उदाहरण दिया है—

रजनी ओढ़े जाती थी, झिलमिल तारों की जाली।
उसके बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली॥

इस प्रभात के चित्र में उजियाली के रोने की कल्पना के साथ पाठक का तादात्म्य नहीं हो पाता है। यह दुरारूढ़ कल्पनामात्र रह जाती है। ऐसी पंक्तियाँ अभीप्सित सौन्दर्य का प्रभाव डालने में असमर्थ ही रहती हैं। महादेवीजी के काव्य में क्लिष्टकल्पना बहुत अधिक है। अनेक स्थलों पर उनकी पंक्तियों का अर्थ सहृदय पाठकों को भी अस्पष्ट ही रहता है।

महादेवीजी की अस्पष्टता के कुछ कारण हैं। सबसे प्रथम तो उनके काव्य का विषय ही ऐसा है, परोक्ष सत्ता की अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रतीकों के माध्यम से ही संभव है, इसलिए वह अन्य काव्यों की अपेक्षा अधिक अस्पष्ट तो होती ही है। दूसरे महादेवीजी अत्यन्त सूक्ष्मतर भावभूमि को अपने काव्य में उतारना चाहती हैं, जो उनके काव्य की अस्पष्टता को और भी बढ़ा देती है। उनकी रहस्यात्मकता और आध्यात्मिकता सर्वत्र भावना के साथ सामंजस्य नहीं रख पाई है। जहाँ उनके काव्य में भावना का अभाव होता है, वहाँ पर उनको अन्योक्ति-पद्धति का आश्रय लेना पड़ता है और उनकी अभिव्यक्ति दुरूह हो जाती है। कवि-हृदय की भावनायें जब बाहरी सरस रूपों में साकार होती हैं, तभी उनमें काव्य की उच्च संवेदनशीलता की सृष्टि संभव है, अन्यथा वे रूढ़िगत प्रतीकों का संकलनमात्र रह जाती है। महादेवीजी ने अपनी

रहस्य-भावना के लिए भाव-चित्र ही प्रस्तुत किये हैं, उनके व्यंजक रूप-चित्रों की कल्पना नहीं की। इससे उनके काव्य में अपेक्षित संवेदनीयता का प्रायः अभाव है। रहस्यवादी की सूक्ष्मतर अनुभूति स्वयं ही अस्पष्ट होती है, अगर उसकी अभिव्यक्ति के लिए रूढ़, दुरूह और अस्पष्ट उपमानों का भी प्रयोग हो जाता है तो कविता अपनी प्रेषणीयता ही खो देती है। ऐसी भावभूमि के लिए सहृदय-श्लाघ्य परिचित उपमानों के प्रयोग से ही काव्य उच्च संवेदनशीलता की सृष्टि कर सकता है। महादेवीजी में ऐसा प्रतीक-विधान कम मिलता है। प्रायः उनके प्रतीक रूढ़ हैं, इसलिए उनका काव्य अपेक्षाकृत स्पष्ट और दुरूह भी है। पर जहाँ कहीं उन्होंने रूढ़ उपमानों को छोड़कर सहज भावभूमि एवं सहज अभिव्यंजना का आश्रय लिया है, वहाँ पर उनकी कविता बहुत हृदय-स्पर्शी बन पड़ी है। ऐसे स्थलों में उनके काव्य में प्रौढ़ एवं सहृदय श्लाघ्य संवेदनशीलता है। नीचे महादेवीजी के काव्य से क्लिष्ट कल्पना, अस्फुट उपमान तथा सरस भावव्यंजना के क्रमशः तीन उदाहरण दिये जाते हैं।

क्लिष्ट कल्पना—

निश्वासों की नीड़ निशा का बन जाता जब शयनागार।
लुट जाते अभिराम छिन्न मुक्तावलियों के बंदनवार॥
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार।
आँसू से लिख लिख जाता है कितना अस्थिर है संसार॥

अस्फुट उपमान और दुरूह कल्पना

इसमें अतीत सुलझता अपने आँसू की लड़ियाँ।
इसमें असीम गिनता है वे मधुमासों की घड़ियाँ॥

* * * *

उच्छ्वासों की छाया में, पीड़ा के आलिंगन में,
निश्वासों के रोदन में इच्छाओं के चुम्बन में,
उन थकी हुई सोती सी, उजियाली की पलकों में॥

जो बिखर पड़े निर्जन में निर्भर सपनों के मोती।
मैं ढूँढ़ रही थी लेकर धुँधली जीवन की ज्योति॥

सरस कल्पना—

जाग-जाग सुकेशिनी री
अनिल ने आ मृदुल होले से शिथिल वेणी बंध खोले,
पर न तेरे पलक डोले, बिखरती अलकें झरे जाते
सुमनवर वेपिनी री।
छाँहमें अस्तित्व खोये, अश्रु से सब रंग धोये।
मदप्रभ दीपक सँजोये, पंथ किसका देखती तू
अलस स्वप्न निवेशिनी री।

ऊपर हमने छायावाद और रहस्यवाद के प्रमुख कवियों पर विचार किया है। पर आधुनिकतम साहित्य में छायावाद के अतिरिक्त भी अनेक प्रवृत्तियों का जन्म हुआ है। उन सभी प्रमुख प्रवृत्तियों की विशेषताओं पर ऊपर विचार हो चुका है। वहीं उनके प्रमुख कवियों के नामों का निर्देश भी कर दिया गया है। उनमें से अधिकांश कवि अब तक जीवित हैं तथा उनकी काव्य प्रवृत्तियों का विकास हो रहा है। उनमें से बहुतसों का तो व्यक्तित्व अभी स्थिर भी नहीं हुआ है। इसलिए उनपर अभी विचार नहीं किया जा सकता है। उनमें से कुछ की प्रवृत्तियों का निर्देश काव्य की धाराओं पर विचार करते हुए हो गया है। यहाँ पर कुछ कवियों के कार्यों की संक्षिप्त विवरण मात्र और दे दिया जाता है।

बाबू सियारामशरण गुप्त—

आप गुप्तजी के अनुज हैं। इनकी कविता छायावादी काव्य-धारा के वृत्त के बाहर की वस्तु हैं। इनके काव्य का स्वछन्द विकास हुआ है। 'मौर्य-विजय', 'बापू', 'आत्मोत्सर्ग,' 'आर्द्रा' और 'नकुल' आपके प्रसिद्ध खण्ड-काव्य तथा पाथेय, मृण्मयी, नोआखाली में

आदि इनकी स्फुट कवितायें है। गुप्तजी की विचार-धारा पर गाँधी-दर्शन का बहुत ही गहरा प्रभाव है। इन्होंने अपने काव्य में अहिंसा, प्रेम, करुणा सात्विकता आदि भावों को ही स्थान दिया है। उनके काव्य की आधार-भूमि विशुद्ध गाँधी-दर्शन से प्रभावित मानवतावादी है। मानव के प्रति किये गये अमानुषिक व्यवहारों से गुप्तजी का हृदय अत्यन्त विचलित हो जाता है। इन अमानुषिक अत्याचारों में कुचली हुई मानव की आत्मा की मुक्ति की कामना ही इनके काव्य का मूल संदेश है। इस संदेश में उन्होंने पवित्रतावादी दृष्टिकोण को अपनाया है। इसलिए सात्विकता इनके काव्य के प्राण है। अमानुषिक व्यवहारों के प्रति सजग होने के कारण तथा गाँधी-वादी प्रभाव को पूर्णतया आत्मसात् कर लेने के कारण इनके काव्य में शुरू से लेकर अन्त तक करुणा की एक धारा प्रवाहित है। इनके काव्य में चिंतन की अधिक प्रधानता है। भावात्मकता और कल्पना पर कवि के गम्भीर चिंतन ने नियन्त्रण कर रखा है। इनकी भाषा में गाम्भीर्य एवं स्वच्छता है, उक्ति-वैचित्र्य, कला-विलास और भाषा की तड़क-भड़क नहीं है।

गुरु भक्तसिंह भक्त—

'नूरजहाँ' आपकी प्रसिद्ध रचना है। इसमें मुगलकाल की प्रेम-कहानी है। इसमें रोमान्टिक उपन्यास की सी सजीवता और सरसता है। 'भक्त' जी के प्रकृति-चित्रण बहुत ही यथार्थ और मर्म-स्पर्शी हुए हैं। इनके प्रकृति-चित्रण की सी बारीकी अन्यत्र दुर्लभ है। आप ने और काव्य-ग्रन्थ भी लिखे हैं। विक्रमादित्य इनकी नवीनतम रचना है।

श्याम नरायण पाण्डेय—

आपकी प्रसिद्ध रचना 'हल्दी घाटी' है। इसके पहले आप कुछ छोटी-छोटी रचनायें प्रकाशित कर चुके थे। 'रिमझिम' 'माधवी'

आदि इनकी ऐसी ही रचनायें हैं। 'हल्दीघाटी' में इनकी प्रतिभा के प्रौढ़ रूप के दर्शन होते हैं। इसमें उन्होंने प्रताप की वीरता का बहुत ही ओजस्वी वर्णन किया है। युद्ध और उत्साह के वर्णन बहुत ही सुन्दर हुए हैं।

ये सभी द्विवेदी-युग की परम्परा का विकास करने वाले कवि हैं। इनके अतिरिक्त अनूप शर्मा; तुलसीराम दिनेश, पुरोहित प्रतापनारायण, सोहनलाल द्विवेदी आदि भी इसी कोटि के कलाकार हैं।

बच्चन—

छायावादी काव्य-धारा का जो विकास व्यक्तिवादी कविता के रूप में हुआ है, उसके प्रमुख कवि बच्चन हैं। मस्ती और उल्लास इनके काव्य के प्राण हैं। छायावादी काव्य में कहीं-कहीं जो मिथ्या आध्यात्मिकता और पवित्रता का आवरण था, उसके कारण काव्य में अनुभूति की सजीवता और उल्लास का अभाव हो गया था। छायावाद का कवि शृंगार-भावना को काव्य में स्थान तो देता था, पर उसकी स्पष्ट व्यंजना में हिचकता भी था। उसे व्यक्तिगत अनुभूतियों को काव्य में स्थान देने में उसे कुछ संकोच था, इसलिए वह उन पर लाक्षणिकता का गहरा आवरण चढ़ा देता था। व्यक्तिवादी कविता ने इन भावनाओं को स्पष्ट कहने का साहस बटोरा। बच्चन का हालावाद इसी अस्पष्टता तथा कृत्रिम आध्यात्मिकता का विरोध करता है। इनके काव्य में जीवन के उपभोग पक्ष की मार्मिकता और हृदयस्पर्शिता को स्थान मिला है। बच्चन ने जीवन के उल्लास का स्वागत किया है। जीवन में व्यक्ति के महत्व की प्रतिष्ठा की है। उमंग, उल्लास, मस्ती तथा व्यक्तिवाद इनके काव्य के प्रमुख स्वर हैं। बच्चन ने काव्य की भाषा में लाक्षणिक दुरूहता के स्थान पर सरलता तथा अनुभूति की मार्मिकता की पुनः प्रतिष्ठा की है। व्यक्तिवादी काव्य-धारा में इनके काव्य की विशेषताओं पर विशद विचार हो चुका है।

रामधारीसिंह दिनकर—

छायावादी काव्य-धारा के प्रत्याखान में बच्चन और भगवतीचरण वर्मा व्यक्तिवाद की ओर अधिक झुके। उनमें सामाजिकता का नितान्त अभाव नहीं है। उन्होंने उस व्यष्टि की भावनाओं को प्रमुखता दी है, जिससे समाज का निर्माण होता है। पर सामाजिक चेतना का जैसा मुखरित रूप दिनकर में मिलता है, वैसा इन कवियों में नहीं। इनके 'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य में सामाजिक चेतना की ही प्रमुखता है। इनके काव्य की दूसरी विशेषता उग्र राष्ट्रीय-भावना है। जिसमें विध्वंस का आह्वान करने में भी कवि घबराया नहीं है। इनके काव्य में जीवन की उमंग है, सौन्दर्य के आकर्षण का उल्लास है, पर शृंगार-भावना इनके काव्य में विकार नहीं उत्पन्न करती है। इनके उल्लास की प्रमुख अभिव्यक्ति मानव की रूढ़ियों और बन्धनों से मुक्ति दिलाने में हुई है।

हमने ऊपर देखा है कि छायावादी-काव्य-धारा की प्रतिक्रिया अनेक रूपों में हुई है। इसके परिणामस्वरूप जिन काव्यधाराओं का विकास हुआ है, उनकी विशेषताओं पर विचार हो चुका है। उन धाराओं के प्रमुख कवियों के नामों तथा विशेषताओं का भी निर्देश वहीं कर दिया गया है। छायावाद की भाषा में जो वक्रता, वैचित्र्य और अस्पष्टता आगई थी, उससे कविता के सहज विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया था। भाषा के इस स्वरूप का प्रत्याखान स्वयं छायावादी कवियों ने भी किया। प्रसाद, पंत आदि की परिवर्ती रचनाओं की भाषा इसका प्रमाण है। भाषा के सहज सौन्दर्य के विकास के लिए छायावाद के दूसरे खेमे, द्विवेदी युग की काव्य-धारा, राष्ट्रीय भावना के कवियों ने छायावादी भाषा की अस्पष्टता का वास्तविक प्रत्याखान किया। उन्होंने भाषा की व्यंजना-क्षमता का विकास भी किया है, उसे माँज कर अधिक प्रौढ़

भी कर दिया तथा साथ में ही उसमें से छायावादी अस्पष्टता भी दूर करदी। ऊपर हमने कुछ ऐसे कवियों पर विचार किया है। उनके अतिरिक्त रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, आरसीप्रसाद सिंह, नैपाली, मोहनलाल मेहता आदि ने भी इस क्षेत्र की प्रगति में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है।

———

मुद्रक—नरसिंह नाथ भार्गव बी० एस-सी०, दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, दरेसी नं० २, आगरा।